समाजवाद

लेखक—

श्री सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक—

काशी विद्यापीठ, बनारस।

संवत्
२००४

प्रकाशक—

श्री विश्वनाथ शर्मा

मन्त्री, प्रकाशन विभाग

श्री काशी विद्यापीठ, बनारस ।

(समाजवाद विषयकी सर्वोत्तम पुस्तक होनेके कारण
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी ओरसे इसपर १२००) का
'श्री मंगलाप्रसाद' तथा ५००) का 'मुरारका'
पारितोषिक लेखकको मिला है)

मुद्रक—

पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,

भार्गव भूषण प्रेस,

गायघाट, बनारस ।

समर्पण

जगद्धर्ताऽपि यो भिक्षुः, भूतावासोऽनिकेतनः ।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः ॥

जो जगत्‌का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियोंको निवास देता है पर आप बे-घरका है, जो विश्व को ढँकता है पर आप नंगा रहता है, उसको बारम्बार प्रणाम है ।

उसको ही यह तुच्छ कृति समर्पित है ।

तिथिक्रम

इस पुस्तक में सर्वत्र विक्रम संवत्का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी सन् जाननेके लिए दी हुई संख्यामेंसे ५७ घटाना होगा।

—लेखक

विषय-सूची

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तकके तृतीय संस्करणकी भूमिका ८ वृश्चिक २००१ को लिखी गयी। उसके नौ महीनेके बाद आज चतुर्थ संस्करणकी भूमिका लिख रहा हूँ। इतनी जल्दी एक संस्करणका निकल जाना इस बातका प्रमाण है कि आज देश गम्भीर प्रश्नों पर गम्भीरतासे विचार कर रहा है। यह स्वाभाविक है। ज्यों ज्यों हम स्वराज्यके निकट पहुँच रहे हैं त्यों त्यों हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम इस बातका निश्चय करलें कि राष्ट्रीय जीवनकी भावी व्यवस्थाका क्या स्वरूप रखना चाहते हैं। इस निश्चयके लिए समाजवादके शास्त्रीय स्वरूप और दूसरे देशोंके, जहाँ समाजवादका प्रयोग हो रहा है, अनुभवको जान और समझ लेना अनिवार्य्य है।

तृतीय संस्करणमें कई नये विषयोंका समावेश किया गया था। इस बार उन विषयों पर तो विस्तृत विचार हुआ ही है, समयानुकूल कुछ नये विषय भी सम्मिलित किये गये हैं। भारत और समाजवाद शीर्षक अध्यायमें इसके पर्य्याप्त उदाहरण मिलेंगे। इसके अतिरिक्त मैं समूची पुस्तकको ही फिरसे देख गया हूँ और कई स्थलों पर संशोधन तथा सम्वर्धन किया गया है। इस सारे परिवर्तन करनेमें मेरा एकमात्र लक्ष्य यह रहा है कि पढ़नेवालोंको आजकलकी समस्याओंकी पृष्ठभूमिमें समाजवादके सिद्धान्त और अभ्यासका रूप अवगत करा सकूँ। कहाँ तक मुझे सफलता मिली है इसका निर्णय विज्ञ पाठक ही कर सकते हैं।

जालपादेवी, काशी
८ सिंह २००२

सम्पूर्णानन्द

तृतीय संस्करण की भूमिका

यह मेरे लिए गौरवकी बात है कि हिन्दी पाठक संसारने इस पुस्तकका आदर किया है। जैसा कि पहिले संस्करणकी भूमिकामें ही संकेत कर दिया गया था, मैं स्वयं उन लोगोमें हूँ जो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तको पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। बादको लिखी अपनी दो पुस्तकों, 'व्यक्ति और राज' तथा 'जीवन और दर्शन' में मैंने तत्तत् प्रसंगमें मार्क्सवादकी आलोचना भी की है और 'चिद्विलास'में अपने दार्शनिक विचारोंको, जिनका आधार शांकर अद्वैतवाद है, विस्तारसे प्रकट भी किया है। फिर भी मैं समझता हूँ कि यदि साम्राज्यशाही और शोषणका अन्त करके विश्वशान्ति स्थापित करना मनुष्यको अभीष्ट हो तो उसे किसी न किसी रूपमें समाजवादमूलक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करनी ही होगी। मार्क्सवादसे किञ्चित अस्वारस्य दिखलाते हुए भी मैंने 'व्यक्ति और राज'में इसी मतको व्यक्त किया है। जहाँतक प्रस्तुत पुस्तकका सन्बन्ध है, मेरा यही प्रयास था कि इसमें मार्क्सवादका शुद्ध रूप ही पाठकोंके सामने रखूँ। मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि किसी आलोचकको इस सम्बन्धमें आक्षेप करनेका अवसर नहीं मिला है।

पहिले संस्करणके निकलनेके बाद ही इसकी कुछ कमियोंकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया गया परन्तु जिस समय दूसरा संस्करण निकला उस समय मैं युक्तप्रान्तके कांग्रेस मन्त्रिमण्डलका अंग था और अवकाशकी कमीके कारण उन त्रुटियोंको दूर न कर सका। अब इसका अवसर

मिला है। समाजवाद नाम एक प्रकारसे मार्क्सवादके लिए रूढ़ि हो गया है फिर भी कई ऐसी विचारधाराएँ हैं जिनको समाजवादके ही अन्तर्गत माना जा सकता है। मार्क्सवादमें भी कुछ लोगोंको संशोधन या परिवर्तनकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। इन विषयोंका समावेश इस बार कर दिया गया है। एक परिशिष्ट जोड़कर मैंने संक्षेपमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि मेरे विचार कहाँ मार्क्स और एङ्गेल्सके मतसे नहीं मिलते।

आशा करता हूँ कि यह परिवर्धन पुस्तकको अधिक उपयोगी बनानेमें सफल होगा।

जालपादेवी, काशी
८ वृश्चिक २००१

सम्पूर्णानन्द

भूमिका

समाजवादपर पुस्तक लिखनेवालेके लिए पाठकोंसे क्षमा-याचना करनेकी आवश्यकता नहीं है। इधर कई वर्षोंसे जनताको इस विषयमें अभिरुचि रही है पर पिछले तीन वर्षोंमें यह अभिरुचि बहुत बढ़ गयी है। इसके पहले या तो यह थोड़ेसे विद्यानुरागियोंके मनोरञ्जनकी सामग्री था या कुछ तथोक्त अतिवादियोंकी बहकी बहकी बातोंका अंग था। लोग इन बातोंको सुन लेते थे पर ठीक ठीक समझ नहीं पाते थे। जो कुछ समझमें आता था वह विचित्र प्रतीत होता था, कमसे कम हमारे अनुदिनके प्रश्नोंसे तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं देख पड़ता था। रूसमें जो हो रहा था उसके गलत-सही समाचारोंने लोगोंको और भी घबरा और डरा दिया था। बस इतना कह देना पर्य्याप्त था कि अमुक व्यक्ति बोल्शेविक है। सारी जनता उसको सशंक दृष्टिसे देखने लगती थी।

धीरे धीरे यह अवस्था बदली। पिछले सत्याग्रह आन्दोलनके उपरामके बाद कांग्रेस समाजवादी दल स्थापित हुआ। उसने समाजवादको भारतीय राजनीतिकी जीवित धारा बना दिया। देशकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिने जनताको समाज-वादियोंकी बातें सुननेके लिए विवश किया। यद्यपि समाजवादका विरोध करनेवालोंकी कमी न थी परन्तु दलको अपने प्रचार-

कार्य्यमें बहुत बड़ी सफलता मिली। इधर कांग्रेसके वर्तमान राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरूके लेखों और भाषणोंसे इस दिलचस्पीमें और भी वृद्धि हुई है।

हिन्दीमें समाजवादपर कुछ पुस्तकें हैं समय समयपर पत्र-पत्रिकाओंमें लेख भी निकलते रहे हैं। इनके द्वारा लोगोंको इस विषयका ज्ञान हुआ है पर मैंने इस साहित्यके विषयमें एक बातका अनुभव किया है। जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमेंसे अधिकांशका लक्ष्य तात्कालिक राजनीतिक प्रचार रहा है। उन्होंने पूँजीशाहीके दोषों और जमीनदारी प्रथाकी बुराइयोंके ऊपर ज्यादा जोर दिया है। यह सर्वथा उचित था और इसमें उनको काफी सफलता मिली है। बहुतसे लोग अब इन बातोंको समझने लगे हैं और यह मानने लगे हैं कि इनको हटाकर किसी न किसी प्रकारकी समाजवादी व्यवस्थाको स्थापित किये बिना देशका और जगत्का कल्याण न होगा। पर एक खराबी भी हुई है। साधारणतः एक धारणा सी फैल गयी है कि समाजवादका इतना ही अर्थ है कि इन दोनों प्रथाओंका विरोध किया जाय। जो लोग समाजवादसे सहानुभूति रखने लग गये हैं उनमेंसे भी कुछ ऐसा समझते हैं कि पूँजीपतियों और जमीनदारोंके जालिम होनेके कारण समाजवादी उनके विरुद्ध हैं। जो लोग समाजवादके विरोधी हैं उन्होंने यह भ्रान्ति फैलानेकी भी पर्य्याप्त कोशिश की है कि समाजवादी भिन्न भिन्न वर्गोंको लड़ाना चाहते हैं, हिंसात्मक उपायोंसे जायदाद वालोंकी सम्पत्ति जब्त करनेका इरादा रखते

हैं, पुरानी संस्कृति, आचार-विचार, मजहब और परिवारके नियमों और बन्धनोंको हठात् तोड़ देनेपर तुले हुए हैं। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, पूँजीपति, वर्गयुद्ध आदि शब्द प्रचलित हो गये हैं और इधरसे उधर नासमझीके साथ फेंके फिरते हैं।

इसलिए इस बातकी आवश्यकता प्रतीत होती थी कि एक पुस्तक ऐसी लिखी जाय जिसमें इस विषयके तात्विक पहलुओंपर विचार किया जाय। कई मित्रोंका ऐसा ख्याल था। इसी उद्देश्यको सामने रखकर यह पुस्तक लिखी गयी है। सम्भवतः जो बातें इसमें आयी हैं वह अन्य पुस्तकोंमें, विशेषकर पत्रिकाओंके लेखोंमें, आ चुकी हैं। यह मेरा दावा भी नहीं है कि मैंने कोई नयी बात लिखी है परन्तु इन सब बातोंका समावेश यदि किसी एक हिन्दी पुस्तकमें हुआ है तो दुर्भाग्यवशात् मुझे उसका पता नहीं है। मैं दूसरी भारतीय भाषाओंकी बाबत कुछ नहीं कह सकता। मराठी की एक पुस्तक देखनेमें आयी है पर उस भाषाका परिष्कृत ज्ञान न होनेके कारण मैं उससे कोई लाभ न उठा सका।

दूसरी पुस्तकोंके अभाव, या उनसे अपनी अनभिज्ञता के कारण मुझे पारिभाषिक शब्दोंके सम्बन्धमें बड़ी कठिनाई पड़ी है। कुछ प्रचलित शब्दोंको तो छोड़ना पड़ा है—उदाहरणके लिए, कम्युनिज्मके लिए वर्गवादका प्रयोग मुझे बहुत ही गलत जचता है—पर बहुतसे नये शब्द गढ़ने पड़े हैं। इनमेंसे कुछके विषयमें मेरे मित्रोंको भी मुझसे मतभेद है। जैसे मैंने 'वेल्यू' के लिए 'अर्घ' और 'प्राइस'के लिए 'मूल्य' रचा है। इनमें अर्घ शब्द

सामान्य व्यवहारमें नहीं आता यद्यपि उसीसे निकला महार्घ, 'महँगा' के रूपमें प्रचलित है। कुछ मित्रोंकी राय थी कि मैं अर्घकी जगह मूल्य और मूल्यकी जगह कीमत लिखूँ। मैं इस परामर्शको इसलिए न मान सका कि आजकल मूल्य और कीमतका एक ही अर्थमें व्यवहार होता है अतः किसी किसी सन्दर्भमें अर्थ-विपर्य्यय होनेकी आशङ्का थी। नये शब्द में यह डर नहीं होता। ऐसे ही खयालोंसे प्रेरित होकर मैंने शब्द चुने हैं। संस्कृतसे सहायता लेनेमें मुझे सर्वथा औचित्य देख पड़ता है।

समाजवाद बहुत गम्भीर और व्यापक शास्त्र है। तीन सौ पृष्ठोंमें उसका ज्ञान करनेका प्रयास करनेवाला कालिदासके शब्दोंमें कह सकता है—

तितीर्षुर्दुस्तरम्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्

यह समझते हुए भी प्रयास करना पड़ा है। ऐसी दशामें मैंने यथासम्भव ऐसे विषयोंको चुना है जिनको मिलाकर साधारण प्रवेश हो जाय और शास्त्रकी गहनताका परिचय मिल जाय। यदि इसके आगे कुछ लोगोंको अध्ययन करनेका उत्साह बढ़ा तो मैं कृतकृत्य हूँगा। एक बार मेरा यह विचार हुआ कि पुस्तकके अन्तमें अध्येतव्य पुस्तकोंकी सूची जोड़ दूँ पर जिन पुस्तकोंके नाम इस सूचीमें आते वह सब अंग्रेजीकी हैं। ऐसी सूची कितने पाठकोंके काम आती यह कहना कठिन है। जो लोग अंग्रेजी जानते हैं और इस विषयके जिज्ञासु हैं उनको पुस्तकोंके नाम जाननेमें विशेष कठिनाई न होगी।

समाजवादके अन्तर्गत कई ऐसे विषय हैं जो स्वयं स्वतन्त्र शास्त्रोंकी मर्य्यादा रखते हैं। इनमें प्रमुख स्थान समाजवादके दार्शनिक आधारोंका है। इन आधारोंका पुस्तकके छठें अध्यायमें दिग्दर्शन कराया गया है। मैंने वहाँ यह भी दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कहीं कहीं यह विचारधारा भारतीय दार्शनिक विचार-धारासे टकराती है। कई लोगोंको, जो सामान्यतः समाजवादी कार्य्य-क्रमको पूरा पूरा स्वीकार करते हैं और इतिहासकी आर्थिक व्याख्यासे भी सहमत हैं, इसमें कुछ कमी प्रतीत होती है। ऐसे लोगोंका कर्तव्य होना चाहिये कि इस अङ्गकी पुष्टिकी ओर ध्यान दें और देखें कि कहाँतक इसके साथ आध्यात्मिकताका समन्वय हो सकता है। दर्शनके ऐसे बहुत विद्यार्थी हैं जिनकी बुद्धियोंपर बहुत पहले शाङ्कर अद्वैतवादकी छाप लग चुकी है और मनन द्वारा अविलेप्य हो गयी है। मैं स्वयं ऐसे ही लोगोंमें हूँ पर ऐसा समझता हूँ कि द्वन्द्व-न्याय और इतिहासकी आर्थिक व्याख्याका अद्वैतवादसे निसर्गतः विरोध नहीं है। इस पुस्तकमें मैंने इस सामञ्जस्यको दिखलानेका प्रयत्न नहीं किया है। यहाँ उसकी आवश्यकता भी न थी।

परन्तु दार्शनिक विचारोंके सम्बन्धमें इतना कहनेके बाद मैं इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रचलित साम्प्रदायिक व्यवस्था, धार्मिक दम्भ, झूठी भक्ति और धर्म्मोपजीवियों द्वारा सम्पन्नों और शक्तिशालियोंकी खुशामदकी बाबत मैंने जो कुछ लिखा है वह पूर्णतया मेरी निजी राय है। मेरा ऐसा खयाल

है कि मैंने आवश्यकतासे अधिक संयत भाषासे काम लिया है।

इस पुस्तकका भारतीय राजनीतिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है पर जिन लोगोंके लिए यह लिखी गयी है वह एक विशेष राजनीतिक और आर्थिक वातावरणमें रह रहे हैं। मुझे आशा है कि वह समाजवादको केवल बुद्धि-विलासका विषय न समझेंगे प्रत्युत इस बातपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे कि इसके द्वारा उनको पृथ्वीकी वर्तमान दुरवस्थाको सुधारने और मनुष्यों-को श्रुतिके शब्दोंमें वस्तुतः 'अमृतस्य पुत्राः' बनानेमें कहाँतक सहायता मिलती है। कार्य्यक्षेत्रमें प्रयुक्त होनेमें ही समाजवादकी सार्थकता है।

जालपादेवी, काशी
८ कन्या १९९३ } सम्पूर्णानन्द

समाजवाद

पहला अध्याय

मानव-जगत्

'समम् अजन्ति जनाः अस्मिन् इति' यह समाज शब्दका अर्थ है। जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गतिसे, एकसे, चलें वही समाज है। एक साथ या 'एकसे' चलनेका अर्थ फौजी सिपाहियोंकी भाँति किसी एक दिशामें क़दम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य तो यह है कि लोगोंकी, उन लोगोंकी जो समाजके अंग हों, परिस्थिति एकसी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एकसे हों। इसका यह अर्थ नहीं है कि लोग एक ही काममें लगे हों, ठीक एक ही खाना खाते हों, एक ही प्रकारका वस्त्र पहनते हों, हर बातमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका प्रतीक या छाया हो। ऐसा न तो सम्भव है, न उचित। पर यह सम्भव है कि सब लोगोंके प्रयत्न एक दूसरेके अपूरक हों, अर्थात् लोग भिन्न-भिन्न कामोंमें लगे हों पर उन सब कामोंके फलस्वरूप सबका कल्याण हो। कोई भी इतना समर्थ नहीं है कि सभी काम कर सके परन्तु यह सम्भव है कि कामोंका बँटवारा इस प्रकार हो कि चाहे कोई किसी भी काममें लगा हो, इन सब कामोंका एकमात्र परिणाम यही निकले कि सबका भला हो। यह तभी सम्भव है जब कि यह श्रमविभाग बुद्धिपूर्वक हो। सोच विचारकर यह निश्चय किया जाय कि सबके हितके लिए कौन-कौनसे काम होने

चाहिये और कौन-कौनसे काम अहितकर होनेके कारण न होने चाहिये। फिर लोगोंकी योग्यता देखकर 'योग्यं योग्येन योजयेत्' की नीतिके अनुसार जो जिस कामके योग्य हो उसको वही काम देना चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो कुछ काम तो ऐसे होंगे जिनमें अपने निजी दृष्टिकोणसे अधिक लाभ देखकर सभी उनकी ओर दौड़ेंगे और कुछको सभी छोड़ना चाहेंगे। इस प्रतियोगितामें कुछ लोगोंको चाहे जो लाभ हो जाय पर समूहको क्षति ही पहुंचेगी। ऐसी अवस्थामें लोगोंके प्रयत्न एक दूसरेके प्रपूरक नहीं वरन् विघातक होंगे क्योंकि यह सब प्रयत्न एक सूत्रमें बँधे न होंगे।

इसका एक और परिणाम होगा। यदि श्रमविभाग बुद्धिपूर्वक न हुआ तो पारिश्रमिक, मजदूरीका विभाग भी बुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता। अपने शरीरकी शक्ति और चालाकीका दुरुपयोग करके कोई तो अनुचित, अर्थात् अपने श्रमकी दृष्टिसे अधिक पारश्रमिक ले लेगा, किसीको बहुत कम मिलेगा। जिन लोगोंके कामसे समूहका विशेष लाभ होगा वह कम पायँगे, दूसरे अधिक पा जायँगे। इससे केवल व्यक्तियोंकी ही नहीं, वरन् व्यक्तियोंके समूहकी भारी हानि होगी। सबका एक साथ चलना न होगा, प्रत्येक व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थको ही देखेगा। 'तुच्छ' इसलिए कहता हूँ कि सबके भलेमें अपना भी भला हो सकता है पर इस ऊँचे स्वार्थकी ओर कम ही लोगोंका ध्यान जाता है।

'समाज' के इस अर्थको ध्यानमें रखते हुए हम जब मानव-जगत्‌की ओर दृष्टिपात करते हैं तो एक विचित्र दृश्य देख पड़ता है। इस मानव-जगत्‌को, मनुष्योंके इस समूहको, 'मनुष्य-समाज' कहते हैं। जैसा कि एक पाश्चात्य लेखक कहता है, "समाजका अर्थ है भाई चारा; एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए काम

करनेवाले, एक भावसे परिचालित व्यक्तियोंकी बिना किसी प्रकारके दबावके अपनी इच्छासे, संचालित संस्था, जिसके सब सदस्य सबके हितके प्रयत्नकी सफलताके इच्छुक हों। 'मानव-समाज' का भाव यह है कि यह एक ऐसा संघटन है जिसको सबके हितके लिए मनुष्य-जातिने अपने संयुक्त प्रयत्नसे जन्म दिया है।" ❀ यह परिभाषा वस्तुतः 'समम् अजन्ति जनाः अस्मिन्' की विस्तृत व्याख्यामात्र है। इसके ठीक होनेमें भी कोई विशेष सन्देह नहीं हो सकता। यदि एक उद्देश्य न हो, एक भाव न हो, सबके हितका विचार न हो, यदि सब केवल अपने तात्कालिक सुख या धुनकी पूर्तिमें लगे हों, यदि सबके प्रयत्नोंका कोई एक लक्ष्य न हो, तो मनुष्योंके ऐसे समूहको भीड़ भले ही कह लें समाज नहीं कह सकते। यदि संघटन ऐच्छिक न हो वरन् किसी प्रकारके दबावसे हुआ हो तो भी यह समाज नहीं हो सकता। राज इसी प्रकारका एक संघटन होता है। सरकारके दबावसे लोग किसी न किसी सीमातक मिलकर काम करते हैं, उनके प्रयत्नों और उद्देश्योंमें कुछ समता और एक लक्ष्यता भी देख पड़ती है, पर यह संघटन कृत्रिम होता है। वियोजक शक्तियाँ बराबर काम करती रहती हैं और किसी भी कारणसे दबावके हट जाने पर संघटित अवयव बिखर जाते हैं। ऐसा संघटन समाज नहीं कहला सकता, इसमें वास्तविक 'सम-अजन' का अभाव है।

पर शब्द मात्रके अतिरिक्त 'मानव-समाज' है कहाँ? शब्दोंमें तो आकाशका पुष्प भी होता है, गधेके सींगका भी अस्तित्व है। पर वस्तुस्थितिमें कहीं मनुष्य-समाज देख पड़ता है?

❀ राबर्ट ब्रिफ़ोल्ट (विक्टर गोलैंक्ज़) 'ब्रेकडाउन', अध्याय १

मनुष्योंमें काले, पीले, गोरे, भूरेका विभाग है; पाश्चात्य और अपाश्चात्यका प्रचण्ड विभेद है; आर्य्य, अनार्य्य, हब्शी, अंग्रेज, फ्रेञ्च, अरब, रूसी, जर्मन, तुर्क, भारतीय, जापानीकी दीवारें एकको दूसरेसे पृथक् कर रही हैं। क्या इन सबमें समाजके लक्षण पाये जाते हैं? आपसमें खानपानके रीति-रवाजमें जो भेद हैं वह तो नगण्य हैं पर उद्देश्योंकी समता, संघटन कहाँ है? आज गोरे सभी रङ्गीनों पर आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, बहुत बड़े भूभागपर स्थापित कर भी चुके हैं; रङ्गीनोंमें इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, वह गोरोंके आधिपत्यका विरोध कर रहे हैं। पर न तो सब गोरे, न सब रङ्गीन एक साथ हैं। गोरे भी अनेक जातियों, अनेक राष्ट्रोंमें बँटे हुए हैं, जो आज एकका साथ देता है, वही कल अपने पुराने साथीके विरुद्ध पुराने शत्रुका साथ देता है। एक मात्र उद्देश्य स्वार्थ देख पड़ता है पर स्वार्थ भी स्थायी नहीं है, क्षणिक है। संघटन बनते हैं और बातकी बातमें टूटते हैं। विज्ञानका कहना है कि यह भेद प्रायशः कृत्रिम हैं। न तो किसी रङ्ग-विशेषमें कोई उत्तमता है, न किसी रङ्ग-विशेषमें बुराई। अरब, भारतीय, अंग्रेज आदि अनादिकालसे शुद्ध और पृथक् जातियाँ नहीं हैं, सभी मिश्रित हैं। इतना ही नहीं, इनकी भौगोलिक सीमाएँ भी बराबर बदलती रहती हैं परन्तु आज यह जनसमूह अपने 'हितों'को एक दूसरेसे पृथक् ही नहीं, विरोधी मानते हैं। न मनुष्यमात्रके हितका विचार है, न कोई एक लक्ष्य है, न किसी प्रकारका ऐच्छिक संघटन है। सब पृथ्वीपर रहते हैं पर उसी भाँति जैसे कि किसी जंगलमें हिंस्र पशु रहते हैं। ऐसी दशामें यह कहना ग़लत है कि 'मनुष्य-समाज'का अस्तित्व है। मनुष्य हैं; इतस्ततः उनके समूह फैले हुए हैं, पर यह समूह उस एक सूत्रसे बँधे हुए नहीं हैं जो इनको एक 'समाज' का अंग बना सकता है।

यदि इनमेंसे कोई एक 'समाज' अर्थात् समुदाय ले लिया जाय तो उसके भीतर भी वही समताका अभाव अर्थात् वैषम्य देख पड़ेगा। प्रत्येक समुदाय कई विरोधी समुदायोंका समूह है। प्रत्येक समुदाय दूसरे समुदायोंका विरोधी है। जमीनदार, कृपक, व्यापारी, महाजन, मिल-मालिक, श्रमिक, दस्तकारी करनेवाले कारीगर, छोटी नौकरियोंसे पेट पालनेवाले, व्याजकी आयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले, यह सब पृथक् पृथक् समुदाय हैं और सबके हित भी पृथक् पृथक् हैं। प्रत्येक समुदाय अपने लाभको सामने रखता है और उस लाभकी सिद्धिके लिए दूसरे समुदायोंको नीचा दिखानेके लिए तत्पर रहता है। इनमेंसे किसी भी जन-राशिका, किसी भी राष्ट्रका, संघटन बुद्धिपूर्वक, सबके हितके लिए नहीं हुआ है।

भारतमें वर्णव्यवस्थाने एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है। कुछ लोगोंके हाथमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार हैं; दूसरे लोग, जो प्रत्यक्षरूपसे उनसे किसी भी गुणमें कम नहीं प्रतीत होते, इस सारे अधिकारसे वञ्चित हैं।

यदि हम इन छोटे समुदायों, कृपक या वणिक् समुदाय, ब्राह्मण या शूद्र समुदाय, के भीतर प्रवेश करते हैं तो भी वही दशा देखते हैं। बुद्धिसंगत संघटनका अभाव है। समुदायका प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्तिका प्रतियोगी है; प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरोंको दबाकर उनसे अपना काम निकाले।

इसका अर्थ यही निकला कि मनुष्योंमें इस समय कहीं भी एक साथ मिलकर काम करनेका, एक ध्येयको सामने रखकर संघटित रूपसे अपनी अपनी शक्तिके अनुसार उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए काम करनेका, अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ परोपकारी व्यक्ति लोकसंग्रह-भावसे काम करते देख पड़ते हैं परन्तु

ऐसे लोग अपवाद मात्र हैं। अधिकांश मनुष्य और मनुष्य-समुदाय केवल अपने प्रत्यक्ष स्वार्थको सामने रखकर काम करते हैं और दूसरोंको दबाकर अपने हितोंके साधनका प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि पृथ्वीपर मनुष्य तो हैं पर मनुष्य-समाज नहीं है। इस समय 'समाज' एक कल्पना मात्र है। विशेष उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए अस्थायी गुट बन जाते हैं परन्तु स्थायी बुद्धिमूलक संघटन, जिसमें लक्ष्यकी एकता, श्रमका और पारिश्रमिकका विभाग तथा एकके प्रयत्नका दूसरेके प्रयत्नके साथ सहयोग हो, नहीं है। न तो किसी छोटे क्षेत्र, किसी समुदाय, किसी राष्ट्रके भीतर समाजके लक्षण देख पड़ते हैं, न व्यापक रूपसे पृथ्वीभरके मनुष्योंमें।

इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम देख पड़ता है। वह है घोर, निरन्तर सघर्ष और अशान्ति। सबका हाथ सबके विरुद्ध उठा हुआ है। व्यक्ति व्यक्तिमें, समुदाय समुदायमें, राष्ट्र राष्ट्रमें, संघर्ष है। सब अपनी अपनी समझके अनुसार अपना भला चाहते हैं और, मुँहसे कहें या न कहें, सबका यह विश्वास है कि बिना दूसरोंको दबाये अपना भला नहीं हो सकता। इस प्रकार दूसरोंसे होड़ करके, उनको दबाकर, अपनी जो भलाई की जाती है वह स्थायी नहीं होती। जो एक आगे बढ़ता है उसके दस शत्रु हो जाते हैं, क्योंकि उसके आगे बढ़नेमें उनकी क्षति होती है। वह शत्रु आपसमें मिलकर उसको नीचे गिराते हैं और फिर आपसमें लड़ते हैं। क्या व्यक्ति, क्या व्यक्तिसमूह, सर्वत्र यही तमाशा देख पड़ता है। मनुष्योंका जीवन एक विशाल युद्ध-क्षेत्र है। परन्तु साधारण युद्ध-क्षेत्रमें सैनिक स्वतन्त्र नहीं होते, सब किसी न किसी अधिकारीके अधीन होते हैं, उनका संघटन बुद्धिपूर्वक होता है और उनका तात्कालिक लक्ष्य एक होता है। परन्तु जीवनके इस

विशाल क्षेत्रमें इस बातका अभाव है। न लक्ष्यकी एकता है, न बुद्धिसंगत संघटन है; केवल अपने अपने क्षणिक स्वार्थके लिए संघर्ष है और संघर्षके फलस्वरूप अशान्ति है।

यह लड़ाई पागलोंकी भाँति लड़ी जा रही है। स्वार्थकी अग्निमें मनुष्य अपनी बहुमूल्यसे बहुमूल्य सम्पत्ति भस्म कर रहा है। उदाहरणके लिए, विज्ञानको लीजिये। विज्ञान मनुष्यके मस्तिष्कका उत्कृष्टतम निष्कर्ष है। हवा, पानी, आग, बिजलीको वशमें करना, रोगके कीटाणुओंको पहिचानना, नये नये फल निकालना, थोड़ेसे परिश्रममें बड़े बड़े काम कर डालना—यह सब इस युगकी विशेषता है। पर यह विज्ञान आज विषैली गैस, विस्फोटक, परमाणु बम, बनानेके काममें लगाया जा रहा है। जिन आविष्कारोंसे सबका भला हो सकता है उनका दुरुपयोग व्यक्ति या समुदाय या राष्ट्रविशेषके स्वार्थके लिए किया जा रहा है। पर यह एक ऐसा खेल है जिसे सभी खेल सकते हैं। अतः सभी देशोंके विज्ञानाचार्य्य अपनी विद्वत्ताका उपयोग मनुष्योंके संहारके लिए करनेमें प्रयत्नशील हैं। विज्ञानने मनुष्योंमें भ्रातृ-भावका संचार भले ही न किया हो पर दिक्कालके बन्धनोंको तो ढीला कर ही दिया है। अतः लोग भलेके लिए न सही, बुरेके ही लिए एक दूसरेको पहिलेसे अधिक प्रभावित करते हैं और अशान्ति अधिक भीषण रूप धारण करती जाती है।

यह लड़ाई केवल भौतिक क्षेत्रमें नहीं लड़ी जाती। लोग अपने स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए केवल तोप, तलवार, बम और लाठीसे काम नहीं लेते। कूटनीति, चालाकी, 'तिकड़म' बड़े कामकी चीजें हैं, पर यह भी पर्याप्त नहीं हैं। व्यक्तियोंका काम इतनेसे चल सकता है क्योंकि व्यक्तियोंका जीवन थोड़ा होता है, उनके झगड़े भी जल्द ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु मनुष्योंके कुछ

ऐसे समुदाय हैं जो व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक स्थायीसे हैं। उनका संघर्ष दूसरे समुदायोंके साथ बराबर ही चलता रहता है। उनके 'हित' संकुचित हैं, स्वार्थमूलक हैं पर एक प्रकारसे नियत और स्थायी हैं। ऐसे समुदायोंने एक विशेष प्रकारके शास्त्रोंकी सृष्टि की है। इन्होंने अपने अपने लिए विशेष 'दर्शनों' या 'सिद्धान्तों'का आविष्कार किया है। इनकी लड़ाइयाँ बौद्धिक क्षेत्रमें लड़ी जाती हैं। पहिले शास्त्रकी लड़ाई होती है, तब शस्त्रसे काम लिया जाता है। ज़मीनदारों, मिल-मालिकों, मज़दूरों, गोरी जातियों, अंग्रेजों, सबका अपना शास्त्र है। विद्वानोंका एक दल बड़ी गम्भीरतासे यह सिद्ध करता है कि संसारकी उन्नति इसी बातपर निर्भर है कि सारा अधिकार पूँजीपतियोंके हाथमें रहे। दूसरा दल ठीक ऐसी ही बात मज़दूरोंके लिए कहता है। तीसरा दल अंग्रेजोंको उन्नतिकी धुरी बताता है और चौथा दल प्रगतिके केन्द्रको जर्मनीमें बताता है। यह सब तो ठीक नहीं हो सकते, पर इतिहासकी पुस्तकें, अर्थशास्त्र और दर्शनकी पोथियाँ, निबंध, पद्य सब इसी दृष्टिकोणसे लिखे जाते हैं। इस प्रकारके प्रचार-कार्यमें विपुल धनराशि लगायी जाती है। इससे कुछ तो विपक्षियों या तटस्थोंपर प्रभाव पड़ता है, कुछ अपने पक्षवालोंका बल बढ़ जाता है। 'मैं उन्नति-पक्षका सैनिक हूँ, जगत्-हितके लिए लड़ रहा हूँ' ऐसा विश्वास हो जानेसे, चाहे विश्वास कितना ही निराधार हो, लड़नेवालेका उत्साह बढ़ जाता है। मनुष्योंमें समाज नहीं है परन्तु प्रत्येक समुदायने अपनेको यह समझ रखा है कि उसके ही हाथों समाजकी स्थापना होगी।

इस कलहमय जीवनका एक और परिणाम देख पड़ता है। चारों ओर 'मिथ्यात्व', झूठका व्यापार फैल रहा है। जो बात नहीं है उसको कह देना मात्र झूठ नहीं होता। आजकल, कबीर-

के शब्दोंमें, झूठ ओढ़ना, बिछौना, चबैना हो रहा है। किसी व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रको किसी दूसरे व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रकी नीयतका विश्वास नहीं है। मनुष्यके नैसर्गिक गुणोंका बहुत कम समादर है। विद्वान् और कलाकार उन लोगोंके आश्रित हैं जो दूसरोंको दबाकर आगे बढ़नेमें समर्थ हुए हैं। जो दूसरोंकी सबसे अधिक सेवा कर सकता है उसकी नहीं वरन् उसकी पूजा होती है जो दूसरोंके हितोंको पीछे करके अपने स्वार्थका साधन करता है। प्राचीन भारतीय धर्म्मग्रंथ व्यक्तियों और समुदायोंके धर्म्मों अर्थात् कर्त्तव्योंका उल्लेख करते थे। आजके दिन सबको अपने अधिकारोंकी धुन है; कर्त्तव्यक्षेत्र नहीं, अधिकारक्षेत्र बढ़ानेके पीछे सभी पागल हो रहे हैं।

इसी व्यापक अविश्वास, अशान्ति, प्रतियोगिताका यह परिणाम है कि जगत्का वातावरण कलहमय हो रहा है। कहीं हड़ताल हो रही है, कहीं खेत उजड़ रहे हैं, कहीं कारखाने बन्द हो रहे हैं; एक ओर स्वतन्त्र देश गुलाम बनाये जा रहे हैं, दूसरी ओर बड़े बड़े शक्तिशाली राज आपसमें टक्कर ले रहे हैं, तीसरी ओर यादवीय मची हुई है और चौथी ओर विद्रोहकी आग भभक रही है। किसीको कलका भरोसा नहीं है। विज्ञानने उपजको सौगुना बढ़ा दिया है। जहाँ एक थानका बुनना कठिन था, वहाँ बातकी बातमें हजारों थान बुने जाते हैं। जिस भूमि पर अन्नकी एक बाल नहीं उग सकती थी वहाँ अब खेत लहराते हैं। पृथ्वीके एक कोनेमें पैदा हुई वस्तु सुगमतासे दूसरे कोने तक पहुँचायी जा सकती है पर यह सब होते हुए नंगों, भूखों, बेकारोंकी संख्या ज्योंकी त्यों है, वरन बढ़ गयी है। जितनी धनराशि अब देख पड़ती है उतनी पहिले कभी सुन भी नहीं पड़ती थी परन्तु निर्धनोंकी संख्या द्रुत वेगसे बढ़ती जाती है। पृथ्वीपर जितनी भौतिक

सामग्री है उसका सदुपयोग नहीं हो रहा है। किसी प्रकारका संघटन नहीं है; समाज नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने किसी पुराणसे लेकर कलियुगका चित्र खींच दिया है। क्या किया जाय, वर्तमान समयमें वस्तु-स्थिति ऐसी ही है।

वाकुनिनने एक जगह कहा है "समाज व्यक्ति से पहिले है।....मनुष्य तभी मनुष्य होता है और उसकी विवेक-बुद्धि तभी जागरित होती है जब वह समाजमें अपने मनुष्यत्वका अनुभव करता है। उस दशामें भी वह समाजके सामूहिक कामों द्वारा ही अपनेको व्यक्त कर सकता है।....समाजकी सीमाके बाहर मनुष्य सदैव जंगली पशु बना रहेगा।" आज नरराशि समाजके रूपमें संग्रथित नहीं है, इसीलिए मनुष्य स्वार्थी बनैला पशु हो रहा है।

दूसरा अध्याय

धर्म्म, सदाचार, राज और सभ्यता

ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो वर्तमान जगत्के उस स्वरूपको न स्वीकार करें जो पिछले अध्यायमें अंकित हैं, पर यह आक्षेप कई लोगोंको हो सकता है कि यह कहना कि मानवजीवन सर्वथा असंघटित है, अनुचित है। मैं यहाँपर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं ऐसा नहीं कहता कि किसी प्रकारका संघटन है ही नहीं। संघटन तो थोड़ा बहुत है पर ऐसा और इतना नहीं है कि उसके द्वारा मनुष्योंकी जाति 'मनुष्य-समाज' बन सके।

जो लोग इस कथनसे सहमत नहीं हैं वह विशेषरूपसे तीन शक्तियोंका नाम लेते हैं जो उनकी सम्मतिमें मनुष्योंको एक सूत्रमें बाँधकर 'समाज' की सृष्टि, कमसे कम रक्षा, करती हैं। इनके नाम हैं धर्म्म, सदाचार और राज।

धर्म्म शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। 'धारणाद्धर्म्म इत्याहुः' 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' इत्यादि इसकी प्राचीन व्याख्याएँ हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा प्रजाका धारण हो, जिसके द्वारा प्रजा समृद्ध और सुखी हो, जो प्रजाको एक सूत्रमें बाँधकर रखे, वह धर्म्म है। यदि धर्म्मका यही अर्थ है तो यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म्म मनुष्योंको बाँधे हुए है। ऐसा कहनेमें एक तो पुनरुक्ति दोष आता है क्योंकि इसका इतना ही अर्थ हुआ कि जो समाजको बाँधता है वह बाँधे हुए है। दूसरा बड़ा दोष प्रकरणसम है। इस बातका प्रमाण क्या है कि प्रजाको कोई भी समृद्धिकारी सूत्र बाँधे हुए है? हम तो अभी तक यही देखते आये हैं कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं।

मैं धर्म्मकी सत्ता या महत्ताको अस्वीकार नहीं कर रहा हूँ। वस्तुतः मनुष्यको मनुष्य बनानेकी क्षमता सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य आदि धर्म्माङ्गोंमें ही है परन्तु इस समय वह वातावरण ही नहीं है जिसमें धर्म्म मनुष्य-जीवनको अनुप्रमाणित कर सके।

एक चीज है जिसे लोग प्रायः धर्म्म नामसे पुकारा करते हैं: मजहब। मजहबको सम्प्रदाय कह सकते हैं। मजहब एक तो नहीं है परन्तु प्रत्येक मजहबके लाखों, प्रत्युत करोड़ों, अनुयायी हैं और कुछ बातें सभी मजहबोंमें पायी जाती हैं। इसलिए ऐसा विचार उठ सकता है कि मजहब मनुष्योंको एकमें मिलाकर समाजके रूपमें संघटित कर रहा है।

इस समय दो प्रकारके सम्प्रदाय हैं। कुछमें, जिनका सबसे

अच्छा उदाहरण ईसाई सम्प्रदाय है, आभ्यन्तर संघटन है। नीचेसे लेकर ऊपरतक सरकारी ढंगसे कर्मचारी नियुक्त हैं। इनके दर्जे बँधे हुए हैं, आमदनी नियत है, नियुक्ति और वियुक्ति तथा पदवृद्धिके नियम बने हुए हैं। दूसरे प्रकारके सम्प्रदायोंमें, जिनका उदाहरण हिन्दू सम्प्रदाय है, इस प्रकारका कोई संघटन नहीं है। इन दोनों प्रकारके सम्प्रदायोंमें दो बातें होती हैं, किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका कुछ उपदेश दिया जाता है और अपने सम्प्रदायवालों तथा दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके कुछ नियम बतलाये जाते हैं। उपासना या तो ईश्वरकी होती है या तदधीन किसी देव-देवीकी। 'ईश्वर'की व्याख्या अनेक प्रकारसे हो सकती है। शारीरक सूत्रके 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रका जो भाष्य शंकराचार्य्यने किया है उसके अनुसार ईश्वर मायाशबल ब्रह्म है; रामानुजके अनुसार वह जीवाजीवकी समष्टि है; गौतमकणादके मतानुसार वह जीवोंके संचित कर्म्मोंके अनुसार उनको फल-भोगकी प्राप्ति करानेवाला जगत्का साक्षी और आरम्भक है; योगके अनुसार वह क्लेशादिसे अस्पृष्ट पुरुषविशेष मात्र है; इस्लाम और ईसाई मज़हबके अनुसार वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम'में समर्थ जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक है। सचमुच ईश्वर है भी या नहीं यह विवादास्पद है, परन्तु यदि ईश्वर है तो उनके सम्बन्धमें इतने प्रकारके विचार घोर बुद्धिभेद उत्पन्न करते हैं। दार्शनिकोंको इस प्रकारके बुद्धिभेदमें भले ही रस मिलता हो पर साधारण मनुष्य तो घबरा उठता है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अनुयाइयोंमें चाहे जैसा ऐक्य उत्पन्न करे परन्तु विभिन्न सम्प्रदाय लड़ते रहते हैं। सम्प्रदायोंके आचार सम्बन्धी उपदेश भी एकसे नहीं हैं। कौन स्पृश्य है, कौन अस्पृश्य, क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य, अन्य मतावलम्बीकी शुद्धि करके उसे अपने

सम्प्रदायमें मिलाना चाहिये या नहीं, कर्म्मोंके फलका कैसे भोग होना है, विवाह किस प्रकार होना चाहिये, इत्यादि अनेक प्रश्नोंके उत्तर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न रूपमें देते हैं। इन्हीं सब बातोंका यह परिणाम है कि सम्प्रदायके भेदके नामपर लाखों मनुष्य बलि होते हैं और आपसमें कलह मचा रहता है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंको यह विश्वास है कि इनको सीधे ईश्वरसे आदेश मिला है; पर हिन्दूका ईश्वर एक बात कहता है, मुसलमानका दूसरी और ईसाईका तीसरी। इटलीकी सेना अबीसीनियापर आक्रमण करती है और उभय पक्ष ईश्वर, ईसा और ईसाकी मातासे विजय-की प्रार्थना करते हैं। आज मजहबके नामपर लोग जलाये नहीं जाते परन्तु सैकड़ों फिर भी इसी द्वारसे यमलोक जाते हैं। ईश्वरकी किसी विशेष ढङ्गसे पूजा करनेसे सैकड़ों-हजारोंकी जीविका बनती है, सैकड़ों-हजारोंकी जीविका छिनती है। ईश्वरको न माननेवाले सम्प्रदाय भी इस अखाड़ेमें किसीसे पीछे नहीं हैं। बौद्धोंका व्यवहार इसका प्रमाण है।

आचारके क्षेत्रमें भी यही दशा है। मैं यह जानता हूँ कि बड़े बड़े धर्म्मप्रवर्त्तकोंने जगद्धिताय ही अपने धार्म्मिक आन्दोलन चलाये; यह भी जानता हूँ कि मजहबने बहुतसे लोगोंकी पाशव प्रवृत्तियोंकी निरंकुशताको कड़े हाथों रोका है; यह भी मानता हूँ कि आज भी ऐसे लोग हैं जो अपने साम्प्रदायिक विचारोंपर सचाईसे दृढ़ हैं और इन विचारोंसे प्रेरित होकर यथाशक्ति बड़ी लगनसे लोकसंग्रहमें लगे रहते हैं; पर यह सब बातें साम्प्रदायिकताके इतिहाससे सम्बन्ध रखती हैं। इस समय तो इनकी गिनती अपवादोंमें है। आजकल तो सम्प्रदायोंसे अनाचारको ही सहायता मिलती है।

ऐसे लाखों व्यक्ति हैं जो बड़े ही भक्त हैं। भगवन्नाम-जप,

भगवत्कथा-कीर्तन, के समय प्रेमगद्गद् हो जाते हैं, अपने आपको भूलकर प्रेमावेशमें नाच उठते हैं। मन्दिर, मस्जिद या गिरजा बनवानेके लिए श्रद्धालुओंसे लाखों रुपये मिल जाते हैं; यज्ञ, साधुभोज और विधर्मियोंकी शुद्धिके लिए रुपयेकी धारा बहती ही रहती है। आयु थोड़ी है और शरीरके अवयवोंकी संख्या भी बँधी हुई है। इसलिए रुपये देकर जप, व्रत आदि करनेके लिए आदमी रख लिये जाते हैं। उनके किये हुए सत्कर्मोंका फल धनदाताको होता है। यह सब तो है पर जप और पूजा महाजनोंको गरीबोंका गला दबाकर, उनके घर बिकवाकर व्याजके नामपर तबाह करनेसे नहीं रोकती। खराब माल बेचने और एकका चार मुनाफ़ा लेनेसे मजहबमें फ़र्क नहीं आता। करोड़ोंकी सम्पत्तिके स्वामी मठाधीश भी अपनेको त्यागी साधु कहते हैं। लगोंके रक्तको चूसकर जो रुपया आता है उसमेंसे चार पैसे दानके रूपमें लौटा देनेसे स्वर्गका सौदा पक्का हो जाता है।

यह कहा जाता है कि ईश्वरके सामने सब बराबर हैं। 'विद्या विनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनिचैव श्वपाके च', विद्वान् लोग समदर्शी होते हैं। जहाँतक शास्त्रार्थकी बात है वहाँतक तो समदर्शन निर्विवाद है परन्तु व्यवहारमें इसका पता नहीं चलता। व्यवहारमें तो समुदाय समुदायके लिए दूसरा मजहब है। हिन्दुओंका ईश्वर करोड़ों हिन्दुओंको अपने सामने आने ही नहीं देता। उनको मन्दिरोंमें जानेका अधिकार ही नहीं है। जब किसी राजा महराजा, सेठ साहुकारके आजाने पर इतर लोग धक्के देकर हटाये जाने लगते हैं, उस समय साम्प्रदायिक समदर्शिता थोड़ी देरके लिए आँखें बन्द कर लेती है। ईसाई और इस्लाम मजहब वर्ण-भेद नहीं मानते, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनमें

ऊँचे नीचेका भाव नहीं है। भेद इतना ही है कि उसका स्वरूप दूसरा है। यह भी स्वीकार करना होगा कि इस दृष्टिसे इस्लाममें व्यावहारिक समता अधिक है। गरीबका मजहब दूसरा है और अमीरका दूसरा। गरीबको तो गला फाड़ फाड़कर 'सन्तोष' का पाठ पढ़ाया जाता है; उससे यह कहा जाता है कि उसकी वर्तमान दुर्दशा उसके पूर्वजन्मके कृत्योंका फल है या ईश्वरकी ओरसे उसकी परीक्षा है। वह इस प्रारब्ध या किस्मतसे लड़ नहीं सकता। यह दैवी व्यवस्थासे सर टकराना और विपत्ति मोल लेना है। इसलिए उसे चुपचाप सब कुछ सह लेना चाहिये। इस सन्तोषका फल उसे अगले जन्म या स्वर्गमें मिलेगा। परन्तु अमीर और बलीके लिए सन्तोषकी शिक्षा नहीं है। वह चाहे जैसे और जितना धन उपार्जन करे, अधिकारका उपयोग करे। निर्धनके धन और निर्बलके बल कोई भगवान् हैं ऐसा कहा जाता है। यदि हैं तो उनसे किसी बलवान् या धनीको कोई आशंका नहीं है। वह उनके दरबारमें रिश्वत पहुंचानेकी युक्तियाँ जानता है। पर उनका नाम लेनेसे दुर्बल और निर्धनका क्रोध शान्त हो जाता है। जो हाथ सतानेवालोंके विरुद्ध उठते वह भगवानके सामने बँध जाते हैं। आँखोंकी क्रोधाग्नि आँसू बनकर ढल जाती है। वह अपनी कमर तोड़कर भगवानका आश्रय लेता है। इसका परिणाम कुछ भी नहीं होता। उसके आर्त्त हृदयसे उमड़ी हुई कम्पित स्वरलहरी आकाशमण्डलको चीरकर भगवानके सूने सिंहासनसे टकराती है। टकराती है और ज्योंकी त्यों लौटती है। कबीर साहबके शब्दोंमें 'वहाँ कुछ है नहीं, अरज अंधा करै, कठिन डंडौत नहिं टरत टारी'। आज हज़ारों कुलवधुओंका सतीत्व बलात् लुट रहा है, हज़ारोंको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिए अबलाका एक मात्र धन बेचना पड़ रहा है, लाखों बेकस निरीह

राजनीतिक और आर्थिक दमन और शोषणकी चक्कीमें पिस रहे हैं पर जो भगवान् कभी खम्भे फाड़कर निकला करते थे और कोसोंतक चीर बढ़ाया करते थे वह आज उस कलाको भूल गये और अनन्तशयनका सुख भोग रहे हैं। फिर भी उनके नामकी लकड़ी दीनदुखियोंको थमायी जाती है। जो लोग ऐसा उपदेश देते हैं वह खूब जानते हैं कि अशान्तोंको क़ाबूमें रखनेका इससे अच्छा दूसरा उपाय नहीं है। बंगालके दुर्भिक्षमें एक ओर १५ लाख प्राणी मरे, दूसरी ओर धर्म्मप्राण व्यापारियोंने करोड़ों रुपये कमाये। जो दुखी है वह और दुखी होता जाय, जो सुखी है वह निष्कण्टक सुख भोगता रहे, धर्म्म-सञ्चालित संसारके लिए इससे उत्कृष्ट और क्या नियम होगा!

सबसे विलक्षण बात तो यह है कि यह सब अन्धेर मचता रहता है, दुर्बल और निर्बल व्यक्तियों तथा समुदायोंका शोषण और उत्पीड़न जारी है, पर कोई धर्म्माध्यक्ष चूँ नहीं करता। जर्मनीमें यहूदियोंका क्या कुछ नहीं हुआ परन्तु ईसाई धर्म्मगुरु पोपने मुँह नहीं खोला। ब्रिटिश सामाज्यमें चाहे जो होता हो परन्तु ब्रिटेनके बादशाह 'डिफेण्डर आव दि फेथ' (प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायके रक्षक) बने रहते हैं। प्रजाकी बहिन-बेटियोंकी इज्जतका अपहरण करनेवाला भारतीय नरेश भी धर्मावतार ही कहलाता है। कोई ब्राह्मण पुरोहित किसी अनाचारी नरेश, ज़मींदार, महाजन, शासकसे नहीं कहता कि तुम अधर्म्मी हो, मैं तुम्हारे यहाँ धर्म्मकृत्य नहीं कराऊँगा, तुम्हारा अन्न नहीं ग्रहण करूँगा। स्वयं इन धर्मव्यवसाइयोंकी जीविकामें कोई हस्तक्षेप कर बैठे तब तो दूसरी बात है, अन्यथा क्या भारतमें, क्या भारतके बाहर, धर्म्माचार्य्य बराबर सरकार, बलवान् और धनवान्का ही साथ देते हैं। मैं यह जानता हूँ कि भृगु और अंगिरा, बुद्ध और शंकराचार्य ऐसा कदापि न

करते। यदि शाप देकर भस्म न कर पाते तो कुछ ऋषि-मुनि अत्याचारीको उसी तरह मार डालते जिस तरह राजा वेन मारा गया था। ऐसा भी माना जा सकता है कि आज भी ऐसे पंडित, संन्यासी, मुल्ला, पादरी हैं जो इस व्यापक अनाचारसे व्यथित हैं, पर धर्मदीक्षा भी व्यवसाय है और पुरस्कार देनेवालों अथच दंड देनेकी सामर्थ्य रखनेवालोंके विरुद्ध आवाज़ उठाना कठिन हैं।

मजहबने दम्भका जो वातावरण फैला रखा है उसमें उन्नतिका दम घुटता है। अत्याचार, अनाचार, शोषण, उत्पीड़न चाहे जितना सक्रिय दुष्कर्म हो, चाहे चुप्पी साधकर आततायीको कितना भी प्रोत्साहन दिया जाय, पर नाम ईश्वरका ही लिया जायगा; दुहाई वेद, क़ुरान, इञ्जीलकी ही दी जायगी। जो काम किया जाता है वह धर्मके प्रचारके लिए। जिसको देखिये वही सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, समता और विश्वशान्तिका उपासक है। जो स्वेच्छाचारी शासक है वह ईश्वरका विनम्र निःस्वार्थ सेवक है। प्रत्येक शोषण शोषितके हितके लिए होता है।

इस अवस्थाको देखकर यह मानना पड़ता है कि धर्म-प्रवर्तकोंका उद्देश्य कुछ भी रहा हो और सम्प्रदायोंका इतिहास कुछ भी बतलाता हो, इस समय तो मजहब विघातक शक्तिका काम कर रहा है। जैसा कि एक प्रसिद्ध समाजवादीने कहाथा—'मजहब लोगोंको बेहोश करनेकी दवा है और समृद्ध लोग इसी कामके लिए धर्माचार्यों द्वारा इसका उपयोग कराते हैं'। वर्तमान समयमें राजधर्ममें इतनी क्षमता नहीं है कि वह लोगोंको एक सूत्रमें बाँध सके, अतः वह मनुष्य-समाजका साधन नहीं हो सकता।

दूसरी चीज़, जो मनुष्यको संघटित करनेवाली बतलायी जाती है, सदाचार है। सत्पुरुष, श्रेष्ठ, शिष्ट लोग जो आचरण करें वही सदाचार है। सदाचारके कई आधार हो सकते हैं।

एक आधार तो मज़हब है पर यह आधार बड़ा दुर्बल है। मज़हब एक स्वरसे नहीं बोलता। ईश्वरने विभिन्न मतानुयाइयोंको विभिन्न उपदेश दे रखे हैं। वह जगज्जनक होकर भी बलि और कुरबानीसे प्रसन्न होता है। एक ओर विश्वेश्वर बनता है, दूसरी ओर विधर्मियों और कभी कभी स्वधर्मियोंको मार डालने तकका उपदेश देता है। एक ही अपराधके लिए अलग अलग लोगोंको अलग अलग दण्ड देता है और एक ही सत्कर्म्मके पुरस्कार भी अलग अलग देता है। अपने भक्तोंके लिए क़ानूनकी पोथीको बेठनमें बन्द करके रख देता है। ऐसी दशामें मज़हबके आधार पर कोई सार्वदेशिक स्थिर सदाचार-नियम नहीं बन सकता। जो आचरण स्वर्गके लालच या नरकके भयसे बरता जाता है उसको यदि सदाचार कहा जाय तो जेलका क़ैदी सदाचारियोंमें अग्रगण्य हो जायगा।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मनुष्यमें कोई ऐसी दैवी शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य-असत्य, सुकृत्य-कुकृत्य, में विवेक कर सकता है। परन्तु थोड़ा सा विचार करने से प्रतीत होगा कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति नहीं है जो सदैव एक स्थिर और स्फुट आवाज़-से बोलती हो। भिन्न भिन्न देशों और समयोंमें, एक ही देशमें भिन्न भिन्न समयोंमें, एक ही देश और कालमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें विभिन्न प्रकारकी प्रेरणाएँ उठती हैं। इसलिए ऐसी प्रेरणाके आधार पर स्थायी सार्वभौम नियम नहीं बन सकता।

वस्तुतः सदाचारका एक ही आधार है—मनुष्यकी बुद्धि। जिस प्रकार बुद्धि यह निश्चय करती है कि दो और दो मिलकर चार होते हैं या पाँच, उसी प्रकार वह इसकी भी विवेचना करती है कि अमुक परिस्थितिमें किस प्रकार बरतना चाहिये। बुद्धि है तो व्यक्तिकी सहोदर, जन्मना सबकी बुद्धि एक सी नहीं होती

पर जैसी कुछ भी बुद्धि-सामग्री लेकर कोई व्यक्ति जन्म लेता है उसका विकास होना सम्भव है। यह विकास उस व्यक्तिकी परिस्थितिपर निर्भर है। जैसे राजनीतिक, आर्थिक, कौटुम्बिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक और सामाजिक वातावरणमें कोई व्यक्ति पलता है उसीके अनुसार उसकी बुद्धि होती है और उस अपनी बुद्धिके अनुसार ही वह दूसरोंके साथ आचरण करता है। यह ठीक है कि मनुष्यकी कई प्रमुख जातियोंकी उन्नति कुछ दूर एक सी हुई है, इसलिए सदाचारके नियम भी मिलते-जुलते हैं। इस दृष्टिसे सदाचारके नियमोंमें यह शक्तिथोड़ी सी है कि मनुष्यों को एकमें बाँधें। पर इस शक्तिकी सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। जहाँतक कोई संघर्ष नहीं उठता वहाँतक शरीफ़, सज्जन बनना सुकर है। छोटी छोटी बातोंमें दब जाना भी शोभाकी बात है। पर जब स्वार्थोंमें टक्कर होती है उस समय यह ऊपरी रङ्ग उड़ जाता है; क्योंकि जो बुद्धि आचरण स्रोत है वही स्वार्थसे कलुषित हो उठती है। उस समय न मजहब काम देता, न हृदयमें ईश्वरकी आवाज सुन पड़ती है। राष्ट्रोंके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ विभिन्न हैं इसलिए उनका आचरण भी साधारण शिष्टाचारकी कसौटीपर नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार व्यक्तियोंके स्वार्थ भिन्न हैं; भिन्नही नहीं, परस्पर विरोधी हैं। इसीलिए आचरणमें भी वैषम्य और विरोध होता है। जिन लोगोंके हाथ में सम्पत्ति और अधिकार है वह उसको चिरस्थायी बनाना चाहते हैं, इसलिए सदाचारके नियम भी ऐसे फैलाना चाहते हैं जिनमें स्थिति उनके अनुकूल बनी रहे। उन लोगोंका आचरण इसके विपरीत होना स्वाभाविक है जो अधिकार और सम्पत्तिसे वञ्चित हैं। जो परिस्थितिको ज्योंकी त्यों रखना चाहता है और जो उसको बदलना चाहता है, दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर है, बुद्धिमें अन्तर

है, लक्ष्यमें अन्तर है अतः आचरणमें भी अन्तर होगा। एक ही आचरण-नियम दोनोंको बाँध नहीं सकते।

सदाचारसे मिलती-जुलती वस्तु विधान, कानून है। स्थितिको क़ायम रखनेमें क़ानूनसे बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि क़ानूनके द्वारा स्थितिको परिवर्तित करनेवालोंको दण्ड दिया जा सकता है। राजनीतिके सम्बन्धमें तो यह बात सभी देखते हैं। जो लोग सरकारको पलटना चाहते हैं वह आये दिन जेल जाते हैं, जुर्माना देते हैं, काले पानीकी सैर करते हैं या फाँसी पाते हैं। परन्तु आर्थिक क्षेत्रमें भी यही बात है। जिन लोगोंके हाथमें सम्पत्ति है उनका क़ानून बनानेवाली संस्थाओंमें प्रभाव है। वह ऐसे क़ानून बनवाते रहते हैं जिनसे लगान न देनेवालों या हड़ताल करनेवालोंको दण्ड दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी चालबाज़ीसे एक करोड़ रुपया एकत्र कर लेता है तो क़ानून उसकी रक्षाका जिम्मा लेता है। कोई भूखा आदमी उसमेंसे चार पैसे भी विना पूछे ले ले तो वह जेल भेजा जा सकता है, पर क़ानून उस भूखेका पेट भरनेका जिम्मा नहीं लेता। ऐसी दशामें कानूनके प्रति सबका एक भाव नहीं हो सकता। क़ानून सब मनुष्योंको एक सूत्रमें बाँधकर समाज नहीं बना सकता।

अन्तमें थोड़ा-सा विचार राजके विषयमें भी करना होगा। लोगोंका ऐसा विश्वास है कि राजशक्ति सर्वोपरि है, सबको समान दृष्टिसे देखती है और सबको एक सूत्रमें बाँध सकती है। पहिले तो कोई सार्वभौम राज नहीं है अतः सब मनुष्य तो एक राजकी छत्रच्छायामें बँध नहीं सकते।

अतः हमको पृथक् राजोंपर थोड़ीसी दृष्टि डालनी चाहिये। प्राचीन कालसे ही राजसत्ताधारियोंका यह प्रयत्न रहा है कि प्रजा

उनको सर्वोपरि, समदृष्टि, निःस्वार्थ और निष्पक्ष माने। बात यह है कि कोई शासक कितना ही प्रबल क्यों न हो केवल बलप्रयोगके सहारे बहुत दिनोंतक शासन चल नहीं सकता। अतः प्रजामें यह भाव उत्पन्न करना आवश्यक होता है कि राजप्रतीक अर्थात् सरकार केवल लोकहित अर्थात् सर्वहितसे प्रेरित है और उसका समर्थन करना सबका कर्त्तव्य है। धर्म्माध्यक्षोंसे राजको इसमें बड़ी सहायता मिलती रही है। राजाज्ञाको मानना धार्म्मिक कृत्य हो गया। मनु कहते हैं 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः'—ऐसा कोई राजा नहीं है जो विष्णुस्वरूप न हो। मुसलमान और ईसाई सम्प्रदाय भी नरेशको ईश्वरका नायब बतलाते थे।

आज मज़हबमें न वह शक्ति है, न मज़हब और राजसंस्थामें वह पुराना नाता है। नरेश या तो मिटते जाते हैं या शक्ति क्षीण हो जाते हैं। परन्तु शासनपद्धति कुछ भी हो, राज तो हैं ही और प्रत्येक राज अपनी प्रजाके हृदयमें वही स्थान अब भी चाहता है। इसलिए प्रत्येक राज यह दिखलाना चाहता है कि वह सबका है और सबके भलेकी बात करता है। पर यह बात ठीक है नहीं। प्रत्येक देशमें, प्रत्येक राजमें, कुछ लोगोंके हाथमें सम्पत्ति और अधिकार होता है। इन लोगोंका ही राजके सञ्चालनमें प्रभाव पड़ता है। सरकार इनके ही संकेत पर चलती है। क़ानून ऐसे ही बनाये जाते हैं जिनसे सबसे पहिले इनके हितोंकी रक्षा हो। दाम्भिक भाषाका प्रयोग करके भले ही घोषित किया जाय कि सब कुछ सबके हितके लिए होता है पर वस्तुतः जो प्रभावशाली समुदाय होता है उसका हित—उसके हितोंकी चिर-रक्षा—ही प्रधान लक्ष्य होता है। कहीं, जैसे इस समय तिब्बतमें है, धर्म्माचार्य्योंका समुदाय शक्तिशाली है, कहीं सामन्त सरदार साधिकार होते हैं, कहीं ज़मीनदारोंका ज़ोर होता है, कहीं

महाजनों और पूँजीवालोंका प्राधान्य होता है। कब और कहाँ किस समुदायके हाथमें राजसत्ता रही है यह बात उस समयके क़ानूनोंसे और शासन-व्यवस्थासे जानी जा सकती है। इसलिए राजसत्ता वस्तुतः शासक-समुदाय का संघटन है और सरकार वस्तुतः शासक-समुदायकी कार्य्यकारिणी समिति है।

परन्तु जहाँ शासकवर्ग है वहाँ शासितवर्ग भी है। यह बात लोकतन्त्रात्मक शासनविधानसे छिपाये नहीं छिपती। आज ब्रिटेन और अमेरिकामें लोकतन्त्रात्मक शासन है, पार्लिमेंट और कांग्रेस चाहे जो करें ऐसा प्रतीत होता है। पर सभी जानकारोंको यह विदित है कि पार्लिमेंट और कांग्रेस की नकेल धनिकों और सम्पत्तिवानोंके हाथमें है। प्रतिनिधि चुनकर कोई आये पर ऐसी बात नहीं की जा सकती जो इन प्रभावशाली समुदायोंको सचमुच नापसन्द हो। ऐसी दशामें ऐसे बहुतसे अवसर आते रहते हैं जब शासितोंकी हत्या हो जाती है। इससे उनमें असन्तोष भी फैलता रहता है। सरकार कहती है कि राजकी आज्ञाका मानना प्रजाका अनिवार्य्य कर्त्तव्य है पर दूसरा पक्ष ऐसा नहीं मान सकता। जैसा कि लास्कीने 'ग्रामर आव पॉलिटिक्स' में कहा है "हमारी संस्कृत बुद्धि सार्वजनिक हितके लिए जो वस्तु अपनी ओरसे अर्पित करती है उसका नाम नागरिकता है। नागरिकताका परिणाम यह हो सकता है कि हम राजका समर्थन करें पर यह भी हो सकता है कि हम उसका विरोध करें।" तात्पर्य्य यह है कि जो लोग अधिकारसे वञ्चित हैं वह ऐसा मानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

परन्तु शासक-समुदाय ऐसा नहीं मान सकता। फलतः दोनों समुदायोंमें संघर्ष बना रहता है। यह संघर्ष प्रायशः अव्यक्त रहता

है। दोनों ओरसे वादप्रतिवाद होकर काम चल जाता है। पर कभी कभी स्थिति गम्भीर हो जाती है। उस समय बलप्रयोगकी नौबत आ जाती है। ऐसे अवसरपर शासित समुदायको बड़ी असुविधा होती है। उसका पक्ष कितना ही न्याय्य क्यों न हो, उसकी शक्ति बहुत कम होती है। दूसरी ओर राजकी संघटित शक्ति होती है। इसीलिए लेनिनने कहा है 'बलप्रयोगके एकाधिकारका नाम राज है'।

अस्तु, वर्तमान समयमें जब कि शासक और शासित, अमीर और ग़रीब, का विभेद है, जब कि लोगोंके स्वार्थ और 'हित' विभन्न और परस्पर विरोधी हैं, न मज़हब, न सदाचार, न क़ानून, न राजसत्तामें मनुष्योंको एक सूत्रमें ग्रथित करके समाजके रूपमें परिणत करनेकी क्षमता है। इसलिए इनमेंसे किसीके भी द्वारा सौहार्द और शान्तिकी स्थापना नहीं हो सकती। यह चीजें जो देखने-सुननेमें ऐक्य और समताको बढ़ानेवाली हैं वस्तुतः आपसमें लड़ने, एक दूसरेकी बुद्धिको मोहमें डालने और एक दूसरेको दबानेका साधन हैं। इनका ही उपयोग करके लोग अपनी सम्पत्ति और अधिकारको चिरस्थायी करना चाहते हैं, इसलिए यह शान्तिके स्थानमें विग्रह का द्वार हैं।

एक चीज़ और रह जाती है। ऐसा कहा जाता है कि चाहे और कुछ न हो पर एक ऐसी निधि है जिसपर सभी या प्रायः सभी मनुष्योंका स्वत्व है। वह निधि है हमारी सभ्यता। इसके कई स्रोत हैं। भारत, फ़ारस, बैबिलोन-असीरिया, मिस्र, चीन, यूनान, रोम तथा वर्तमान यूरोपसे निकली हुई अनेक संस्कृति-धाराओंने मिलकर इसे जन्म दिया है। अनेक भेद होते हुए भी एक सभ्य भारतीय एक सभ्य अंग्रेज़ या जापानीके साथ मिलने-जुलने में भाईचारेका अनुभव करता है। सदाचारके नियम,

साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन ऐसी डोरियाँ हैं जो हृदयोंको एक दूसरेके साथ बाँधे बिना नहीं रहतीं।

यह बात निराधार नहीं है। बौद्धिक जगतमें ऐसे कई क्षेत्र हैं जहाँ विभिन्न प्रकृतिके, विभिन्न परिस्थितियोंमें पले हुए, व्यक्ति सौहार्दपूर्वक मिल सकते हैं। आजकल विज्ञानका विकास इस क्षेत्रको विस्तृत बनाता जा रहा है। पर जो बातें सदाचार, कानून राजके सम्बन्धमें कही गयी थीं वह यहाँ भी स्मरण रखने योग्य हैं। हमारे जीवनका आधार हो रहा है अपना अपना स्वार्थ। जबतक स्वार्थ नहीं टकराते तबतक हम मनुष्य हैं, नहीं तो पशु बन जाते हैं। एक ग्राहकके हाथ माल बेचनेके इच्छुक दूकानदारोंमें, एक नौकरीके इच्छुक उम्मीदवारोंमें, एक उर्वर या खनिजपूर्ण प्रदेशको हस्तगत करनेके इच्छुक राष्ट्रोंमें, सभ्यता ढूँढ़े नहीं मिलती। ज्यों ज्यों स्वार्थों का सङ्घर्ष तीव्र होता जाता है त्यों त्यों सभ्यताका ऊपरी रङ्ग उड़ता जाता है। एक समय था जब कि प्रतियोगिता इतनी तीव्र न थी। उन दिनों स्वार्थोंका सङ्घर्ष इतना जबरदस्त नहीं था। पृथ्वी बड़ी थी क्योंकि रेल-तारका अभाव था, जनसंख्या कम थी, दूसरोंको दबाने और अपने सुख-साधनके लिए आज जैसे वैज्ञानिक उपायोंका आविष्कार नहीं हुआ था। पर आज बिना तीव्र, निरन्तर, निरंकुश और निर्दय सङ्घर्षके अपने स्वार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। आज स्वार्थ भी वैयक्तिक नहीं, सङ्घटित होता है। जैसा कि एक लेखक कहता है—'महाजन तो आदर्शवादी और दानी हो सकता है पर बङ्क ऐसा नहीं हो सकता।' दानी और दयालु बङ्कका एक दिनमें दिवाला पिट जायगा। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सभ्यताकी दृष्टिसे मनुष्यका पतन हो रहा है। पहलेकी नकल मात्र होती है परन्तु आजके शिक्षित व्यक्तिके

आचरणमें वह शील, सौजन्य और सचाई नहीं है जो पहले थी। हाँ इस दृष्टिसे उसमें स्वाभाविकता अधिक है कि वह भीतरकी एषणाओंकी नग्नमूर्ति होता है। जो बुद्धि दूसरोंकी बुद्धिसे दाव-पेंच करते रहनेमें, दूसरोंको बेवकूफ बनानेमें, दूसरोंको दबाकर अपना कुछ लाभ कर लेनेमें, बराबर लगी रहेगी वह न तो सभ्यताका विकास कर सकती है न उसको बरत सकती है। कुछ दिनोंतक पुरानी लकीर पीटती जायगी पर धीरे धीरे मनुष्योंके चित्त असंस्कृत और असभ्य होते जा रहे हैं। चित्तकी ऐसी अवस्थामें सभ्यताका बाहरी उपकरण बहुत दिनोंतक नहीं टिक सकता। सभ्यम्मन्य मनुष्य कहाँतक गिर सकता है इसका सबसे बड़ा उदाहरण उस बर्तावसे मिल सकता है जो जर्मनीमें यहूदियोंके साथ किया गया।

शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बुद्धिका विकास होता है। परन्तु शिक्षा स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक सरकार शिक्षाका नियन्त्रण अपने हाथमें रखती है और उसको एक विशेष प्रकारका झुकाव देती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि शिक्षा पानेवाला स्वतन्त्र विचार करनेकी योग्यता खो बैठे और प्रत्येक प्रश्नपर उसी दृक्कोणसे अक्षपात करे जो सरकार अर्थात् राजके प्रभावशाली समुदायको अभिमत है। जैसे टकसालसे एक ही सांचेके ढले सिक्के निकलते हैं वैसे ही शिक्षालयोंसे एक ही प्रकारकी बुद्धियाँ निकलती हैं।

लेखक, कवि, चित्रकार, पत्रकार इस दोषको दूर कर सकते हैं। मनुष्यके इस सामूहिक सांस्कृतिक पतनको रोकनेका प्रयत्न कुछ वही कर सकते हैं पर वह भी ऐसा प्रायः नहीं कर रहे हैं। सम्पत्ति और अधिकारके स्वामीकी बड़ी प्रभुता है। वह सरस्वतीके इन उपासकोंको पुरस्कार और दण्ड दे सकते हैं।

अप्टन सिंक्लेयरने 'मनी राइट्स' में इसके उदाहरण दिये हैं। स्वतन्त्रचेता लेखकों, कलाकारों और पत्रकारोंको भूखों मारनेका प्रयत्न किया जा सकता है और किया जाता है। बहुत कम ऐसे लोग हैं जो इसका सामना करनेको तय्यार हैं। धर्म्म, देशभक्ति और विज्ञानकी भाँति साहित्य और कलाको भी शहीदोंकी आवश्यकता है पर शहीद मिलते नहीं। अधिकांश लोग या तो ऐसी कृतियाँ प्रकाशित करते हैं जो गुणग्राहकों—अनाचारी, अत्याचारी परपीड़क समुदायों—में बिक जायँ या वास्तविक जगत्से भागकर 'कलाके लिए कला' की निरर्थक आवाज़ उठाते हुए कल्पनाके कृत्रिम जगत्में निराधार रहस्योंका उद्‌घाटन और शब्दजालोंकी रचना करनेमें अपनी प्रतिभाको खो देते हैं। जैसा कि राबर्ट ब्रिफाल्टने 'ब्रेकडाउन' में कहा है "लालच या कायरताके कारण साहित्यने विवश होकर वर्तमान विचार-जगत्के उस क्षेत्रको छोड़ दिया है जिसमें जीवन और तात्कालिक महत्ता है और अप्रासङ्गिकता, चतुरता, झूठी प्रतिभा और ऐसी तुच्छ बातोंका आश्रय लिया है जिनकी बाज़ारमें माँग है परन्तु जो संसारके जीवनकी वास्तविकतासे पूर्णतया असम्बद्ध हैं। बादशाह नीरोकी भाँति, रोम जल रहा है और साहित्य बैठा बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कलाके सभी भेदोंकी ठीक यही दशा है।"

आजकल चरित्रका जो ह्रास हो रहा है वह सभ्यताकी जड़को और भी खोद रहा है। एक ओर वह लोग हैं जो उत्पीड़नके शिकार हैं। इस कक्षामें हिन्दू सम्प्रदायके अस्पृश्य, आधा पेट खाकर काम करनेवाले किसान, मज़दूर और दफ़्तरके बाबू, शरीर बेचकर पेट पालनेवाली स्त्रियाँ, पृथ्वीकी परतन्त्र जातियाँ, यह सभी परिगणित हैं। इनके लिए सुख नहीं है। जो कुछ सुखका लवलेश इन्हें मिल जाता है, उसे यह कहींसे छीन-झपटकर पा

जाते हैं। इनकी दशा अपने स्वामियों और शोषकोंके सामने वैसी ही है जैसी कि छोटी मछलियोंकी मगर या शार्कके सामने होती है। धूर्तता, चालबाज़ी, खुशामदसे इनका काम निकलता है। यह आशा करना कि इनमें सत्य, क्षमा, स्वाभिमान, नैतिक वीरता पायी जायगी भूल है। इनके तो चरित्र गिराये हुए हैं।

दूसरी ओर इनके स्वामी हैं। उनका लक्ष्य है अपने स्वार्थोंकी रक्षा करना और इसके लिए दूसरोंसे काम लेना। वह अपने विशेषाधिकारों द्वारा वैभव प्राप्त करते और भोगते हैं। परन्तु विशेषाधिकारोंका भोगना ही घातक है। जो बलप्रयोग या बन्दर-घुड़कीसे दूसरोंको दबाता रहता है वह स्वयं बलवानों से दब जाता है। हिन्दुओंकी ऊँची जातिवाले भङ्गियों और डोमोंको दूर दूर करते हैं पर अंग्रेजोंके पाँव चूमते हैं। जो बर्ताव दूसरोंके साथ किया जाता है धीरे धीरे वह कुछ ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपनों के साथ भी वही स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। यूरोप-की जातियोंने एशिया और अफ्रीकाके निवासियोंको गुलाम बनाया। उनमें जहाँ जहाँ स्वाधीनताकी आकांक्षा प्रकट हुई वहाँ वहाँ उसे निर्मम होकर कुचला। पर अब वही शस्त्र घरवालों पर चल रहे हैं। यूरोपके देश देशमें पार्लिमेण्ट और लोकतन्त्रके ढोंगको पाँव तले रौंदकर अधिनायकतन्त्र स्थापित किया जा रहा है। कहीं इसका स्वरूप प्रत्यक्ष है, कहीं अभी प्रच्छन्न है पर धीरे धीरे सर्वत्र यह रोग बढ़ रहा है। अधिनायकशाहीके शासनमें प्रजाके नागरिक अधिकार—वह अधिकार जिनको गोरी जातियोंने आजतक अपना ही सहज अधिकार समझ रखा है और जिनको न देना या देकर छीन लेना गोरोंने रङ्गीनोंके साथ अपने बर्तावका अनिवार्य्य अङ्ग मान लिया है—लुप्त होते जा रहे हैं। जो यूरोप वाले विदेशोंमें भेड़ियों जैसा आचरण करते हैं, वही आज अपने

घरोंमें भेड़ बन रहे हैं। उच्छृङ्खलताको अपना नित्यका व्यवहार बनानेवाले उसको अपने अपने देश के दैनिक जीवनका अङ्ग बनानेमें लगे हैं। मानव-जगत् अर्थात भेड़ और भेड़ियोंका यह जमघट बहुत दिनोंतक सभ्यताका स्वांग नहीं निभा सकता।

जर्मनी हार गया, इटली हार गया, शीघ्र ही जापान की भी पराजय होगयी। ऐसा प्रतीत होता है कि अब अधिनायकों का युग गया और फिरसे लोकतन्त्रके दिन लौटे। सन फ्रांसिस्कोमें विश्वशान्तिकी जो योजना बनी है उससे लोगोंको बहुत आशाएँ हो रही हैं। यदि सचमुच अब युद्धका अन्त होने जा रहा है और मनुष्यमात्रके लिए भोजन-वसनकी सुव्यवस्था तथा भाषणादिकी स्वतन्त्रता होने जा रही है तो यह मानना होगा कि अब सचमुच मनुष्य मनुष्य होने जा रहा है। परन्तु ऐसे विश्वासके लिए पर्य्याप्त आधार नहीं मिलता। ब्रिटेन, अमेरिका और रूसमें हितसंघर्ष प्रत्यक्ष रूपसे चल रहा है, छोटे राजोंको कल बल और स्यात् छलसे अपनी अपनी ओर मिलानेका यत्न जारी है, भारत तथा दूसरे परतन्त्र देशोंको स्वाधीन बनानेका सार्वदेशिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वार्थ, हित-संघर्ष और वैषम्यका बोलबाला अब भी रहेगा। राज अब भी समुदाय विशेषकी स्वार्थसिद्धिका उपकरण रहेगा और मनुष्य संस्कृत, सुसंघटित समाजके अंगके रूपमें न रह सकेंगे। जो शक्ति सम्मिलित रूपसे सबकी उन्नतिमें लगनी चाहिये उसका अपव्यय परस्पर मूलोच्छेदमें होगा।

तीसरा अध्याय

सनातन प्रश्न

पिछले दोनों अध्यायोंमें मैंने जो कुछ लिखा है उसमें कोई नयी बात नहीं है। उसकी विशेषता यही है कि वह आजकलके जगत्का सच्चा चित्र है इसीलिए प्रत्येक विचारशील मनुष्य उससे सहमत होगा। धर्म, मजहब, क़ानून, राज, यह सब बड़े नाम हैं। इनके लिए हमारे हृदयोंमें बड़ा आदर है। इसलिए यह माननेमें चित्तको ठेस लगती है कि यह सब संस्थाएँ कुछ समुदायोंके, जो हमारे आदरके पात्र नहीं हो सकते, स्वार्थोंकी साधक हैं। बार बार दुहराना बुरा होता है, पर यह बात अच्छी तरह हृदय पर अंकित कर लेनेकी है कि इस समय विघटन ही विघटन देख पड़ता है और जो कुछ थोड़ा बहुत सम-अजन है भी वह मनुष्योंके जगत्को हिंस्र और स्वार्थी पशुओंकी वनस्थली बननेसे रोकनेमें असमर्थ है।

कुछ लोग तो इतना कहकर ही अपना परितोष कर लेंगे कि यह कलिकाल है, इसमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। परन्तु ऐसा मानकर बैठ रहना तो तामस अकर्मण्यता है। जिन लोगोंकी बुद्धि सात्विक है, उनके चित्तमें हठात् एक प्रश्न उठता है। देश-काल-पात्रके भेदसे प्रश्नके रूपमें भेद हो सकता है, उत्तरमें भी निःसन्देह भेद होता है परन्तु उसका मूल रूप एक ही है। यह वही प्रश्न है जो मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे किया था, जिसका उत्तर पानेके लिए शङ्कराचार्य संन्यासी हुए, जो कुमार सिद्धार्थके चित्तमें उठा था। वह प्रश्न आज भी प्रत्येक विचारशील मनुष्यको क्षुब्ध करता है। आजकलके शब्दोंमें उसका स्वरूप यह हो सकता है:

"संसारमें इतना दुःख क्यों है ? खाद्य पदार्थोंकी अपार राशि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, मिलोंसे वस्त्रोंका पहाड़ निकल रहा है, लाखों वर्गकोस बसने योग्य भूमि पड़ी हुई है, एक देशमें उत्पन्न वस्तु सुगमतासे दूसरे देशोंमें पहुँच सकती है, घातक रोगोंपर चिकित्साशास्त्र विजय पाता जा रहा है, फिर भी इतने नंगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यों हैं ? ऐसी अन्धी प्रतियोगिता किस लिए हो रही है ? सुख और शान्तिके इतने साधनोंके होते हुए इतनी बेचैनी, इतनी अशान्ति क्यों है ? सुखके साधन थोड़ेसे लोगोंको ही क्यों लभ्य हैं ? जिस सम्पत्तिकी वृद्धिमें इतने लोगोंके हाथ लगते हैं उसका उपभोग सब क्यों नहीं कर सकते ? राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रताका क्यों अपहरण किया जाता है ? युद्ध क्यों होते हैं ? मनुष्य जल, वायु और विद्युत्को अपने वशमें कर सकता है, अरबों कोस दूरकी नीहारिकाओंको दृष्टिगत कर सकता है और अगोचर परमाणुओंकी गतिविधिकी गणना कर सकता है पर उसकी बुद्धि अपने जीवनको संघटित क्यों नहीं कर सकती ?"

हमने देखा है कि जो अशान्ति मानव-जीवनको नष्ट कर रही है उसकी तहमें स्वार्थ है। प्राचीन कालमें भी दुःखका मूल तृष्णा, तन्हा, बतलायी जाती थी। पर इस स्वार्थ या तृष्णाका विकास कैसे हुआ है ? इस विकासको कैसे रोका जा सकता है ? मनुष्य-को सुखी कैसे बनाया जा सकता है ? किस प्रकार मनुष्यको संघटित करके 'समाज'के रूपमें लाया जा सकता है ?

चौथा अध्याय

कुछ उत्तर

जो प्रश्न पिछले अध्यायमें सामने रखा गया है उसके, जैसा कि हम पहिले भी कह चुके हैं, कई प्रकारके उत्तर हैं। जिस समस्याने इस प्रश्नको जन्म दिया है वह सनातन है, इसलिए प्रश्न भी सनातन है और प्राचीन कालसे ही बुद्धिमानोंने इसके उत्तर भी दिये हैं। यहाँ हम उन सब उत्तरोंपर विचार नहीं कर सकते परन्तु दो-तीनपर विचार करना परमावश्यक है।

पहिला उत्तर तो यह हो सकता है कि जगत्‌में जो कुछ हो रहा है वह कुछ दैवी शक्तियोंकी लीला है, जिसमें हस्तक्षेप करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें नहीं है। ईश्वर या तत्सम कुछ देवगणके हाथमें जगत्‌का नियमन और नियन्त्रण है। उनके बनाये हुए कुछ नियम हैं। उनका अनुसरण करनेसे सुख और उल्लङ्घन करनेसे दुःख होता है। बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि देवज्ञा पालन करने वाले दुःख और उल्लङ्घन वाले सुखका अनुभव करते हैं। इसके लिए यह उत्तर है कि सुख-दुःखका हिसाब मृत्युके पीछे स्वर्ग-नरकमें पूरा होता है। इसपर एक आपेक्ष यह हो सकता है कि दैवी नियमोंको पूरा पूरा जानना कठिन है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि यह नियम किसी धर्मग्रंथमें लिखे हैं तो पृथ्वीके ऐसे बहुतसे प्रदेश हैं जिनके पास तक इन ग्रंथोंकी आवाज नहीं पहुँची है। जहाँ पहुँची है वहाँ भी सब लोगोंकी बुद्धि ऐसी नहीं है कि सब बातें समझ सकें। अबोध बालक तो कहीं कुछ भी समझ नहीं सकते। फिर भी कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जो जन्मना दुखी हैं। दैवी नियमोंके अनुसार तो यह होना चाहिये था कि सब मनुष्योंका एक ही परिस्थितिमें जन्म

होता, सबको एक ही प्रकारसे उनका ज्ञान होता और प्रत्येक व्यक्ति यथाकृत्य पुरस्कार या दण्ड पाता। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि कर्मका प्रवाह अनादि है। मनुष्य जो कुछ एक जन्ममें करता है उसका फल जन्मान्तरमें भोगता है। अतः यदि कोई इस जन्ममें जन्मना दुखी या अल्पबुद्धि है तो यह उसके पूर्वजन्मोंके कर्म्मोंका फल है। इसके लिए उसको सन्तोपसे काम लेना चाहिये और इस जन्ममें ऐसे कर्म्म करने चाहियें कि भावी शरीरमें दुःख न झेलना पड़े।

उपर्युक्त उत्तरमें कहाँतक सत्यका अंश है यह इन प्रश्नान्तरोंके उत्तरपर निर्भर करता है—ईश्वर है या नहीं? देवगण हैं या नहीं? इस दैवी विधानके जाननेके साधन हैं या नहीं? पुनर्जन्म होता है या नहीं? यहाँपर मैं इन विवादास्पद विषयोंकी विवेचना नहीं करूँगा क्योंकि ईश्वरादि हों या न हों, मूल प्रश्न तो यह है कि मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थितिको बदल सकता है या नहीं?

यदि ऐसा माना जाय कि मनुष्य अपनी परिस्थितिका दास है, वह दैवी शक्तियोंका क्रीड़ाकन्दुक है तो फिर उन्नतिका मार्ग ही बन्द हो जाय। रोगीके लिए औपधोपचार करना, अशिक्षितको पढ़ाना, अपनी आयवृद्धिके लिए व्यवसाय करना यह सब प्रयत्न निरर्थक हो जायँ। परन्तु पागलको छोड़कर कोई भी मनुष्य इन प्रयत्नोंसे विमुख नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि सब लोगोंको ऐसा विश्वास है कि अपनी अवस्था सुधारी जा सकती है। इस विश्वासकी दार्शनिक व्याख्या चाहे जो कर ली जाय परन्तु इसीके अनुसार काम होता है। साधु-महात्मा, धर्मप्रवर्तक जो उपदेश देते हैं उसके भीतर भी यह बात मान ली गयी है कि जिसको उपदेश दिया जाता है वह यदि चाहे तो अपने जीवनके प्रवाहको पलट सकता है। परिस्थिति और प्रयत्नके सङ्घर्षमें, सम्भव

है, प्रयत्नको पूर्ण सफलता न मिलने पर कुछ तो मिलेगी ही और पूर्ण सफलताकी सम्भावना है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने प्रारब्ध या किसी दैवी विधानका पूर्णतया दास नहीं है। उसकी परिस्थिति चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो उसको उसके बदलनेकी सामर्थ्य है। वह दास नहीं वरन् स्वतन्त्र व्यक्ति है।

यह बड़े महत्त्वकी बात है। इससे मनुष्योंकी सुदशा-दुर्दशाकी कुञ्जी उनके ही हाथोंमें आ जाती है। जो बात एक व्यक्तिके लिए सत्य है वह समूहके लिए भी सत्य है। यदि एक व्यक्ति अपनी परिस्थितिको बदलनेका प्रयत्न कर सकता है तो समुदाय भी कर सकता है और समुदायके प्रयत्नमें सफलताकी भी अधिक सम्भावना है। 'संघे शक्तिः' यह बड़ा ही सच्चा सिद्धान्त है। सङ्घकी कार्यशक्ति अपने अवयवोंकी शक्तियोंका धनफल नहीं वरन गुणनफल होती है।

प्राचीन आर्य्यदर्शनने तो इस बातको बराबर ही माना है। प्रारब्ध अर्थात् पूर्वसञ्चित कर्म्मों के कुछ परिपक्व भागके संस्कारोंकी प्रधानता, अर्थात् उनके द्वारा मनुष्यकी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियोंके बँधे होनेको, स्वीकार करते हुए भी उसने मनुष्यको स्वतन्त्र माना है। दूसरे विचारकोंने ऐसा स्पष्ट कहा हो या न कहा हो पर यदि वह मनुष्यको स्वतन्त्र न मानेंगे तो फिर उसको पुरस्कार या दण्ड दिया जाना दैवी नियमोंका आततायीपन होगा। 'स्वतंत्र' का अर्थ केवल इच्छा करनेकी स्वाधीनता नहीं वरन प्रयत्न करनेकी भी स्वाधीनता है और प्रयत्नका अर्थ है सफलताकी सम्भावना।

यह मानते हुए देखना यह है कि इसके आधार पर लोगोंको उपदेश क्या दिया गया। दुःखका अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। उसका स्वरूप दिखला कर ही वैराग्य का उपदेश दिया

जाता है। दुःखकी निवृत्तिके लिए कुछ तो किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका आदेश है। उस पर हम यहाँ विचार नहीं कर सकते। उपासकोंका ऐसा विश्वास है कि उपासनासे आगन्तुक दुःख रोका और आगत दुःख दूर या कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बतलाया जाता है उसका निचोड़ है सन्तोष और आत्मसंयम।

सन्तोष न तो आनेवाले दुःखको दूर कर सकता है न आये हुए दुःखको; उसका प्रभाव वही होता है जो बेहोशीकी दवाका, अफीमका, होता है। दुःखकी चोट कम लगती है या लगती ही नहीं। यदि कोई अपनेको यह समझा सके कि मुझे दुःख सहना ही है, यह दुःख टल नहीं सकता तो फिर वह अपनेको यह भी समझायगा कि रोना व्यर्थ है, इसे शान्तिपूर्वक सह लूँ। अपनेको ऐसा समझाना उसका कर्त्तव्य हो जाता है, क्योंकि इससे दुःखकी कटुता कुछ कम हो जाती है। यदि नश्तर लगकर शरीरका कोई अङ्ग कटना ही है तो बेहोशीकी दवा सूँघकर पीड़ा तो कुछ कम कर लेनी ही चाहिये। इसी प्रकार यदि वह दुःख जिनसे इस समय मानव जगत तप्त हो रहा है, अनिवार्य्य हों तो सन्तोष ठीक ही है। 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः' की नीतिके अनुसार यदि सब प्रकारसे प्रयत्न करके भी सफलता न प्राप्त हो तो रोने-कलपनेके बदले गम्भीरतासे दुःखको सह लेना चाहिये। यह भी सन्तोषका ही स्वरूप है।

परन्तु सन्तोषका जो रूप लोगोंके सामने आता है उसका तो यह तात्पर्य है कि रोग, दारिद्र्य, विषमता, अस्पृश्यता, दासता अनिवार्य्य हैं। इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता, अतः इनके सामने सिर झुकाना ही श्रेयस्कर है।

जिस कालमें विज्ञानका शैशव था उस समय यह भाव स्यात्

ठीक रहा हो। मनुष्य प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने मिट्टीका बेबस ढेर था। पर आज यह बात नहीं है। आज तो वह प्रकृतिके बहुतसे रहस्योंको जान गया है और इस ज्ञानकी बदौलत प्रकृतिपर हुकूमत करता है अर्थात् प्रकृतिसे अपना काम निकालता है। ऐसी अवस्थामें दैन्य उसको शोभा नहीं देता। बड़े बड़े रोगोंको अपने वशमें लाकर विज्ञान आज़ लोगोंकी जीवनाशा बढ़ा रहा है। अभी ऋतुओंपर नियंत्रण नहीं प्राप्त हुआ है परन्तु यदि किसी कारणसे सारी पृथ्वीपर एक साथ ही ऋतु-प्रकोप न हो जाय तो अनावृष्टि आदि ईतियोंसे पहिले जैसा बुरा प्रभाव अब नहीं पड़ सकता। अब रही दासता, अस्पृश्यता दरिद्रताकी बात। यह बातें दैवी क्यों मानी जायँ ? मनुष्य काना, लँगड़ा, अंधा, बहरा पैदा होता है पर अस्पृश्य, दास या दरिद्र नहीं पैदा होता। हाँ, दास, अस्पृश्य या दरिद्र बने हुओंके घरमें जन्म लेने मात्रसे भले ही वह स्वयं ऐसा माना जाने लगे। पर आजकल तो जन्मान्ध, जन्मबधिर तकके सहज दोष दूर या कम हो सकते हैं, फिर मनुष्यके बनाये यह कृत्रिम दोष क्यों दूर नहीं हो सकते ? देखते देखते कई दास जातियाँ स्वतन्त्र हो गयीं। पिछले युद्धके बाद छः-सात स्वतन्त्र राष्ट्रोंकी सृष्टि हुई। मुसलमान या ईसाई बन जानेसे तो अस्पृश्यता दूर हो ही जाती थी, आजकल तो बिना सम्प्रदाय बदले भी यह दोष दूर होता जा रहा है। थोड़ेसे आन्दोलनकी कमी थी। दरिद्रता भी किसी कुल या जातिके माथेपर सदाके लिए नहीं लिखी है। यह कोई दावेके साथ नहीं कह सकता कि अमुक रोगी अवश्य अच्छा हो जायगा, अमुक दास जाति अवश्य स्वतन्त्र हो जायगी, अमुक निर्धन अवश्य धनी हो जायगा पर यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न करनेसे रोगी स्वस्थ, दास स्वाधीन और निर्धन सम्पन्न हो जाते हैं। परन्तु प्रयत्न तभी सम्भव है जब रोगी, दास

और निर्धन अपनी दशाको सदाके लिए दैवनिर्मित न समझ बैठें। उनको यह समझानेकी आवश्यकता है कि मनुष्योंका बल-प्रयोग, मनुष्योंके बनाये क़ानून, बातकी बातमें लाखों-करोड़ोंको सम्पन्न और साधिकार, लाखों-करोड़ों विपन्न और निरधिकार बना देते हैं। एक ज़माना था जब नरेशोंके हाथमें सारी शक्ति थी। उनके विरुद्ध कोई चूँ नहीं कर सकता। उनके हाथों कोई लाख सताया जाय पर उसके लिए सन्तोष ही उपाय बतलाया जाता था। आज मनुष्योंके ही प्रयत्नने नरेशोंका या तो अस्तित्व ही मिटा दिया है या उनको परकैंच कर दिया है। फ्रांसीसी क्रान्ति तथा रूसी क्रान्तिने पुराने शक्तिधरोंको मिट्टीमें मिलाकर नये समुदायोंको उनका उत्तराधिकारी बनाया। इसलिए जो दलित, प्रपीड़ित, विपन्न, अधिकार-वञ्चित है उसे सन्तोषका पाठ पढ़ाना भूल है। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य्य सिद्धि न हो तो रोना-कल्पना आत्मगौरव और बुद्धिमत्ताके विरुद्ध है। असफलताको धैर्य्यसे वहन करना जहाँतक सन्तोप है वहाँतक तो वह उपादेय गुण है, अन्यथा अपनी परिस्थितिसे असन्तुष्ट रहना, उसको बदलनेका प्रयत्न करना, ही श्रेयस्कर है। नीतिकी यह शिक्षा सर्वथा ठीक है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

जो उद्योगी पुरुष-सिंह है उसे ही श्री प्राप्त होती है, दैव देगा ऐसा तो कायर कहा करते हैं।

सन्तोषका उपदेश जो लोग देते हैं उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो तोतेकी भाँति पुरानी पोथियोंकी उक्तियाँ दुहरा दिया करते हैं। उनका तो कोई महत्त्व नहीं है, वह तो बेचारे बे-समझे-बूझे बोलते हैं पर उनके अतिरिक्त बहुतसे उपदेशक ऐसे हैं जिनका आचरण

शुद्ध दम्भसे प्रेरित है। वह धनिकोंको सन्तोषकी शिक्षा नहीं देते, शक्तिशालियोंको सन्तोषका गुण नहीं सुनाते, अपना सारा उपदेश धन और अधिकारसे वञ्चितोंके लिए रखते हैं। धनी और अधिकारी मृत्यु जैसी दो-एक विपत्तियोंको छोड़कर दूसरे अवसरपर हाथपर हाथ रखकर बैठनेको तय्यार भी नहीं होता। परन्तु वह अपने पाससे पैसे खर्च करके मन्दिर-मस्जिदमें या अपने घरपर कथा-कीर्तन कराता है और 'जनता' को उपदेशका पाठ पढ़वाता है। सरकारें भी ऐसे उपदेशकोंकी पीठ ठोंकती हैं जो लोगोंमें सन्तोषवृत्तिको स्थिर बनानेका प्रयत्न करते हैं। सन्तोषी व्यक्ति अन्याय और उत्पीड़नको चुपचाप सहता है पर सिर नहीं उठाता। उसको यह भरोसा है कि मैं अपने कुकर्मोंका फल भोग रहा हूँ, मरनेके बाद स्वर्ग या अगले किसी जन्ममें मुझे सुख मिल ही रहेगा। फिर यदि अन्यायीको दण्ड देना ही है तो जिस भगवान्ने गजकी गुहार लगकर ग्राहको मारा था वह आपही मेरी सहायता करेगा, 'राखनहार जो है भुजाचार तो का होइहै भुज द्वैके बिगाड़े'। भुजाचारको तो जो कुछ करना होगा करते होंगे पर इतना तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आजकलके ग्राह, चाहे वह महाजन, ज़मीनदार, अहलकार, सरकार जो कोई हों, निष्कण्टक मजे करते हैं। यदि वह कथावाला ग्राह सन्तोप करके जीवनसंग्रामसे विमुख हो जाता तो उसका आज कोई नाम भी न जानता।

दूसरा उपदेश आत्मसंयमका है। जिस मनुष्यको संसाराग्नि तप्त कर रही है, जो जन्ममरणके बन्धनसे मुक्त होना ही जीवनका लक्ष्य समझता है, उसके लिए वैराग्य श्रेयस्कर हो सकता है पर यहाँ हम उसके विषयमें विचार नहीं कर रहे हैं। रहा प्रश्न आत्मसंयमका। आत्मसंयम मनुष्यका भूपण है। इन्द्रियोंका

दमन और वासनाओंका शमन करना प्रत्येक समझदार मनुष्यका, जो अपने मनुष्यत्वका अनुभव करना चाहता है, कर्तव्य है। विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षमें जो सुखकी प्रतीति होती है वह अस्थिर है और उस सुखका सजातीय है जो पशुपक्षियोंको भी प्राप्त है। इसके विपरीत दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा कलाके द्वारा मनुष्य जिस आनन्दका अनुभव करता है वह इतर प्राणियोंको अलभ्य है। परन्तु इस आनन्दकी प्राप्ति उसी सीमातक हो सकती है जिस सीमातक कि मनुष्य अपनेको पाशव जीवनके ऊपर उठा सकता है अर्थात् अपने चित्तको विषयोंसे पराङ्मुख करके अन्तर्जगत्की ओर प्रेरित कर सकता है। दूसरे शब्दोंमें इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियोंपर वशी होना मनुष्योचित सुखोंकी प्राप्तिके लिए आवश्यक है। इन्द्रियोंके व्यापारका अंशतः निरोध—पूर्ण निरोधसे तो जगत्के व्यापारका ही अभाव हो जायगा—बलात् भी कराया जा सकता है। जेलका क़ैदी बहुतसे विषयोंके उपभोगसे दूर रहता है परन्तु इससे वास्तविक लाभ नहीं होता। शरीर बेकार कर दिया जा सकता है पर चित्त घूमकर वहीं पहुँच जायगा। ज़रूरत इस बातकी है कि चित्त वशमें किया जाय। इसीका नाम आत्मसंयम है। चित्तको शून्य रखनेके विफल प्रयासकी अपेक्षा उसको विषयमें लगानेसे संयममें सहायता मिलती है।

संयमके लिए संप्रदायोंने बड़ी बड़ी युक्तियाँ बतायी हैं, जिनमें न्यूनाधिक उपयुक्तता भी होगी ही पर जो लोग किसी भी विषय विशेषमें अभिरुचि रखते हैं, वह प्रायः स्वयं ही आत्मसंयमका अभ्यास करते हैं। अतः यदि लोगोंको अधिक संस्कृत, कार्यकुशल या परिष्कृतबुद्धि बनानेके उद्देश्यसे आत्मसंयमका उपदेश दिया जाय तो यह सर्वथा उचित होगा। गणित, राजनीति, साहित्य, कला, दर्शन, शिल्प, किसी भी मानसिक या शारीरिक व्यवसायमें

सफलता प्राप्त करनेके लिए आत्मसंयमकी आवश्यकता है। घोर नास्तिक और अनीश्वरवादी भी अपने अपने क्षेत्रमें सिद्धिके लिए आत्मसंयमका अभ्यास करते हैं।

परन्तु जो लोग आत्मसंयमकी शिक्षा देते हैं उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष उतने ही बेईमान हैं जितने सन्तोषका उपदेश देनेवाले। वह ग़रीबों और दुर्बलोंको ही आत्मसंयम सिखलाते हैं, धनिकों और बलवानोंको नहीं। विषयपरता छोटेके लिए दूषण है, बड़ेके लिए भूषण। इस प्रकारका आत्मसंयम वास्तविक आत्म-संयमकी भाँति हितकर नहीं होता वरन् उलटे दम्भ फैलाता है।

जहाँ विपन्नोंको सन्तोष और आत्मसंयमका उपदेश दिया जाता है वहाँ उनके स्वामियोंको दानकी शिक्षा दी जाती है। उनसे यह कहा जाता है कि जो नंगे, भूखे, निराश्रय, रोगी हों उनकी यथाशक्य सहायता करो।

प्रत्युपकारका विचार हृदयसे निकालकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे जो दान दिया जाता है वही उत्कृष्ट दान है। जो आपन्न है, दुर्बल है, उसको सहायता करना मनुष्यकी शोभा और उसका एक स्वाभिविक गुण है। स्वयं कष्ट उठाकर भी लोग दूसरेकी सहायता करते हैं। इससे उसका काम तो निकलता ही है जिसकी सहायता की जाती है, सहायता देनेवालेको भी लाभ पहुचता है। उसके चारित्रका विकास होता है। कमसे कम थोड़ी देरके लिए वह अहम् और ममकी सङ्कुचित परिधिके बाहर निकलकर दूसरेके सुख-दुःखका अनुभव करता है, दूसरेके साथ तन्मयता प्राप्त करता है। अतः जहाँतक इस शुद्ध सात्विक भावसे दान दिया जाता है वह अच्छी चीज है।

परन्तु व्यक्तियोंमें ऐसा भाव भले ही हो, आजकल और आजकल ही नहीं प्राचीन कालमें भी दानकी तहमें एक और

बात थी। भेद इतना ही है कि आज वह बात अधिक स्पष्ट हो गयी है। धनिक समुदाय जानता है कि निर्धनोंकी संख्या अधिक है। उसे यह भी पता है कि निर्धन असंतुष्ट हैं। वह यह भी समझता है कि सन्तोष और आत्मसंयमकी लाख शिक्षा दी जाय, सहनकी भी एक सीमा होती है। अतः एक दिन बाँध टूट जायगा और निर्धन आक्रमण कर बैठेंगे। उस समय राजकी शक्ति लगाकर चाहे उन्हें एक बार दबा भी दिया जाय पर जीत अन्तमें उनकी ही होगी, क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक है। यह अवस्था धनिक समुदाय लाने नहीं देना चाहता। इसलिए वह समय समयपर निर्धनोंके सामने टुकड़े फेंकता रहता है। इन टुकड़ोंकी बदौलत उनका असन्तोष उबलने नहीं पाता। इस टुकड़ा फेंकनेका नाम दान है। बड़े बड़े लक्ष्मीपुत्र जानबूझकर ऐसा दान करते हैं, कम समझवाले उनका अनुकरण करते हैं और अपने को यह प्रतारणा दे लेते हैं कि हम सचमुच उदार भावसे प्रेरित होकर दान दे रहे हैं, परन्तु वस्तुतः दान अमीरोंके लिए एक प्रकारका बीमा है, जो ग़रीबोंके असन्तोषको सक्रिय विद्रोहका रूप धारण करनेसे रोकता है। यह दान व्यक्तिके उदार हृदयका परिचायक नहीं, सम्पन्न समुदायकी स्वरक्षार्थ निर्मित संस्था हो जाता है। दान 'दातव्यमिति' शास्त्रीय आदेशके अनुसार नहीं दिया जाता प्रत्युत उसको अपनी नाम-बड़ाईका साधन तो बनाया ही जाता है, यह हिसाब लगा लिया जाता है कि इससे आगे चलकर कितना काम निकलेगा। जो सचमुच उदारहृदय हैं उनकी निन्दा करना मेरा उद्देश्य नहीं है, परन्तु यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि दानका परिणाम और एक प्रधान लक्ष्य दरिद्रोंके उचित असन्तोषको दबाना रहा है। जो टुकड़े उनके सामने फेंके जाते हैं उनसे दाताओंको कोई

कष्ट नहीं होता, न उनके चरित्रका कोई विकास होता है। वह तो ऊपरकी बचतमेंसे उसी प्रकार दिया जाता है जिस प्रकार बीमा कम्पनीकी किस्त। जिस तरह व्यापारका संघटन है, उसी प्रकार दान भी संघठित है। कौन दे, कितना दे, किसके कहने पर दे इन सबके नियम हैं। इस महायुद्धकालमें जिन व्यापारियोंने चोरबाज़ार में करोड़ों रुपया कमाया है उनके ही यहांसे सरकार और राजनीतिक नेताओंको प्रसन्न करनेके लिए विभिन्न दानकोषोंमें लाखों रुपये मिल रहे हैं।

इसीसे मिलती जुलती वह सलाह है जो महात्मा गांधी धनिकोंको दिया करते हैं। उनसे कहा जाता है कि बहुतोंकी कौड़ी कौड़ी जुड़कर यह तुम्हारी धनराशि एकत्र हुई है। इसलिए तुम अपनेको इसका एकमात्र स्वामी मत समझो। तुम्हारा इसके साथ वही सम्बन्ध है जो किसी नाबालिगकी सम्पत्तिके साथ उसके अभिभावकका होता है। तुम रखवाली करनेके लिए उचित पारिश्रमिक ले सकते हो पर यह थाती तो उसीके हितके लिए खर्च होनी चाहिये जिसकी यह है। कुछ भारतीय समझते हैं कि यह कोई नयी उपज है पर वस्तुतः यह बहुत पुराना उपदेश है। न केवल भारत वरन् अन्य देशोंके भी ऋषि, मुनि, धर्म्माचार्य्य ऐसी ही बातें करते आये हैं।

इसके सम्बन्धमें कई बातें विचारणीय हैं। पहिली आपत्ति तो यह है कि श्रुतिमधुर होने पर भी इसपर चलनेको कोई तय्यार नहीं है। मुँहसे हाँ हाँ कह देना दूसरी बात है पर कोई धनिक यह माननेको प्रस्तुत नहीं है कि जो सम्पत्ति उसके कब्जेमें है वह उसकी नहीं प्रत्युत लाखों निर्धनोंकी धरोहर है। व्यासजीने इसी से घबराकर कहा था—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्म्मः किं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर चिल्लाता हूँ कि धर्म्मसे ही अर्थ और कामकी सिद्धि होती है फिर धर्म्मका सेवन क्यों नहीं किया जाता, पर कोई मेरी बात नहीं सुनता। इस बातकी कोई आशा नहीं है कि आजके धनिक पहिलेके धनिकोंसे अधिक धार्म्मिक हैं। एक और बात है। यदि कोई एकाध व्यक्ति इस सीखपर चलनेवाला निकल भी आया तो भी अधिक संख्या तो उन्हीं लोगोंकी होगी जो धन और अधिकारको अपनी सम्पत्ति समझेंगे। इन लोगों को दण्ड देनेकी तो कोई व्यवस्था है ही नहीं, यह बे-रोकटोक मुनाफ़ा करेंगे और अपने अधिकारकी वृद्धि करते जायँगे। इनके सामने वह बेचारे जो सम्पत्तिको जनताकी धरोहर समझेंगे, घाटे में रहेंगे। अतः चार दिन भी यह व्यवहार टिक न सकेगा।

दूसरे वह अभिभावकवाला दृष्टान्त यहाँ घटता भी नहीं। अभिभावक उसी समयतक काम करता है जबतक कि सम्पत्तिका स्वामी अपनी जायदादको सँभाल नहीं सकता पर यहाँ तो धनिक-समुदाय ही धनको खर्च करेगा, जिन लोगोंकी थाती वह धन है उनके हाथमें यह कभी भी नहीं आनेवाला है। वह चाहे कितना भी उदार क्यों न हो पर अपनी बुद्धिसे ही काम लेगा। ऐसी दशामें मीठे मीठे शब्दोंके होते हुए भी वस्तुतः सारा व्यवहार वैसाही होगा जैसा कि सम्पत्तिको अपनी माननेवालोंका होता है।

यदि थोड़ी देरके लिए मान लिया जाय कि धनिक लोग अधिक उदारता बतरने लगेंगे तब भी क्या होगा? अधिकसे अधिक इतना हो सकता है कि निर्धनोंको रोटीके दो टुकड़े मिल जायँ और उनके साथ कुछ अधिक सहानुभूति दिखलायी जाय। पर

वह रहेंगे दरिद्र और अधिकारवञ्चित ही। महात्मा गांधीने स्वयं कहा है कि जिस स्वराज्यकी वह कल्पना करते हैं उसमें राजा और रङ्क दोनोंके न्याय्य स्वत्वोंकी रक्षा होगी अर्थात् उसमें राजा और रङ्क यानी अधिकारयुक्त और अधिकारविहीन, सम्पन्न और भिखमङ्गे दोनों ही होंगे।

साधारणतः धर्म्माचार्य्योंने जो उपाय बतलाये हैं वह यहीं तक आते हैं। दीन-दुःखियोंकी दशाका कुछ सुधार हो जायगा। दरिद्र यदि आत्मसंयमसे काम लेंगे तो उनकी आवश्यकताएँ कम हो जायँगी। बहुत थोड़ेमें उनका काम चल जायगा। उधर उनको सन्तोषी बनानेका भी उपदेश दिया जाता है। इससे यह होगा कि वह यदृच्छालाभतुष्ट रहेंगे। जो कुछ थोड़ा बहुत मिल जायगा उसीपर सन्तुष्ट हो जायँगे। इसका तात्पर्य यह है कि विषमता रहेगी परन्तु विषमताके शिकारोंको ऐसी शिक्षा दी जायगी कि उन्हें अपनी कुदशाको बदलनेकी इच्छा ही न हो वरन् वह अपनी अवस्थाको कष्टमय होते हुए भी अपने लिए श्रेयस्कर समझें। उधर धनीमानी लोग भी दानी हों अर्थात् उदारतासे अपार धनराशिमेंसे कभी कभी गरीबोंकी ओर भी टुकड़ फेंक दिया करें। इसमें उनको तो कोई विशेष कष्ट न होगा परन्तु दरिद्रोंकी तात्कालिक मुसीबत कुछ कम हो जायगी और इन सौभाग्यशाली व्यक्तियोंपर क्रोध करनेके स्थानमें वह कृतज्ञ होंगे। इसी उपायसे हिन्दुओंकी ऊँची जातियोंने करोड़ों मनुष्योंको अस्पृश्य बना रखा है। अभी चार दिनकी बात है कि भारतवासी अपनी दासतापर मस्त होकर माँ-बाप सरकारके फेंके हुए टुकड़ोंके लिए सौ-सौ जानसे न्योछावर होते थे। 'जादू वह जो सिरपे चढ़के बोले'—इन्हीं उपदेशोंके बलपर बलियोंकी सत्ता बनी हुई है।

अतः यह स्पष्ट है कि यह उत्तर हमारे प्रश्नका समीचीन उत्तर नहीं है। प्रायः सभी सम्प्रदायों और धर्म्माचार्य्योंने किसी न किसी रूपमें इसीका प्रतिपादन किया है। पर यह अपर्याप्त है इस उपायसे आध्यात्मिक उन्नति भले ही होती हो, वैषम्यजनित कटुता कुछ घट जाती हो, संघर्षकी सम्भावना कम हो, पर मूल परिस्थिति जिसको देखकर हमारे प्रश्न उठे थे ज्योंकी त्यों रहती है। धनी और निर्धनका भेद बना रहता है, धन और अधिकारके लिए प्रतियोगिता बनी रहती है। मीठे-मीठे शब्द बीचमें आ जाते हैं पर शोषक और शोषित, पीड़क और पीड़ितका अस्तित्व बना रहता है। यह मानना भूल है कि बिना परशोषणके विपुल धन इकट्ठा किया जा सकता है। जैसा कि महाभारतमें कहा हैः—

नाच्छित्वा परमर्म्माणि, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरेके मर्म्मस्थानका छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म्म किये, बिना मछुवाहेकी तरह निर्दय होकर हिंसा किये, महती श्री प्राप्त हो ही नहीं सकती।

परन्तु हमने तो यह समस्या रखी थी कि वैषम्य दूर हो जाय, सुख सबको प्राप्त हो। इसका प्रबन्ध इस धार्मिक उत्तरमें नहीं है। बड़ी भारी कमी इसमें यह है कि किसी प्रकारका सङ्गटन नहीं है। उपदेश कैसे ही अच्छे क्यों न हों पर मनुष्योंको उनके अनुसार चलानेकी या न चलनेवालेको दण्ड देनेकी कोई व्यवस्था नहीं है और न ऐसे भौतिक वातावरणको उत्पन्न करनेकी कोई व्यवस्था है जिसमें इस पथपर चलनेमें सुविधा अनुभव हो।

वर्णाश्रम धर्म्म

इस प्राचीन उत्तरके अतिरिक्त दो-तीन और भी हैं। इनमें सबसे पुराना, गम्भीर और विचारणीय वह है जिसका आविष्कार भारतमें हुआ था। संक्षेपमें इस उत्तरका नाम है 'वर्णाश्रम धर्म्म'। भारतीय दर्शन और संस्कृतिका दम भरनेवाले बड़े बड़े प्राच्यविद्याविशारदोंने भी आज इस धर्म्मके तत्त्वको समझने-समझानेका प्रयत्न छोड़ दिया है। जो पुरानी रूढ़िके क्रीतदास पण्डित हैं वह तो स्मृतियोंके शब्दोंको पालतू तोतोंकी भाँति दुहराना जानते हैं। उनकी एकमात्र धारणा यह है कि वर्णाश्रम धर्म्म सर्वश्रेष्ठ है और आजकलकी परिस्थितिमें भी उसे हठात् मनवानेमें ही जगत्‌का कल्याण है। वह एक एक शब्दको, एक एक शब्दकी पुराने टीकाकारों द्वारा की हुई व्याख्याको, ज्योंका त्यों रखना चाहते हैं। वह लोग शब्दप्रमाणके आधारपर चलते हैं, इसलिए इस बातका प्रयत्न भी नहीं करना चाहते कि तर्क द्वारा वर्णाश्रम धर्म्मकी महत्ता सिद्ध करें। उनके लिए 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्म्मं वेद नेतरः' (जो तर्कके द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म्मको जानता है, दूसरा नहीं) का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जिन्होंने यह मान लिया है कि वर्तमानकालमें स्मृतिसम्मत वर्णाश्रम धर्म्म अव्यवहार्य्य ही नहीं हानिकारक और राष्ट्रके लिए घातक है, अतः जितनी जल्दी इसका नाम मिट जाय उतना ही अच्छा होगा।

इन दोनों वर्गोंसे भिन्न वह लोग हैं जो ऐसा मानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म्म जिन मनोवैज्ञानिक आधारोंपर अवलम्बित है वह नित्य हैं अतः इस धर्म्मके मूल सिद्धान्त नित्य और अटल हैं

परन्तु देशकाल-पात्रके अनुसार इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या और व्यावहारिक रूपमें हेरफेर करना आवश्यक है। यदि बुद्धिसे काम लिया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म्म हमारी सारी समस्याओंको सुलझा सकता है। जो लोग इस विचारके हैं उनमें श्रीभगवान्दासजी अग्रगण्य हैं। मनुस्मृतिका आपने जो अनुशीलन किया है वह अपूर्व है और शिक्षित जनताके सामने, वह भी न केवल भारत प्रत्युत विदेशोंमें भी, वर्णाश्रम धर्म्मको वर्तमान् जगत्की बुराइयोंके दूर करनेका एक मात्र साधनके रूपमें रखनेका श्रेय आपको ही है। अपनी पुस्तक 'एंशेण्ट वर्सस माडर्न साएण्टिफ़िक सोशलिज़्म' में आपने इसका जिस प्रकार निरूपण किया है हम उसीको अपना आधार मानकर चलेंगे।

यह जगत् द्रष्टा और दृश्य—अहम् और अनहम्, मैं और न-मैं—के साहचर्य्य का फल है। दृश्य त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्, रज और तमोगुणमय है। द्रष्टा जब उसके साथ सम्बद्ध होता है या होता प्रतीत होता है तब उसे सुख-दुःखात्मक भोगकी प्राप्ति होती है, उसकी ओरसे पराङ्मुख होने पर उसे मोक्षका अनुभव होता है। इसीलिए सांख्याचार्य्योंने दृश्यको पुरुषके 'भोगापवर्गार्थम्' कहा है। द्रष्टा न सुखी है न दुःखी, न राजा है न रङ्क, न लोभी है न त्यागी। उसमें यह सब गुण दृश्यके कारण उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जिस प्रकार भाँति भाँतिकी रङ्गीन वस्तुओंके सामने आनेसे श्वेत स्फटिकमें तत्तत् रङ्गकी प्रतीति होती है। द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध अनादि है। इस अनादि सम्बन्धके कारण द्रष्टा असंख्य शरीरोंको धारण करता और उनमें असंख्य शुभाशुभ कर्म्म करता चला आया है। इस अविच्छिन्न कर्म्मप्रवाहके कारण किसी शरीर विशेषमें सत्, किसीमें रज और किसीमें तमकी विशेष अभिव्यक्ति होती है, शेष गुण दबे-से रहते

हैं। इन प्राकृत संस्कारोंके कारण ही इन शरीराभिमानी द्रष्टाओं अर्थात जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। यों तो षट्-विकार काम, क्रोध, लोभ इत्यादि सभीमें पाये जाते हैं परन्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें इनकी मत्राएँ भिन्न भिन्न होती हैं। जितनी इच्छाएँ मनुष्योंको होती हैं उनको 'एषणा' कहते हैं। एषणाएँ यों तो सहस्रों प्रकारोंकी हो सकती हैं परन्तु उनको तीन मुख्य वर्गोंमें डाल सकते हैं; पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा। मेरी सन्ततिका उच्छेद न हो, संसारमें मुझे मानमर्य्यादा-प्रतिष्ठा प्राप्त हो और मेरे पास सम्पत्ति रहे इन्हीं तीन बातोंके लिए मनुष्यके सारे प्रयत्न होते हैं। यों तत्त्वदृष्ट्या यह तीन भी एक ही सूत्र बँधी हुई हैं। सन्ततिमें भी मनुष्य अपनेको देखता है—आत्मावै जायते पुत्रः। सन्ततिकी वृद्धिमें अपनी वृद्धिका अनुभव होता है वित्त और मानमर्य्यादा तो अपने लिए होती ही है। अतः इन सब एषणाओंमें अपने ही उत्कर्षकी इच्छा निहित है। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद्‌में याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि पुत्रादि अपने लिए नहीं किन्तु आत्माके लिए प्रिय होते हैं। जहाँ तक उनके साथ तन्मयता होती है वहाँ तक उनमें सुखका अनुभव होता है। आत्मविस्तारमें जहाँ सफलता होती है वहाँ सुख और जहाँ आत्मसंकोच (अर्थात् आत्मविस्तारमें बाधा) होता है वहाँ दुःखका अनुभव होता है। सुख और दुःखके अनुशायी राग और द्वेष हैं अर्थात् जो सुख देता है उसके प्रति राग और जो दुःख देता है उसके प्रति द्वेष होता है।

एषणाओंके लिए तीन मार्ग हैं। एक मार्ग तो भोगका है। एषणाओंके अनुसार काम करके इनको तृप्त करना ही भोग है। पर इसमें एक कठिनाई है। भोगसे एषणाओंकी ज्वाला उसी प्रकार बढ़ती है जैसे घी देनेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है।

शरीर निकम्मा हो जाय पर भोगकी लिप्साका शमन नहीं होता। भर्तृहरिके शब्दोंमें 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'। भोगसामग्रीके संग्रहके प्रयत्नमें, भोग-कलामें और भोगके उपरान्त यदि कुछ सुखका अनुभव होता भी हो तो वह दुःखमिश्रित है। जैसा कि पतञ्जलिने कहा है 'सर्वं दुःखमयं विवेकिनः'। दूसरा मार्ग यह है कि जो मानसिक और शारीरिक शक्ति एषणाओंकी तृप्तिमें व्यय होती है, वह दूसरे कामोंमें लगायी जाय। आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता इसे उन्नमन कहते हैं। भक्ति, वाङ्मय, कला इन सबकी उन्नति इसी प्रकार हुई है। योगसिद्धिके लिए भी ऊर्ध्वरेता होने—कामशक्तिको योगसंवेगमें परिणत करने—की आवश्यकता है। यह मार्ग सर्वोत्तम है पर सुकर नहीं है। सब इसपर चल नहीं सकते। फिसलनेका डर रहता है। तीसरा मार्ग एक और है। कुछ लोग हठात् एषणात्मक भावोंको दबानेका प्रयत्न करते हैं। इस तामस तपसे उनको एषणाओंपर विजय को प्राप्त होती नहीं, उलटे उनका सारा जीवन दूभर हो जाता है। जो भाव दबाये जाते हैं वह रह रहकर मनमें उठते हैं। सामनेसे हटा भी दिये जायँ तो मास्तिष्कमें दबे पड़े रहते हैं और जीवनकी सारी क्रियाओंको अपने रँगमें रँगते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति सदैव मलिनवदन और क्षुब्धचित्त रहता है। उसके स्वप्नतक इन दबे विचारोंके द्वारा दूषित होते रहते हैं। अतः यह मार्ग श्रेयस्कर नही है। इन्हीं बातोंको देखकर बुद्धदेवने 'मध्यम मार्ग', श्री कृष्णने 'युक्ताहारविहार' रहनेका उपदेश दिया है। साधारण मनुष्यके लिए यही हितकर है कि वह अपनी प्रवृत्तियोंको नियंत्रित करे, कुछ दूरतक भोग हो और कुछ दूरतक शमदम।

जो बात व्यक्तियोंके लिए लागू है वही व्यक्तिसमूहोंके लिए

भी ठीक है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी वित्तादि एषणाओंको निरंकुशरूपसे तुष्ट करनेकी चेष्टा करने लगे, तो यह पृथ्वी पूरी वनस्थली बन जाय। इसलिए राष्ट्रोंके आभ्यन्तर और अन्ताराष्ट्रिय जीवनको नियंत्रित करनेकी नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकारके नियंत्रणके अभावके कारण ही आज मनुष्योंकी ऐसी भीषण दुर्दशा हो रही है।

वर्णाश्रम धर्म्म वैयक्तिक और सामूहिक जीवनके नियंत्रणका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आर्य्य महर्षियोंने यह देखा कि वित्त और लोक-एषणाओंकी तृप्ति धन, अधिकार और प्रतिष्ठा द्वारा होती है। उन्होंने यह भी देखा कि एक ही व्यक्तिमें तीनों महा-विद्याओं—लक्ष्मी, सरस्वती और काली—की शक्तियोंका केन्द्री-भूत होना ठीक नहीं है। जो धनवान् हो, वह शक्तिशाली और प्रतिष्ठाभोगी भी हो यह समुदायके लिए बड़ा ही अहितकर होगा। एक तो मात्स्यन्याय यों ही चल रहा है, बड़ा छोटेको खाये डालता है, पर जब दूसरेको शोषित करनेके इतने साधन एक ही व्यक्तिमें सन्निहित हो जायँगे तब तो निर्धनों और निर्बलोंका कहीं ठिकाना न रहेगा। इसलिए उन्होंने जनताको चार विभागोंमें बाँटा। यह विभाजन कृत्रिम नहीं था, मनुष्यकी सहज प्रवृत्तियोंको देखकर किया गया था। इसीलिए यद्यपि आज इसका थोड़ा बहुत पालन केवल भारतमें ही हो रहा है पर धर्म्माचार्योंके मतानुसार मनुष्यमात्र प्रकृत्या चार वर्णोंमें विभक्त हैं। गीतामें श्री कृष्णने कहा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्म्म-विभागशः'—मैंने गुणकर्म्मको देखकर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की। सबसे पहिले शूद्रवर्ण है। इसमें वह अपरिपक्व जीव हैं जिनको अभी अपनेसे उत्कृष्ट लोगोंके संसर्गमें रहकर पावन और संस्कृत बनना है। यह लोग शारीरिक या निम्नकोटिका मानसिक श्रम करके

समुदायकी सेवा करते हैं। इनके बाद वैश्यवर्ण है। यह लोग धन उपार्जन करते हैं। इनका उद्देश्य समुदायको समृद्ध करना होता है। तीसरा वर्ण क्षत्रियोंका है। 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः'—जो समुदायकी रक्षा करता है, शासन करता है, वह क्षत्रिय है। अन्तमें ब्राह्मण वर्ण है। ब्राह्मण तपोनिष्ठ और विद्वान् होता है। वह दूसरे वर्णोंको धर्म्ममार्गपर रखता है, समुदायका शिक्षक है और उसके समस्त जीवनपर नियंत्रण रखता है। ब्राह्मण सबसे अधिक प्रतिष्ठा पाता है, उसको भूदेवकी पदवी प्राप्त है पर न उसके हाथमें अधिकार है न धन। क्षत्रियके पास अधिकार है और वैश्यके पास सम्पत्ति। जो लोग अभी इन शक्तियोंका उपयोग करने योग्य नहीं हैं वह शूद्रवर्णीय हैं। चारके अतिरिक्त कोई पाँचवाँ विभाग हो नहीं सकता; मनुके शब्दोंमें 'पञ्चमोनैव विद्यते'। आजकल प्राचीन व्यवस्था बिगड़ गयी है, इसलिए ऊँच-नीचका भाव उत्पन्न हो गया है और चारके स्थानमें सैकड़ों वर्ण-उपवर्ण देख पड़ते हैं। परन्तु सिद्धान्त-दृष्टिसे वर्णोंमें उतना ही ऊँचा-नीचापन है जितना शरीरके अवयवों में। शरीरके लिए सभी अवयव आवश्यक हैं। सबके ठीक ठीक काम करनेपर ही शरीरका स्वास्थ्य और उसका सुचारु सञ्चालन निर्भर है। फिर भी महत्तामें थोड़ा बहुत भेद है। मस्तिष्कको उत्तमांग कहते हैं। और अंगोंमें थोड़ा बहुत विकार आ जाने पर भी काम चल सकता है परन्तु मस्तिष्कके बिगड़नेसे तो मनुष्यका मनुष्यत्व ही लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अवयवोंका भी सापेक्ष महत्त्व है। ऐसा ही सम्बन्ध वर्णोंमें है। श्रुतिने ब्राह्मणादिको भगवान्के विराट् स्वरूपका अवयव बतलाया ही है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत ॥

ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय बाहुद्वय, वैश्य ऊरुद्वय और शूद्र पदस्थानीय है। ब्राह्मण बड़ा भाई है, शेष क्रमात् उससे छोटे भाई हैं।

यदि इस प्रकार सामूहिक जीवनका सञ्चालन किया जाय तो वह बुराइयाँ जो वर्तमान काल में देख पड़ती हैं, लुप्त हो जायँगी। जो धन उत्पन्न करने वाले हैं वह धन उत्पन्न करेंगे परन्तु राजका शासन या सर्वोपरि प्रतिष्ठा न पा सकेंगे। जो शासनकर्ता हैं वह अपनी भृति मात्र ले सकेंगे, अधिकारके द्वारा धन न बटोर सकेंगे। इन दोनों वर्गोंपर नियंत्रण रहेगा ब्राह्मणों का अर्थात् वृद्ध, तपस्वी, निःस्वार्थ विद्वानोंका, जिनको न धनसे सरोकार होगा न शासनाधिकारसे। इनके दबावसे न तो क्षत्रिय अपने अधिकारका दुरुपयोग कर सकेंगे, न वैश्य अपने धनका। अधिकार और धनका उपयोग समुदायकी सेवाके लिए होगा और शेष सभी वर्ण शूद्रोंको, जिनके श्रमके आधारपर समुदायका जीवन निर्भर होगा, अन्न-वस्त्रादिसे परितुष्ट रखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। ऐसी सुसंघटित योजनाके रहते हुए एकके द्वारा दूसरेका शोषण हो ही नहीं सकता। यह सम्भव है कि पुत्र पिताके आचरणका अनुकरण करे पर वर्णोंका भेद जन्मना नहीं कर्म्मणा होगा। जिसका जैसा गुण-कर्म्म-स्वभाव देखा जाय वह प्रौढ़ होने पर उसी वर्णमें रखा जायगा। सामूहिक जीवन की भाँति वैयक्तिक जीवनके नियमनकी भी आवश्यकता है। यह नियमन आश्रम-धर्म्म द्वारा होता है। जिस प्रकार सामूहिक जीवनमें चार वर्ण हैं, उसी प्रकार वैयक्तिक जीवनमें चार आश्रम हैं। पहिला ब्रह्मचर्याश्रम है। यह प्रायः चौबीस वर्षके वय तक जाता है। इसमें विद्याध्ययनके द्वारा आगेके लिए तय्यारी की जाती है। इसके पीछे गार्हस्थ्य है। इसमें अपनी तीनों ही एषणाओंको भोग द्वारा तृप्त करनेका प्रयत्न

किया जा सकता है परन्तु यहाँ भी बन्धन रखे गये हैं। किसके साथ विवाह करना, कैसे विवाह करना, इस विषय में मनमानापन नहीं है। किस वर्णवाला कौन व्यापार कर सकता है, यह भी निश्चित है। अपनी आयका कमसे कम कितना अंश दान अर्थात् लोकसेवाके लिए लगाना चाहिये, इसका भी विधान है। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। प्रायः पचास वर्षके वयमें घर का प्रबन्ध लड़केको सौंप कर इस आश्रम में प्रवेश होता है। वनस्थ रुपया कमाना छोड़ देता है। उसके भरण-पोषण का भार उसके पुत्रादि-पर होता है पर वह अपने परिपक्व अनुभव द्वारा समुदायकी सेवा करता है। चतुर्थ आश्रम सन्यास है जिसमें व्यक्ति वर्णधर्मोंका अतिक्रमण करके अनिकेतन स्वच्छन्द घूमता है और स्वयं मोक्ष-प्राप्तिके उपायमें संलग्न रहता हुआ अपने धार्म्मिक उपदेशसे दूसरों को भी उस मार्गकी ओर ले चलता है।

आजकल वर्णों और आश्रमोंका घोर व्यभिचार है। अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले शूद्रकर्म्मा देखे जाते हैं और शूद्र कहे जाने वालोंमें ब्रह्मस्वभाववाले पुरुष पाये जाते हैं। विद्यार्थीजीवनमें रुपया कमाना आरम्भ होता है और यह परम्परा बुढ़ौतीतक चली जाती है। ब्रह्मचर्य्याश्रम आरम्भ नहीं होने पाता कि गृहस्थाश्रम लग जाता है। प्राचीन महर्षियोंने न कहीं वर्णोंके अधिकारोंका नाम लिया है न आश्रमों के। उन्होंनें केवल धर्म्मोंका, कर्त्तव्योंका चर्चा किया है। ब्राह्मणको यह करना चाहिये, गृहस्थ-को यह करना चाहिये, ऐसे ही वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं। यदि सब अपने कर्त्तव्योंका पालन करें तो सबको अपने अपने अधिकार आप ही मिल रहेंगे। पर आज सबको अपने अधि-कारोंकी ही धुन है। मुझे यह करना चाहिये इसे तो लोग भूल गये हैं, दूसरोंको मेरे प्रति ऐसा बर्ताव करना चाहिये यह

स्मरण है। धन और अधिकारके लिए वर्ण वर्णकी, आश्रम आश्रमकी अनियंत्रित घुड़दौड़ है। इसीसे यह अशान्ति और दुरवस्था है।

श्रीभगवान्‌दासजी बराबर कहते आ रहे हैं कि यह योजना सर्वथा व्यवहार्य है। सारी बुराइयोंकी जड़ वही सनातन मानस विकार—षड्रिपु, रागद्वेष, एषणा, वासना—हैं अतः उनकी औषध भी वही है। ब्योरेकी बातोंमें भेद होगा पर मूल ढाँचा वही होगा जिसका निर्देश प्राचीन शास्त्रकार, मुख्यतः मनु, कर गये हैं। मनुप्रोक्त पद्धति सभी देशों और कालोंके लिए उपयुक्त है। वह आर्योंके लिए पहिले अवतरित हुई पर जब स्वयं वेद कहता है कि 'कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम्,' तब तो उसका क्षेत्र सारे विश्वमें है।

परन्तु आज तो वर्णोंका घोर व्यभिचार है। प्रत्येक तथोक्त वर्णमें ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जिनमें न तो उस वर्णके अनुरूप गुणशील है, न जीविका। अतः मनुष्य-जगत्‌का पूरा मन्थन करना होगा। सैकड़ों वर्णोंको हटाकर पुनः चार वर्ण स्थापित करने होंगे और प्रत्येक व्यक्तिके लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ निकालना होगा अर्थात् जो जिस गुणकर्मवाला होगा उसको उस वर्णमें रखना होगा। एक बार जब लोग इस प्रकार बँट जायँगे तब आगेके लिए सुगमता हो जायगी। फिर सामूहिक और वैयक्तिक जीवनका नियंत्रण होता रहेगा।

प्रश्न यह होता है कि यह पुनर्व्यूहन कैसे होगा। एक उपाय यह हो सकता है कि राज अपने ऊपर इस कामको ले और सरकारी कर्मचारियों द्वारा जाँच-पड़ताल करके लोगोंको वर्णोंमें बाँटे तथा आगे भी ऐसा प्रबन्ध करे कि लोगोंके गुणकर्म्मकी बराबर जाँच होती रहे और वह उपयुक्त सूचियोंमें सम्मिलित

किये जाते रहें। यह काम कठिन है। आजकल किसी राजके अधिकारी स्यात् इन विचारोंको पूरा पूरा मानते ही नहीं। सनातन धर्म्मके नामपर पेट पालनेवाले कुछ पंडित तो ऐसा चाहते हैं कि राजदण्डके जोरपर वर्ण-व्यवस्थाका वर्तमान रूप स्थिर रखा जाय अर्थात् ब्राह्मण नामधारियोंकी महत्ता और तथाकथित हीन वर्णोंकी हीनता बनी रहे पर श्री भगवान्दासजी ऐसा नहीं चाहते। उनकी यह इच्छा है कि विद्वान्, तपस्वी, लोकहितैषी, निःस्वार्थ व्यक्ति अपने ऊपर यह काम लें और निरन्तर उपदेश और परामर्शके द्वारा लोगोंको समझाकर यह व्यवस्था प्रचलित करावें।

मुझे विश्वास है कि मैंने वर्णाश्रमधर्म्मका जो चित्र खींचा है वह निष्पक्ष और ठीक है। जिस विस्तारके साथ मैंने उसका निरूपण किया है वह अनुचित नहीं है क्योंकि अबतक वर्णाश्रम-धर्म्मके सिवाय समाज-संघटनकी दूसरी सर्वाङ्गीन योजना हमारे सामने नहीं आयी है। चाहे किसी भी समयमें इसपर पूरा पूरा काम न हुआ हो पर जिन लोगोंने योजना बनायी है उन्होंने इसको निर्दोष और सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेका पूरा प्रयत्न किया है।

फिर भी हमको दुःखके साथ कहना पड़ता है कि यह योजना भी हमें अपर्य्याप्त और आजकलकी परिस्थितिको सँभालनेके लिए अनुपयुक्त प्रतीत होती है। ऐसा कहकर हम मनु या अन्य किसी प्राचीन शास्त्रकारके प्रति असम्मान नहीं व्यक्त कर रहे हैं। केवल वस्तु-स्थिति हमको यह कहनेपर विवश करती है कि उनकी योजनासे आज हमारा काम नहीं चल सकता।

यह सत्य है कि सब मनुष्य एक ही गुण-स्वभाववाले नहीं होते, यह भी सत्य है कि सब एक ही प्रकारकी जीविकाके योग्य नहीं होते, यह भी सत्य है कि एषणाओंकी तुष्टिका नियंत्रण होना

चाहिये। इसमें सन्देह नहीं है कि एक ही व्यक्तिमें धन, बल और प्रतिष्ठाका केन्द्रीभूत होना अच्छा नहीं होता। यह भी निर्विवाद है कि समूहके जीवनकी देखरेख निःस्वार्थ, विद्वान, तपस्वी व्यक्तियोंके हाथमें होनी चाहिये। परन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी आज चातुर्वर्ण्य-विभागकी उपयुक्तता सिद्ध नहीं होती। मनुष्योंका विभाग केवल मनोविज्ञानके आधारपर नहीं किया जा सकता। आर्थिक और राजनीतिक वस्तुस्थित, चाहे वह हमारी समझमें गर्हित ही क्यों न हो, भुलायी नहीं जा सकती। जिस प्रकार अधिकांश मनुष्योंके कर्म्म अशुल्काकृष्ण अर्थात् पाप-पुण्य मिश्रित होते हैं, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य वित्त, मान और अधिकार तीनों ही चाहते हैं अतः उनको पृथक् कक्षाओंमें डालना कठिन होगा। और भी कठिनाइयाँ हैं। बहुतसे ऐसे पद हैं जिनमें शासन भी होता है और व्यवस्थापन भी। उनपर जो लोग नियुक्त होंगे वह ब्राह्मण कहलायँगे या क्षत्रिय? धन उपार्जन करनेका क्या अर्थ है? जो स्वयं खेती करता है या गऊ पालता है, या दूकानपर बैठता है और अपना पेट काटकर पूँजी जमा करके उसे व्यवसायमें लगाता है या खानसे खनिज निकालता है वह तो धनका उपार्जन करता है पर बड़े बड़े बैंकर, पूँजीपति, कम्पनियोंके मैनेजर क्या करते हैं? यह तो दूसरोंके रुपयोंका ही प्रबन्ध करके पूँजी बनाते हैं। फिर इन्हें वैश्य मानें या क्षत्रिय? निजी व्यापारियोंके अतिरिक्त, सरकारी व्यवस्थाओं जैसे रेलोंके छोटे बड़े कर्म्मचारी इन दोनोंमेंसे किस वर्णमें हैं? जमीन्दारका क्या वर्ण है? वह कृषि करता है या शासन? जो स्वयं शिल्पी है उसकी बात तो समझमें आती है पर मिलमें काम करके धन उपार्जित करनेवाले वैश्य हैं या शूद्र? इस समय भी यूरोप और अमेरिकाके बड़े पूँजीपति स्वयं शासनकी

डोर अपने हाथमें नहीं लेते वरन् अपने रुपयोंके जोरपर राज-पुरुषोंको नचाते हैं अर्थात् अधिकारीका रूप न रहते हुए भी अधिकारका उपभोग करते हैं। आजकल कारखानोंका युग है। व्यापारियों, महाजनों, मिल-मालिकोंके पास अपार धनराशि रहती है। वह राजपुरुषों और विद्वानोंको मोल ले सकते हैं। यह बात कैसे रोकी जायगी? 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' तो पुरानी उक्ति है। जो धन एकत्र कर सकेगा वह शक्ति और प्रतिष्ठासे कैसे दूर रखा जायगा? आज क्या यह सम्भव है कि थोड़ेसे पेशेवाले सैनिक देशकी रक्षा कर सकें? फिर जब देश-रक्षाका भार सबपर है तो क्षत्रिय कौन है? कारखानोंमें काम करनेवाले लाखों संघटित मज़दूर, जो शिक्षित भी होते हैं, इस बातको कैसे स्वीकार कर लेंगे कि बिना उनसे पूछे उनसे कर लिया जाय और व्यय कर दिया जाय, युद्ध छेड़कर लाखों मनुष्य कटवा दिये जायँ, व्यापारादिकी मनमानी व्यवस्था करा दी जाय? फिर जब शासनमें तथा क़ानून बनानेमें इनका हाथ होगा तो यह लोग क्षत्रिय होंगे या ब्राह्मण? यह स्मरण रहे कि यह केवल शब्दोंका झगड़ा नहीं है, अधिकारों और कर्तव्योंका, समाजके संघटनका, प्रश्न है। यह तो हो सकता है कि योगी लोग अपनेको निर्लिप्त रख सकें पर साधारण विद्वान्, जिनका भरण-पोषण धनिकों और साधिकारोंके हाथमें रहता है, कहाँ तक इनपर नियंत्रण कर सकेंगे?

बात यह है कि यह योजना जिस समय बनी थी उस समय जो आर्थिक परिस्थिति थी वह अब नहीं है। उस कालमें सम्पत्तिका मुख्य स्वरूप और साधन भूमि थी। जिसके पास कृषियोग्य या गोचर भूमि थी वही सम्पन्न था। जनसंख्या थोड़ी थी और भूमि अधिक। इसलिए कृषकका इतना शोषण नहीं हो सकता

था। मशीनें नहीं थीं, इसलिए कारीगर स्वतन्त्र थे। एक ही जगह बहुत पूँजी लगाकर बहुतसे आदमियोंको जमा करके रुपया कमानेका साधन नहीं था। इसलिए न तो धनिक वर्ग बहुत पूँजी जमा कर पाता था, न बहुत आदमियोंका शोषण कर सकता था, न बहुतोंपर अधिकार पा सकता था। इसीलिए भूमिपतियोंके हाथमें शासनका सूत्र था। आज धनोत्पादनका मुख्य साधन भूमि नहीं है। लक्ष्मीका निवास अब बंक, कल-कारखाने और कम्पनियोंके दफ्तरोंमें है। अतः इनके स्वामियोंके हाथमें अधिकारका रहना अवश्यम्भावी है। इनका अपने स्वार्थसे प्रेरित होना भी अवश्यम्भावी है और, फलतः, संघर्ष तथा अशान्ति भी अवश्यम्भावी है।

फिर, बिनाराजके पूरा ज़ोर लगाये अर्थात् बिना बलप्रयोगके इसका व्यवहारमें लाया जाना भी असम्भव है। आज श्रमिकोंको जो थोड़ा बहुत व्यवस्थापनका स्वत्व अर्थात् ब्राह्मणत्व मिला है, वह उसे इच्छासे न छोड़ेंगे, न धनिक वर्ग अपने धनको लोकसम्पत्ति मानकर राजनीतिक क्षेत्रसे विरत होगा। वही निरंकुश वैयक्तिक और सामूहिक प्रतिद्विन्द्विता जो आजकल जगत्को नष्ट कर रही है तब भी जारी रहेगी। थोड़ेसे विद्वानोंके उपदेश मात्रका प्रभाव अरण्यरोदनके प्रभावसे अधिक न होगा।

सच बात यह है कि किसी भी समयमें धनोपार्जनका मुख्य साधन जिस समुदायके हाथमें होगा वही प्रमुख समुदाय होगा। उसका नाम और काम कुछ भी हो, वास्तविक अधिकारकी डोर उसके ही हाथमें रहेगी। पहिले यह स्थान क्षत्रियोंको प्राप्त था, आज वैश्योंको प्राप्त है। आजका सत्ताधारी समुदाय अर्थात् पूंजीवाला समुदाय पहिलेके क्षत्रियोंसे अधिक बलवान् है

क्योंकि लाखोंकी जीविका उसके हाथमें है। प्राचीन कालमें क्षत्रियोंपर ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता चल जानेका एक मुख्य कारण यह था कि लोग समझते थे कि परलोककी कुञ्जी ब्राह्मणोंके हाथमें है। इसलिए यदि कभी ब्राह्मण किसी बातपर अड़ जाते थे तो जनता उनका साथ देती थी। इसलिए बिना अड़े ही क्षत्रिय उनसे दबते थे। इसका परिणाम यह था कि स्वयं सम्पन्न न होते हुए भी ब्राह्मण क्षत्रियादिसे आश्रितकी भाँति डरता न था वरन् साहसके साथ उनकी भी भर्त्सना कर सकता था। आज बहुतोंको परलोकपर विश्वास ही नहीं है। जिनको है भी वह ब्राह्मणोंको इहामुत्रके बीच मध्यस्थ माननेको तय्यार नहीं हैं। अतः विद्वत्समुदायको दूसरोंके आश्रित रहकर ही काम करना पड़ेगा और उनमें वह पहिले जैसी स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, कमसे कम मज़हब उनकी मदद नहीं कर सकता।

इन्हीं सब कारणोंसे हम वर्णाश्रम धर्मको भी इस समय अपूर्ण और अपने कामके लिए असमीचीन पाते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनुस्मृति आदि धर्म्मग्रंथ निरर्थक हैं। ऐसा नहीं है। उनमें शमदमादि धर्मके जो दस सार्वभौम लक्षण बतलाये गये हैं वह सर्वोपयोगी हैं, अन्य बहुतसे विषयोंपर भी बहुत ही सुन्दर और लाभकारी उपदेश भरे पड़े हैं; यदि समाज-व्यापी आर्थिक वैषम्य दूर हो जाय तो भावी समाजव्यवस्थामें वर्ण-धर्म्मके मूल सिद्धान्तोंका उपयोग हो सकता है। जहाँ तक आश्रम धर्म्मका सम्बन्ध है वह हर समय उपयोगी है।

लोकतंत्र शासन और व्यापक मताधिकार

कुछ लोगोंका ऐसा विश्वास है कि व्यापक मताधिकार हमारे समस्त रोगोंके लिए रामबाण औषध है। इस समय अधिकांश स्वतन्त्र देशोंमें किसी न किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभा, पार्लिमेण्ट या कांग्रेस होती है। सरकारी मंत्री किसी न किसी रूपमें उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह लोग अपनी इच्छासे चाहे और जो कुछ कर सकें परन्तु खर्च मंजूर करना इस सभाके, जिसमें प्रजाके प्रतिनिधि होते हैं, अधीन होता है। इसलिए कोई सरकार व्यवस्थापिका सभाकी, अर्थात् उसके बहुमतकी, इच्छाके विरुद्ध नहीं चल सकती। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि जिन लोगोंको प्रतिनिधि चुननेका अधिकार नहीं है, उनके मतका निरूपण व्यवस्थापिका सभामें हो ही नहीं सकता, अतः उनके हितोंकी रक्षा हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, जिन लोगोंको मत देनेका अधिकार है वह अपने मनके प्रतिनिधि भेजकर अपने हितोंकी रक्षा करा सकते हैं। अतः यदि सभी पूर्णवयस्क नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हो जाय तो सरकारपर सबका समान रूपसे प्रभाव पड़ेगा वरन् साधारण लोगोंकी संख्या अधिक होनेके कारण उनका प्रभाव अधिक पड़ेगा। इसलिए सरकार सदैव उनके अनुकूल होगी या यों कहिये कि सरकार निष्पक्ष रूपसे सबके हितका साधन करेगी। फलतः अन्याय-पूर्ण संघर्ष और कलह एवं तज्जनित अशान्तिकी जड़ ही कट जायगी।

इस विचारकी तहमें सत्यका अंश है पर बहुत थोड़ा सा। लोकतन्त्र शासनप्रणाली और व्यापक मताधिकार आजकल उन लोगोंके लिए जो अमेरिका और पश्चिमी यूरोप, विशेषतः ब्रिटेन,

की विचारधारासे प्रभावित हुए हैं, एक प्रकारके मंत्रसे हो रहे हैं। साधारण पढ़े-लिखोंको इनपर बड़ी श्रद्धा है और कट्टरसे कट्टर साम्राज्यवादी भी इन पवित्र नामोंकी दुहाई देता है। परन्तु वस्तुतः इनके भीतर बड़ा खोखलापन है। मताधिकार मिलने पर राजनीतिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो सब बराबर हो जाते हैं पर यह बराबरी किसी कामकी नहीं होती। संयुक्तराज (अमेरिका) इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहाँ मताधिकार प्रायः सभीको है पर आर्थिक विषमता प्रचंड है। इस आर्थिक विषमताके आगे राजनीतिक समताकी एक नहीं चलती। लोकतन्त्रात्मक शासनप्रणालीके लिए कमसे कम दो राजनीतिक दलोंका होना आवश्यक है। चुनावके समय दोनों दल अपने अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और लोग अपना मत देकर जिसको ठीक समझते हैं चुनते हैं। प्रत्येक दल यह चाहता है कि उसके उम्मीदवार चुन जायँ क्योंकि इसीपर उसका बहुमत होना और सरकारी लगामका उसके हाथमें आना निर्भर है। अतः प्रत्येक दल मतदाताओंको अपने उम्मीदवारोंकी योग्यता और अपने सिद्धान्तोंकी उत्कृष्टता समझानेका प्रयत्न करता है। इस काममें विपुल धनराशि फूँक दी जाती है। जिस दलका प्रचारकार्य्य जितना अच्छा होता है उसकी सफलताकी उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। जो उम्मीदवार स्वतन्त्र रूपसे खड़े होते हैं उनके चुने जानेके तो बहुत ही कम अवसर हो सकते हैं। परन्तु प्रचार-कार्यमें जो रुपया भस्म होता है वह धनिकोंकी जेबसे निकलता है। स्वयं पीछे रहकर धनिक लोग राजनीतिक दलोंको अपने रुपयोंसे खरीद लेते हैं, अपने मन लायक उम्मीदवारोंको खड़ा कराते हैं और चुनाव हो जाने पर इन प्रतिनिधियोंसे, जो उनके बोझसे दबे होते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार काम लेते हैं। मन-

दाता भले ही यह समझ ले कि इनको मैं चुनता हूँ पर यह होते हैं उन धनिकोंके प्रतिनिधि जो उन्हें रुपया देकर खड़ा करते हैं और इनके दलकी सहायता करते हैं। राजनीतिक समता और मताधिकार बाहरी ढकोसला है।

धनिक समुदाय बहुत समझदार होता है। वह राजनीतिक नेताओंसे काम लेना जानता है। उसे यह ज्ञात है कि जबतक उनकी स्वाधीनता ऊपरसे बनी रहेगी तभीतक उनसे सहायता ली जा सकती है। इसलिए उनको भाषण-स्वातन्त्र्य खूब ही, दिया जाता है। दलोंके नेता लम्बे लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं और पत्रोंमें लम्बे लेख निकाल सकते हैं। सिद्धान्त और नीतिकी बातोंमें कोई रुकावट नहीं डाली जाती। ऐसी ही श्रुतिमधुर बातोंसे तो जनताको धोखा दिया जा सकता है। एक ही बन्धन है—कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया जा सकता जिससे धनिक और साधिकार समुदायोंके सामूहिक हितोंको क्षति पहुँचती हो। बहुमत होने और अपना मंत्रिमण्डल बना लेने पर दलोंको थोड़ा-बहुत सुधार भी करने दिया जाता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सारी क़लई खुल जाय। यदि किसी सुधार-योजनासे कुछ दिनके लिए धनिकों को थोड़ीसी आर्थिक हानि भी हो जाय तो वह सह ली जाती है। नकेल अपने हाथमें रखी जाती है, ऊँट यदि थोड़ासा इधर उधर सिर हिला ले तो इसमें कोई हानि नहीं है।

इतना ही नहीं, कभी कभी अपने विरोधियोंतकको अधिकार पाने दिया जाता है। इसका उदाहरण ब्रिटेनमें मिलता है। वहाँके मजदूर नेता अपनेको समाजवादी कहते हैं पर वह क्रान्तिके विरोधी हैं। उनका विश्वास है कि पार्लिमेंट के द्वारा धीरे धीरे क़ानून बनवाते बनवाते समाजवादी व्यवस्था जारी हो जायगी।

अब यदि उनको कभी पार्लिमेंटमें स्थान ही न मिले या उनको मंत्रिमंडलमें आनेका अवसर ही न मिले तो उनकी श्रद्धा पार्लिमेंट-परसे उठ जायगी और वह भी क्रान्तिकारी वन जायँगे। ब्रिटेनके पूँजीपतियोंको यह अभीष्ट नहीं है। अतः वह उन्हें मंत्रिमंडलतक बनाने देते हैं पर अबतक मज़दूर दलने कोई ऐसा काम नहीं किया है जिससे कि धनिक वर्गके हितोंको कोई गहिरा आघात पहुँचे। आजसे २० वर्ष पहिले (१९८१ वि०) इस दलका बहुमत था। ज्यों ही धनिक-समुदायने देखा कि यह लोग अपने समाजवादी सिद्धान्तोंको कार्य्यान्वित करना चाहते हैं, उसने ऐसा प्रबन्ध किया कि बहुमत अल्पमत हो गया। यह बात स्वाभाविक भी है। यह मानना भी भूल है कि थोड़ेसे मतोंके इधर उधर हो जानेसे विभूति का भोग करनेवाले अपने स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दे देंगे। इसलिए लोकतन्त्र शासन और व्यापक मताधिकारसे कुछ नहीं हो सकता। घोर आर्थिक विषमताके रहते हुए राजनीतिक समता व्यर्थ है। लोकतन्त्र शासनका अर्थ होता है संघटित सम्पन्न वर्गोंकी इच्छाके अनुकूल शासन, परन्तु इस प्रकार कि साधारण जनता समझे कि शासनमें हमारा भी हाथ है। इससे लोगोंका असन्तोष उभड़ने नहीं पाता। यह आशा बँधी रहती है कि इस बार नहीं तो अगली बार अच्छे प्रतिनिधियोंको चुनकर सब बातें ठीक कर लेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि यदि राजनीतिक समताके साथ साथ न्यूनाधिक आर्थिक समता भी हो, शोषक और शोषितका भेद न हो और जनता शिक्षित तथा कर्त्तव्यपरायण हो तो लोकतन्त्र शासन सर्वोत्तम होता है और मताधिकार बहुमूल्य अधिकार हो सकता है पर यह 'यदि' इतना बड़ा है कि आजकल व्यावहारिक दृष्टिसे लोकतन्त्र शासन और मताधिकार निरर्थकसे हैं। यह बात निर्धनों, अधिकारहीनों, दुर्बलोंकी दृष्टिसे कही गयी

है; धनवानों, बलवानों और अधिकारवालोंको तो यह दोनों चीजें बड़ी ही प्रिय हैं।

फ़ासिज़्म

जर्मनी और इटलीका उत्कर्ष देखकर कुछ लोगोंकी यह भावना हो गयी थी कि फ़ासिज्मसे पृथ्वीका कल्याण है, पर यह भ्रम था। फ़ासिज्ममें स्वतंत्रता और शान्तिका क्या स्थान है वह इसी बातसे प्रकट होता है कि राष्ट्रसंघ और सारे सभ्य जगत्की पुकारको ठुकराकर इटलीने अबीसीनियाकी हज़ारों वर्षकी सञ्चित स्वाधीनता को नष्ट करके उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया। कहा गया है कि इटली और अबीसीनियाकी लड़ाई सभ्यता और बर्बरताकी लड़ाई थी। यदि विषैली गैस, द्रवाग्नि, बम, विस्फोटक गोलियाँ, अस्पतालोंपर गोलाबारी यह सब ही सभ्यताके लक्षण हैं तो बर्बरता क्या बुरी चीज है? इस प्रकार तो शान्ति नहीं हो सकती। फ़ासिज्मका एकमात्र सिद्धान्त है अपने राष्ट्रका बल और आधिपत्य बढ़ाना, इससे दूसरे राष्ट्रोंका चाहे जो कुछ हिताहित हो। अपने देशके भीतर फ़ासिस्ट सरकारोंने जो ऊपरी शान्ति क़ायमकी थी वह शान्ति श्मशानकी या महामेघ-गर्जनके पूर्वकी शान्ति थी। मजदूर संस्थाएं तोड़ दी गयीं, उनके नेता मार डाले गये या जेलोंमें डाल दिये गये, उनके पत्र बन्द कर दिये गये। असन्तोष भीतर भीतर सुलग रहा था, एक दिन फूटता ही। जब किसी देशमें अशान्ति बहुत फैल जाती है तो वहाँका धनिक समुदाय लोकतंत्रके थोथे स्वाँगको दूर फेंककर शासन सीधे अपने हाथमें ले लेता है। जैसाकि एक अवसरपर इटलीके सर्वेसर्वा मुसोलिनीने कहा था 'रूस और इटली दोनों

देशोंमें यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सभी उदार विचारोंके बाहर, ऊपर और विरुद्ध चलकर शासन करना सम्भव है। समष्टिवाद या फ़ासिज़्म, दोमेंसे एककी भी स्वाधीनताके साथ ज़रा भी सजातीयता नहीं है। फ़ासिज़्मको यह घोषित करनेमें किञ्चन्मात्र डर नहीं है कि वह अनुदार या उदारता-विरोधी है। फ़ासिज़्म एक बार स्वतन्त्रताकी देवीके न्यूनाधिक सड़े हुए शरीरपरसे गुज़र चुका है और यदि आवश्यकता हुई तो ऐसा फिर करनेको तय्यार है।' जिस वादके प्रधान आचार्य्य ऐसी बातें कह सकते हैं उससे जगत्के कल्याणकी आशा रखना बालूसे तेलकी आशा रखनेके बराबर है।

अब फ़ासिस्ट इटली और जर्मनीका अन्त हो गया है। इटलीमें एक प्रकारकी लोकतंत्र-मूलक सरकार है, जर्मनीपर विजेताओंका शासन है। फ़ासिज़्म को दुहाई देनेवाला कोई नहीं है, कमसे कम खुल कर कोई इस समय उसका समर्थन नहीं करता। परन्तु यह नहीं कह सकते कि अब यह डर सदा के लिए चला गया। जब तक निजी लाभ के लिए व्यापार होता रहेगा और अपने देशके व्यापारकी वृद्धि और रक्षाके लिए साम्राज्य रखनेकी सम्भावना रहेगी तब तक किसी न किसी नाम से और समयानुकूल रूपमें फ़ासिज़्मके पुनः उदय होनेकी संभावना बनी रहेगी।

प्रतिमशीनवाद

एक और 'वाद' है जिसपर थोड़ा-सा विचार करना है। कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि यदि मशीनें उठा दी जायँ तो फिर सुख-शान्ति हो जाय। मशीनोंके कारण ही बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलते हैं और थोड़ेसे लोगोंको बहुत-सा धन संग्रह करने और

दूसरोंको अपना अर्थदास बनानेका अवसर मिलता है। यदि मशीनें न होंगी तो फिर वही पहिलेकी भाँति कारीगर अपने घरोंपर वस्त्रादि तय्यार करेंगे। न आज जैसी प्रतियोगिता होगी, न कलह, न उत्पीड़न, न असन्तोष, न अशान्ति।

इसके भीतर भी सत्यका कुछ अंश है। यदि आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्वकी आर्थिक अवस्था फिरसे ला दी जाय तो आजकी अपेक्षा उत्पीड़न और वैषम्यमें अवश्य कमी हो जायगी। परन्तु इसमें दो आपत्तियाँ हैं। एक तो यह कि अब मशीनोंका तुड़वाना सम्भव नहीं है। सभ्य राष्ट्र आपसमें लड़कर इस प्रकार तबाह हो जायँ कि मशीनोंके चलानेकी विद्या ही लुप्त हो जाय तो दूसरी बात है, अन्यथा शौकसे कोई मशीनोंको तोड़नेपर राज़ी न होगा। फिर, जिस वैज्ञानिक उन्नतिके द्वारा धनोपार्जन और उत्पीड़नके साधनोंका आविष्कार हुआ है उसीने सुख-वर्धक यन्त्रोंको भी सम्भव बनाया है। कपड़ा सीनेकी मशीन, कुएँसे पानी निकालनेकी मशीन, बिजलीकी रोशनी देनेवाला डाइनमो—यह भी तो मशीनें हैं। रोगीके पासतक डाक्टरको ले जानेवाली मोटर और दुर्भिक्ष-पीड़ितोंके पासतक अन्न पहुँ-चानेवाली रेल भी मशीन हैं। इनमेंसे किस किसको तोड़ें? यदि इनको रखना है तो इनके बनानेवाले कारखाने भी रहेंगे। फिर तो कोई नयी बात न हुई। आज मशीनोंके कारण बहुतसा काम थोड़े समयमें हो सकता है और मज़दूरोंको भी पढ़ने-लिखनेका अवसर मिल जाता है। यदि किसी प्रकार सब मशीनें तोड़ ही दी जायँ तो संस्कृतिकी यह सारी बातें दूर हो जायँगी। सब काम हाथसे होंगे। काम करनेवाले मज़दूर अशिक्षित और असं-स्कृत हो जायँगे। मस्तिष्कोंपर पुनः ताले पड़ जायँगे। पर यह भी किसीको अभीष्ट नहीं। यदि मनुष्य अपने श्रमको कम

करने, अपने स्वास्थ्यको बढ़ाने, सर्वत्र अन्नवस्त्रादि पहुँचानेके साधनोंका आविष्कार कर सकता है, तो उसको ऐसा करनेसे रोकना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि वह अपनी बुद्धिका सदुपयोग करके इन साधनोंको अपनी तबाहीके उपकरण न बना ले। न सब काम हाथसे करनेमें कोई आध्यात्मिक महत्ता है, न सब कामों को मशीनसे करना ही श्रेयस्कर है। जहाँ तक मशीन स्वास्थ्य, सुख और संस्कृति की वृद्धिमें सहायक हो उसका उपयोग करना चाहिये परन्तु उसे बेकारी, शोषण, उत्पीड़नका साधन न बनने देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब समाजकी ऐसी व्यवस्था हो कि मशीनोंके चलानेपर और उनके उत्पादनपर समाजका नियंत्रण हो। आगसे कभी घर जल जाता है। इस डरसे उसे बुझाकर रसोईका काम भी बन्द कर देना बुद्धिमानी नहीं है।

मुझे विश्वास है कि मैंने संक्षेपमें उन सब उपायोंकी आलोचना की है जो साधारणतः हमारे प्रश्नके उत्तरमें पेश किये जाते हैं। मैंने इस बातका भी यथाशक्य प्रयत्न किया है कि आलोचना करते समय किसीके साथ अन्याय न करूँ। फिर भी, मैं इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि जो विकट परिस्थिति हमारे सामने है उसका निवारण इनमेंसे किसीके भी द्वारा नहीं हो सकता। हमारे सामने समस्या यह है कि लोगोंकी शिक्षा और संस्कृतिमें, मस्तिष्कके विकास और तज्जनित भौतिक तथा बौद्धिक सुखोंमें, कोई कमी न हो पर दारिद्र्य, वैषम्य, उत्पीड़न, शोषणका अभाव हो जाय। हमारी इच्छा यह है कि यह पुराना आशीर्वाद सफल हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे जन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत ॥

पाँचवा अध्याय

एक और उत्तर

तीसरे अध्यायमें जो सनातन प्रश्न उठाया गया है उसके प्रचलित उत्तरोंकी जो विवेचना हमनेकी उसका परिणाम नञात्मक निकाला। यदि इस गाँठको खोलनेका कोई और साधन नहीं है तो मानव जगत्का भविष्य बड़ा ही तमः आच्छादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे थोड़ा बहुत सुधार इधर उधर हो जाय पर किसी मौलिक परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है। यह हमारे सौभाग्यकी बात है कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आजके युगके सामने एक और योजना, एक और उत्तर, है जो अन्य योजनाओंके दोषोंसे मुक्त है। इसका नाम है 'समाजवाद'। अधिक स्पष्टीकरणके लिए इसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' भी कहते हैं। किसी समय 'साम्यवाद' शब्द अधिक प्रचलित हो गया था पर उसकी अपेक्षा 'समाजवाद' अधिक सार्थक है।

'वैज्ञानिक' विशेषण देनेका कारण है। अपनेको समाजवादी कहना प्रगतिशीलताका चिह्न माना जाने लगा है, इसलिए बहुतसे लोग समाजवादी कहलाने लगे हैं। भारतमें ही ऐसे सज्जन हैं जो रूसके कम्यूनिस्ट दल, भारतके कांग्रेस समाजवादी दल तथा देश विदेशके दूसरे संघटित समाजवादी दलोंके प्रायः सभी सिद्धान्तोंको नापसन्द करते हैं पर अपनेको समाजवादी कहते हैं। यह बात रोकी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि कोई व्यक्ति अपनेको समाजवादी कहना ही चाहता है तो उसे ऐसा करनेका पूरा अधिकार है। पर यह स्वाभाविक है कि ऐसे सब लोगोंके विचार एकसे नहीं होते। इसलिए इनके मुँहसे इस शब्दका प्रयोग बहुत ही भ्रामक होता है।

आजकल ही नहीं प्राचीन कालमें भी ऐसे उदारचेता व्यक्ति हुए हैं जिनके हृदय मनुष्योंके पारस्परिक कलह, उत्पीड़न, शोषण, वैषम्यको देखकर व्यथित हो उठे हैं। वह ऐसी बातोंको न्याय और मनुष्यता तथा धर्म्मके विरुद्ध समझते हैं। उन्होंने ऐसे जगत्के मानस चित्र खींचे हैं जिनमें यह बातें न होंगी, जिनमें सभी सुखी, सभी बराबर होंगे। ऐसे काल्पनिक जगत्का वर्णन करनेवाली पुस्तकें भी हैं। अंग्रेजीमें सर टामस मोरकी 'यूटोपिया' इस विषयकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पुराणोंमें 'उत्तरकुरु' का जो वर्णन है वह इसी ढङ्गका है। यूटोपिया हो या उत्तरकुरु, यह काल्पनिक प्रदेश एक प्रकारके आदर्श हैं जिनमें यह दयार्द्र हृदय जगद्धितैषी इस पाशवाचारमयी पृथ्वीको परिणत करना चाहते हैं। इनमेंसे कुछ लोगोंने इतनेसे ही सन्तोष नहीं किया है वरन् अपने आदर्शोंको कार्य्यान्वित करनेका भी प्रयत्न किया है। यूरोपमें ऐसी कई समाजवादी बस्तियाँ बसायी गयीं जिनमें लोगोंने इन आदर्शोंके अनुसार जीवन बितानेकी यथाशक्य चेष्टा की पर यह सब प्रयत्न विफल हुए। सभी बस्तियाँ उजड़ गयीं। इन लोगोंकी सहृदयता सर्वथा प्रशंसनीय है परन्तु इनके विचारोंके आधार ही गलत हैं, इसलिए उनमें व्यावहारिकता नहीं है। इस प्रकारके विचारोंको उत्तरकौरव या यूटोपियन समाजवाद कहते हैं। इसमें जो त्रुटियाँ हैं वह वैज्ञानिक समाजवादके वर्णनके साथ आप ही स्पष्ट हो जायँगी।

जो समाजवाद हमको अभिमत है, जिसका निर्देश हमने वैज्ञानिक समाजवादके नामसे किया है, वह वर्तमान युगकी आविष्कृति है। आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले, जब मशीनोंका निर्माण नहींके बराबर था और पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोने-तक यातायातके साधन संकुचित थे, वह परिस्थिति थी ही नहीं

जिसमें इसकी आवश्यकता पड़ती। रोग था ही नहीं, औषध किस लिए दी जाती। आजकलकी वैज्ञानिक सभ्यताने जिस प्रकार उत्पीड़न, दरिद्रता, शोषण, बेकारी, युद्ध, अशान्ति आदिको जन्म दिया है, उसी प्रकार इनके शमनके लिए उसने वैज्ञानिक समाजवादकी भी सृष्टि की है।

समाजवादी विचारकी कई धाराएँ हैं पर इनमें सबसे प्रौढ़ वह है जिसके प्रवर्तनका श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्सको है। यह दोनों ही जर्मन थे। इनके ग्रन्थ और लेख वैज्ञानिक समाजवादके प्रामाणिक प्रस्थान हैं। उनमें न केवल समाजवादके सिद्धान्त दिये गये हैं वरन् व्यावहारिक आदेश भी हैं। मार्क्स और एंगेल्सके विचारोंकी महत्ता इसीसे सिद्ध होती है कि आज 'समाजवादी' शब्दसे उसी व्यक्तिका निर्देश होता है जो इनके सिद्धान्तोंका माननेवाला हो, किसी दूसरे ख़यालको माननेवालेके लिए कोई न कोई विशेषण जोड़ना पड़ता है।

यों तो मार्क्स, एंगेल्स तथा इनके शिष्योंने समाजवादके विषयमें बहुत कुछ लिखा है परन्तु दो ग्रन्थ विशेषतया प्रामाणिक हैं, एक तो मार्क्स और एंगेल्स लिखित 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो' (सं० १९०५ में प्रकाशित) और दूसरी मार्क्स लिखित 'दास कापिताल' (१९२४ से १९५१ तक प्रकाशित)। मैनिफ़ेस्टोका हिन्दी अनुवाद हो चुका है परन्तु कापितालका कोई हिन्दी अनुवाद अबतक देखनेमें नहीं आया।

वैज्ञानिक समाजवादी न्याय और मनुष्यताके नाते पीड़ितोंकी अवस्थामें सुधार नहीं करना चाहता। वह धनिकों और अधिकारवालोंसे दयाकी भिक्षा नहीं मांगता और न उनके हृदयोंके परिवर्त्तनकी चेष्टा करता है। वह संसारके लिए क्या उचित और न्याय्य है, इसका आदर्श बनाने भी नहीं बैठता और

न किसी उत्तरकुरुको अपना लक्ष्य मानता है। उसकी परिपाटी वही है जो कुशल वैद्यकी होती है। वैद्य रोगीकी परीक्षा करते समय अपने मस्तिष्कके किसी सिद्धान्तसे काम नहीं लेता; वह देखता है कि रोगीका शरीर क्या बतलाता है। नाड़ी देखकर, चाहे यंत्रोंकी सहायता लेकर, सबसे पहिली और आवश्यक बात रोगका निदान है। मूल रोगके साथ उपरोग अनेक होते हैं पर मूलरोगको ही पहिचानना और पकड़ना चाहिये। उसके शमनके बाद उपरोग और उपलक्षण आप ही शान्त हो जायँगे। वैद्य यह भी जानता है कि यद्यपि शरीरमें रोगके कीटाणु या अन्य बाह्य वस्तुका प्रवेश हो जाता है पर शरीर स्वयं अपनेको नीरोग करनेका प्रयत्न करता है। ज्वर स्वयं कोई रोग नहीं है वरन् इस बातका सूचक है कि शरीरके भीतर रोग और रोग-नाशक शक्तियोंमें, जो रोगके साथ ही जागरित हो उठती हैं, संघर्ष हो रहा है। इसलिए कुशल वैद्य यह प्रयत्न करता है कि प्रकृतिका अध्ययन करके उसकी सहायतासे काम ले। जो औषध यों ही मनमाने ढंगसे दे दी जायगी वह प्रकृतिकी रोगनाशक शक्तियोंको कुण्ठित कर देगी और रोगीका प्राण ही ले लेगी। औषध देनेवालेके सद्भाव रोगीको नहीं बचा सकते। जो औषध प्रकृतिके साथ चलनेवाली होगी, जिस दिशामें प्रकृति शरीरको ले जाना चाहती है उस दिशामें चलनेमें सहायक होगी, वह उपयोगी होगी। जो वैद्य ऐसी औषध दे सकता है अर्थात् जो प्रकृतिकी गतिविधिको पहिचान कर उसके अनुकूल काम करना जानता है वही कुशल चिकित्सक है।

यह सब केवल रूपक बांधनेके लिए नहीं कहा गया है। वैज्ञानिक समाजवादीकी यही पद्धति है। वह मनुष्य समाजकी हजारों खराबियोंको देखता है पर इनमेंसे एक एकके पीछे

नहीं दौड़ता क्योंकि वह समझता है कि इनमेंसे अधिकांश गौण और उपलक्षण मात्र है। वह मूलरोगको पकड़नेका प्रयत्न करता है और यह देखता है कि समुदायके भीतर वह कौनसी शक्तियाँ हैं जो स्वतः इस रोगके उच्छेदका प्रयत्न कर रही हैं। उसको यह अनुभव है कि व्यक्तिकी भाँति समूहमें भी रोगके साथ ही उसको उन्मूलन करनेवाली शक्तियाँ भी जाग उठती हैं। वह इन्हींको दृढ़ करना चाहता है। प्रकृति जिस अवस्थाको उत्पन्न करना चाहती है उसीको सामूहिक स्वास्थ्य मानकर वह अपना लक्ष्य बनाता है। इसीलिए उसकी प्रक्रिया वैज्ञानिक कहलाती है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि इसी पद्धतिका अनुसरण करनेसे मनुष्यता और सच्चे न्यायकी भी पुष्टि होती है।

वैद्यके पास रोगके निदान, रोगके वृद्धि-क्षयक्रम, रोगकी चिकित्सा, शारीरिक रसोंके सञ्चय और व्यय आदिके विषयोंका एक शास्त्र है। इसको चिकित्सा-दर्शन कह सकते हैं। यह शास्त्र उसके प्रकृति-निरीक्षण और अनुभवके आधारपर बना है। इसी प्रकार समाजवादका भी दर्शनशास्त्र है जो उसको सामूहिक जीवनके विकास और परिवर्त्तनको समझने और तदनुसार अपनी कार्य्यप्रणाली निश्चित करनेमें सहायता देता है। इसका नाम है ऐतिहासिक भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद*। 'ऐतिहासिक' और 'द्वन्द्वात्मक' या अर्थ तो अगले अध्यायमें दिखलाया जायगा पर यहाँ इतना कह देना चाहिए कि 'भौतिकवाद' शब्द भ्रामक है। समाजवादी दर्शन उस अर्थमें भौतिक नहीं है जिस अर्थमें

* Historical Materialism or Dialectical Materialism.

चार्वाक मत या अन्य कई भारतीय या विदेशीय दर्शन भौतिक हैं। इसका विकास हीगेलके अध्यात्मवाद* के प्रतिवादमें हुआ, इसलिए यूरोपियन प्रथाके अनुसार इसका 'भौतिकवाद' ऐसा नामकरण हुआ। भारतकी बात होती तो इसे अनात्मवाद या कुछ ऐसा ही नाम देते। अनात्मवाद हमारे लिए कोई नयी वस्तु नहीं है। परम आस्तिक सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी है और सारा बौद्धधर्म्म अनात्मवादकी नींवपर खड़ा है। सब लोगोंको यह अनात्मवाद अभिमत नहीं है पर इस अनात्मवादमें औदार्य्य, तप, ज्ञानके लिए उतना ही स्थान है जितना कि कोई अन्य दर्शन दे सकता है। यह उस बार्हस्पत्य अनात्मवादसे सर्वथा भिन्न है जो यह उपदेश देता है—

> यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

इसीलिए कुछ विद्वान् इसे भौतिकवादके स्थानमें 'वस्तुवाद' या 'याथातथ्यवाद' † कहते हैं। मैं स्वयं 'द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद' नाम पसन्द करता हूँ।

मैं जानता हूँ कि ऐसे बहुतसे लोग हैं जो समाजवादके व्यावहारिक कार्य्यक्रमसे बहुतसे अंशोंमें सहमत हैं पर उसके दार्शनिक आधारको स्वीकार नहीं करते। इसका कुछ कारण तो यह है कि यह दर्शन उनके सामने ठीक तरहसे रखा नहीं गया है। दूसरी बात यह है कि यदि कोई व्यावहारिक कार्य्यक्रम मानते हुए दार्शनिक आधार नहीं मानता तो उसके लिए इस कार्य्यक्रमके लिए उपयुक्त दार्शनिक आधार ढूँढ़ना चाहिये। इसलिए मैं संक्षेपमें इस दर्शनका ही कुछ निरूपण करूँगा।

---

* Idealism. † Realism.

ऐसे भी लोग हैं जो समाजवादके साथ दर्शनके योगको देख-कर चौंकते हैं। बहुतोंकी ऐसी धारणा है कि समाजवाद क्रान्तिकी एक व्यवहारिक योजना है। ऐसे लोगोंको लेनिनका यह वाक्य स्मरण रखना चाहियेः—क्रान्तिकारी सिद्धान्तके बिना क्रान्ति-कारी आन्दोलन नहीं हो सकता।

दर्शनके सम्बन्धमें मैं अपनी पुस्तक चिद्विलाससे कुछ वाक्य उद्धृत करता हूँ जो यहाँके लिए प्रासङ्गिक प्रतीत होते हैंः—

जो शास्त्र सम्पूर्ण विश्वको, समूचे जगत्‌को, एक मानकर उसके स्वरूपको, उसके अवयवोंके पारस्परिक सम्बन्ध और कुलमें उनके स्थानको, और उसके विकास और सङ्कोचको अपना विषय बनाता है इसको अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र कहते हैं। दर्शन-शास्त्रको विभिन्न एकदेशीय शास्त्रोंसे निष्पन्न सामग्रीसे काम लेना पड़ता है........उसको मिलाकर एकमें ग्रथित करना पड़ता है तभी सार्वदेशिक चित्र बन सकता है।

सवंका ज्ञान ही अज्ञानकी निवृत्ति है, इसलिए दर्शन मोक्ष शास्त्र है।

(आधारखण्ड—पहिला अध्याय)

दार्शनिक ज्ञान—विश्वके सत्य स्वरूपका ज्ञान—धर्म्मज्ञानका साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत्‌में हमारा क्या स्थान है किस किसके साथ कैसा सम्बन्ध है, इस सम्बन्धसे हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते हैं और इन कर्त्तव्योंका किस प्रकार पालन किया जा सकता है।........पूर्णज्ञानकी नींवपर समाजका जो सङ्गठन होगा वह निर्दोष होगा।........अव्यवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिको अपना मार्ग, अपने स्वार्थ अपने अर्थ और कामको प्रधान लक्ष्य मानकर चुनना पड़ता है। स्वार्थोंके अत्यधिक सङ्घर्षके अनुसार वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका नियमन

होता है। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर व्यक्तिके और समुदायके जीवनको सङ्घटित करना अव्यवस्थासे लाख गुना श्रेयस्कर है।

(आधारखण्ड—पाँचवाँ अध्याय)

छठाँ अध्याय

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

यह जगत् सत्य* है। कुछ लोग इसको स्वप्नवत् मिथ्या मानते हैं पर यह उनकी भूल है। इसके मिथ्यात्वका कोई

---

*दर्शनका अध्ययन पाश्चात्य देशोंमें केवल सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होता है। लोग यथासम्भव जगत्‌का स्वरूप, उसका कारण, उसका विकास, जीव-अजीवका रहस्य आदि समझना चाहते हैं। भारतमें दर्शनके अध्ययनका प्रधान उद्देश्य मोक्ष है। समाजवादीका उद्देश्य इन दोनोंसे भिन्न है। वह जगत्‌का रहस्य इसलिए जानना चाहता है कि उसको समझकर जगत्‌को परिवर्तित कर सके। वह जगत्‌की वर्तमान अवस्थाका सुधार ईश्वर, प्रारब्ध या नियतिपर नहीं छोड़ना चाहता। जैसा कि मार्क्सने कहा है 'दार्शनिकोंने जगत्‌को अनेक प्रकारसे समझनेकी चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसको परिवर्तित कैसे किया जाय'।

मेरा यह दावा नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्सके दार्शनिक विचारोंकी जो व्याख्या मैं कर रहा हूँ वह उनके सभी अनुयाइयोंको अभिमत है पर इसके साथ ही मेरा यह विश्वास है कि मैंने उसको कहीं विकृत नहीं किया है। भारतीय पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मेरी सम्मतिमें सर्वथा उचित है और भारतीय विचारधारासे तुलना करनेमें सहायता देता है।

प्रमाण नहीं है। उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता द्रष्टासापेक्ष न हो अर्थात् जिसकी सत्ता किसी साक्षीपर निर्भर न हो। मैं अपने कमरेमें बैठा हूँ। मेरे सामने एक पुस्तक है। यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तकरूपी दृश्य मेरे अन्तःकरणरूपी द्रष्टाकी अपेक्षा करता है अर्थात् यदि मैं इसका अनुभव करनेवाला न होता तो इस पुस्तकका अस्तित्व लुप्त हो जाता। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि मैं हूँ या न हूँ पुस्तक रहेगी। इसके जवाबमें यह कहा जाता है कि मैं न सही, कोई न कोई अन्तःकरण तो उसका अनुभव करनेवाला होगा। यदि यह बात ठीक हो कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता किसी न किसी अनुभव करनेवाले अन्तःकरणकी अपेक्षा करती है तो क्या उस जगह जहाँ अनुभव करनेवाला पशु, पक्षी, मनुष्य किसीका अन्तःकरण नहीं है वहाँ जगत् नहीं है? या जिस समय मनुष्यादि प्राणधारी नहीं थे, उस समय जगत्का अभाव था? यदि किसी समय ऐसे सब अन्तःकरण प्रसुप्त या विलीन हो जायँ तो क्या जगत् न रहेगा? क्या सचमुच जगत् मनोराज्य है? जहाँ कोई अन्तःकरण नहीं है, वहाँ मनोराज्य कैसे होगा? वहाँ तो केवल शून्यदिक् और शून्यकाल रहेगा। पर दिक् और काल भी तो अन्तःकरण द्वारा अनुभूत या अनुमित होते हैं या, कुछ लोगोंके विचारके अनुसार, अन्तःकरणके ही धर्म्म हैं, फिर जहाँ अन्तःकरण न होगा वहाँ दिक् और कालकी सत्ता कैसे रह सकती है? इन सब प्रश्नोंके तीन प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि वस्तुतः जगत् मिथ्या है। उसका अस्तित्व है ही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि ईश्वर त्रिकालका साक्षी है। उसके अन्तःकरणमें जो संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं वह जगत्-रूपसे प्रतीत होते हैं। जहाँ और जिस समय और कोई साक्षी

नहीं होता उस समय भी ईश्वर रहता है, इसलिए उसके मनोराज्य-स्वरूप जगत् रहता है। जब मनुष्यादि कोई प्राणी नहीं था, तब भी ईश्वर था, इसलिए जगत् था। यही बात भविष्य कालके लिए लागू है। मार्क्स इन दोनों सिद्धान्तोंको नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य है अर्थात् जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण नहीं था, तब भी था और जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण न होगा तब भी रहेगा।

जगत्के सत्य होनेका अर्थ यह है कि जगत्-प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज है वह पहले न रहा होगा, आगे भी न रहेगा। उसमें तो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तनशीलता उसका मुख्य लिङ्ग है। यह प्रश्न तो निरर्थक है कि जगत्की उत्पत्ति किससे हुई। यह प्रश्न करनेका तात्पर्य यह होगा कि एक दूसरा प्रश्न जगत्की उत्पत्तिके हेतुके विषयमें पूछा जाय। यदि कोई स्रष्टा माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि उसने सृष्टि क्यों की? स्रष्टा की उत्पत्ति कैसे हुई? यदि ईश्वर बिना रचयिताके हो सकता है तो जगत् ही बिना रचयिता का क्यों न माना जाय? इस सम्बन्धमें सभी देशोंके दार्शनिकोंने बहुत विचार किया है जिसको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही बतला देना पर्य्याप्त है कि मार्क्स जगत्का कोई आरम्भक या स्रष्टा नहीं मानते। जगत्का विकास अर्थात् उसके स्वरूपमें परिवर्तन किसी बाहरी शक्तिके अधीन नहीं है। उसकी भीतरी शक्ति, उसका स्वभाव ही, उसके लिए प्रेरक है। इसलिए जगत्की प्रगति किसी विशेष दिशामें नहीं है। उसका कोई विशेष, निश्चित, उद्देश्य नहीं है।

जगत्के विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि जगत् किसी लौकिक या अलौकिक व्यक्तिका

मनोगाञ्य या उद्देश्यप्रसूति होता तो हम उस व्यक्तिके अन्तःकरणके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उसको यथावत् जान लेते। वेदान्तके शब्दोंमें हमारा ज्ञान हस्तामलक ज्ञान होता पर जो पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता रखता है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है उसको बुद्धिमें बाँधा नहीं जा सकता। पर ज्यों ज्यों हमारे ज्ञानके करणोंमें उन्नति होती जाती है त्यों त्यों हमारा ज्ञान यथार्थज्ञानके सन्निकट आता जाता है।

जगत्का मूल स्वरूप क्या था? इसके सम्बन्धमें दो प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक प्रकारका उत्तर तो यह है कि मूल पदार्थ एक ही था। दूसरा यह है कि जीव और अजीव, चेतन और जड़, दो पदार्थ थे। इससे मिलता जुलता योग दर्शनका यह सिद्धान्त है कि मूलमें पुरुष, ईश्वर और प्रकृति तीन पदार्थ थे। एक पदार्थ माननेवाला अर्थात् अद्वैतवादी सिद्धान्त भी दोप्रकारका हो सकता है। एक तो यह कि मूल पदार्थ चेतन था। यह शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तका विशुद्धाद्वैतवाद है। इसीके अन्तर्गत वह सब सिद्धान्त हैं जो ब्रह्म या तत्सम किसी पदार्थकी विकृतिसे जगत्का विकास मानते हैं। मार्क्स और एंगेल्स इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते। वह अद्वैतवादी हैं पर उनका जगन्मूल अद्वय पदार्थ चेतन नहीं है। उनके अनुसार इस जगत्का मूल स्वरूप 'मैटर' था। इस पाश्चात्य 'मैटर' शब्दका पर्याय कुछ लोग भूत या तत्त्व करते हैं। मैटर पञ्चमहाभूतके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है पर दार्शनिक परिभाषामें यह वह पदार्थ है जिससे जगतका विकास हुआ है और जो स्वतः जड़ है। भारतीय दर्शनमें उस पदार्थको जिससे अन्य पदार्थ निकलते हैं प्रकृति कहते हैं। जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे निकला है उसे विकृति कहते हैं। अधिकांश पदार्थ प्रकृतिविकृति हैं अर्थात् वह किसी

पदार्थसे निकले हैं और उनसे कोई पदार्थ निकलता है। परन्तु जगत्का मूल केवल प्रकृति है। इसीसे इसे मूल प्रकृति कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रधान जड़ है। उसकी सत्ता है पर उसमें चेतना नहीं है। उसका स्वरूप चित् नहीं केवल सत् है। यह प्रधान ही उच्च कोटिके यूरोपियन दर्शनका 'मैटर' है।

ऊपरके कथनमें एक और दो संख्यावाची शब्दोंको व्यक्ति-सूचक नहीं वरन् जाति सूचक समझना चाहिये। मूल पदार्थ विजातीय भेद रहित होते हुए भी संख्यामें एकसे अधिक हो सकता है। यदि वह जड़ था तो ऐसा हो सकता है कि आरम्भमें अनेक जड़ पदार्थ रहे हों, यदि चेतन था तो सम्भव है अनेक चेतन रहे हों। विभिन्न दर्शनोंमें यह सब मान्यताएँ देख पड़ती हैं। शाङ्कर वेदान्तके अनुसार मूल पदार्थ सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित था, अर्थात् वह एक,एकरस और अखण्ड था। सांख्यके अनुसार दो प्रकारके मूल पदार्थ थे। इनमेंसे प्रधान तो एक था परन्तु चेतन अर्थात् पुरुष असंख्य थे। मार्क्सका मैटरके विषयमें कोई अपना आग्रह नहीं है। आरम्भमें जो मूल पदार्थ था वह केवल जड़ था इतना तो वह कहते हैं परन्तु मैटर साराका सारा एक ही प्रकारका था या अनेक प्रकारका, परमाणुओंमें विभक्त था या नहीं, उसमें क्या क्या गुण थे, इन सब प्रश्नोंका उत्तर विज्ञानके ऊपर छोड़ते हैं। भौतिक विज्ञान प्रधानका जो परमरूप बतलायेगा वह मार्क्सवादीको मान्य होगा।

मूलरूप क्या था ? यह प्रश्न समीचीन नहीं है। भाषाकी बनावटके कारण हमको ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना पड़ता है परन्तु दर्शनके विद्यार्थीको तथ्य समझ लेना चाहिये। यदि मैटर, प्रधान, परिवर्तनशील है तो उसका कोई मूलरूप कैसे बताया जाय ? जो भी रूप हमारे अध्ययनका विषय होगा उसके पहिले

कोई और रूप हो चुका होगा। यदि कोई निश्चित मूलरूप प्रतिपादित किया जायगा तो यह मानना पड़ेगा कि किसी निश्चित कालके बाद परिवर्तन आरम्भ हुआ। तब प्रश्न यह होगा कि ऐसा क्यों हुआ? परिवर्तनकी प्रेरणा देनेवाली शक्ति कहाँसे आयी? यदि मूलपदार्थके भीतर थी तो अबतक रुकी क्यों थी? यदि बाहरसे आयी तो फिर मूलपदार्थ अकेला न रहा होगा, कमसे कम दो पदार्थ रहे होंगे।

इन सब प्रश्नोंपर इस पुस्तकमें विचार नहीं हो सकता परन्तु दर्शनमें इनका बहुत महत्त्व है। जो व्यक्ति मार्क्सवाद या किसी अन्य दार्शनिक मतका अध्ययन करना चाहता हो उसको इनपर मनन करना होगा और विचारसामग्रीके लिए बड़ी पुस्तकोंको देखना होगा। मेरा अपना सिद्धान्त 'चिद्विलास'में ग्रथित है।

अस्तु, इस प्रधानसे क्रमशः सारे जगत्का विकास होता है। सारा जगत्—सारा चराचर विश्व—एक साथ ही नहीं निकल आता। क्रमशः एक पदार्थके पीछे दूसरा पदार्थ, एक अवस्थाके पीछे दूसरी अवस्था प्रकट होती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तुएँ, कीटाणुसे लेकर मनुष्यतक, परमाणुके अङ्गभूत विद्युत्कणसे लेकर आकाशस्थ महासूर्य्यतक, रासायनिक तत्त्वोंसे लेकर बुद्धितत्त्व और चेतनातक, सभी इसीमेंसे अभिव्यक्त हुए हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रधानका रूप विकृत कैसे होता है, उसमें परिवर्तन कैसे होता है?

प्रधानकी कोई भी अवस्था ले ली जाय, वह कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियोंकी साम्यावस्था होती है। यह विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रसुप्त हों या उदार, पर जबतक यह एक दूसरीको सँभाले रहती हैं तबतक अवस्था एकसी रहती है। सांख्यके अनुसार भी सत्व, रज, तम अर्थात् तीनों परस्पर विरोधी गुणोंकी साम्यावस्था ही

प्रधान है। प्रत्येक अवस्थामें विपरीत धर्म्म एक दूसरेमें समवेत रहते हैं। इस विपरीत समवाय*के द्वारा ही आगे चलकर विकास या परिवर्तन होता है। पर यह साम्यावस्था बहुत दिनों-तक नहीं रह सकती। जिन विपरीत तत्त्वोंका समावेश उस अवस्थामें होता है उनमें स्वभावतः क्षोभ उत्पन्न होता है। धीरे धीरे एक कुछ प्रबल होने लगता है। उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब कि प्रधानकी वह पूर्वावस्था बदल कर नयी ही अवस्था, नया ही स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रक्रियाको 'मात्राभेदसे गुणभेद' † कहते हैं। उदाहरणके लिए जलको ले लीजिये। एक शक्ति है जो जलके परमाणुओंको एक दूसरेकी ओर आकृष्ट किये हुए है। दूसरी शक्ति उनको एक दूसरेसे पृथक् करती है। दोनोंकी साम्यावस्थामें जलका रूप रहता है। जब वियोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ने लगती है तो बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब जलके गुणके स्थानमें दूसरे गुण प्रतीत होने लगते हैं और जलके स्थानमें भाप आ जाती है। यदि संयोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ती तो गुणान्तरकी प्रतीति होती और जलके स्थानमें बर्फ देख पड़ता। यह नयी अवस्था प्रथम अवस्थासे विपरीत होती है अतः इसे उसका विपरिणाम ‡ कहते हैं। परन्तु कुछ कालमें जिस प्रकार पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था बनी थी उसी प्रकार इस दूसरी अवस्थामें भी साम्यावस्थाका प्रणाश अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। क्रमात् यह भी बदलती है।

---

* Interpenetration of contradictories.

† The changing of quantity into qualty.

‡ Negation.

इसका भी विपरिणाम उत्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था पहली अवस्थाके विपरिणामका विपरिणाम* होती है। जिस प्रकार द्वितीय अवस्था प्रथम अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है उसी प्रकार तृतीय अवस्था द्वितीय अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है। प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्तीके विपरीत होती है पर अपने गर्भमें उसका कुछ अंश ले आती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्थामें प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्थाका कुछ अंश विद्यमान रहता है। जो विपरिणामका विपरिणाम होता है उसमें मूल और विपरिणाम दोनोंका समन्वय होता है अर्थात् वह दोनोंके मुख्यांशोंकी साम्यावस्था होता है। इसके बाद उसकी दशा स्वयं मूल अवस्था जैसी होता है अर्थात् उसमें स्वयं परिवर्तन होता है। क्रमात् उसका विपरिणाम और विपरिणामका विपरिणाम उत्पन्न होता है। यों ही परम्परा चलती रहती है और तत्त्वसे तत्त्वान्तर, अवस्थासे अवस्थान्तर, बनता रहता है। यही इस जगत्के विकासका क्रम है।

मूल अवस्थाको वाद†, विपरिणामको प्रतिवाद ‡ और विपरिणामके विपरिणामको युक्तवाद § भी कहते हैं। यह शब्द शास्त्रार्थकी प्रक्रियासे लिये गये हैं। शास्त्रार्थ करते समय पूर्वपक्षी जो कुछ कहता है वह वाद है। सम्भवतः उसमें सत्यका अंश है परन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। उत्तरपक्षी उसके उत्तरमें जो कहता है वह प्रतिवाद है। सम्भवतः इसमें भी सत्यका अंश है। अब यदि कोई निर्णायक होगा तो वह वाद और प्रतिवाद दोनोंका समन्वय करेगा। इस प्रकार सत्यका जो रूप स्थिर होगा वह युक्तवाद होगा और यथार्थ नहीं तो उसके समीपतर अवश्य होगा।

*Negation of the negation, †Thesis. ‡Anti-thesis. §Synthesis.

यूरोपमें पहले पहल हीगेलने इस सिद्धान्तका प्रवर्तन किया था कि जगत्का विकास इस वाद-प्रतिवाद-युक्तवाद या मूल अवस्था-विपरिणाम-विपरिणामका विपरिणाम-क्रमसे होता है। विवर्तनके इस प्रकारको द्वन्द्वात्मक* कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वाद अपने द्वन्द्वस्वरूप प्रतिवादको अपने गर्भसे उत्पन्न करता है। यह हो ही नहीं सकता कि वाद हो और प्रतिवाद न हो। प्रतिवादकी अभिव्यक्ति देरमें हो पर वह बीज रूपसे अवश्य रहता है, कमसे कम वह आभ्यन्तर क्षोभ जो आगे चलकर विपरिणामके रूपमें व्यक्त होता है साम्यावस्थाके स्थापित होनेके साथ ही आरम्भ हो जाता है। हाँ, यदि विपरीत धर्मोंका ही किसी प्रकार अभाव हो जाय तो वादके पीछे प्रतिवाद नहीं आ सकता। यह बात तो व्यावहारिक नहीं है परन्तु विकासकी किसी विशेष लड़ीको निःसन्देह तोड़ा जा सकता है। बीज वाद है पृथ्वीमें पड़कर उससे जब अंकुरादिका प्ररोहण हुआ तो उसका विपरिणाम या प्रतिवाद हुआ। जब फिर नये बीज बने तो यह नये बीज युक्तवाद अर्थात् मूल बीजके विपरिणामके विपरिणाम हैं। यह विकासका क्रम है। पर यदि कोई बीजविशेष दग्ध कर दिया जाय तो उनके विकासकी श्रृङ्खला समाप्त हो जायगी।

यद्यपि शारीरक भाष्यमें शङ्करने 'प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन' सांख्यके मतका खण्डन किया है पर बहुतसे अद्वैतवादी सांख्यके विकास-क्रमको मानते हैं। उनके अनुसार सांख्य और वेदान्तका जो समन्वय होता है उसमें द्वन्द्वात्मक पद्धतिकी झलक मिलती है।

जगत्का मूल स्वरूप ब्रह्म है। ब्रह्म अखण्ड, अद्वय, सत, चिन्मात्र है। उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता अतः वह नेति-

* Dialactical.

नेति वाच्य है। ब्रह्म वाद है। वह अपने प्रतिवादस्वरूप मायाको अभिव्यक्त करता है। माया ब्रह्मसे भिन्न पर अभिन्न है। वह ब्रह्मका स्वभाव है, अचित् है। ब्रह्म और मायाका युक्तवाद परमात्मा है। परमात्मा अपने प्रतिवाद स्वरूप आद्या, अविद्या, को अभिव्यक्त करता है। ईश्वर और अविद्याका युक्तवाद पुरुष है। पुरुष अपने प्रतिवाद स्वरूप मूल प्रकृतिको व्यक्त करता है। इन दोनोंका युक्तवाद महत् है। इसी प्रकार क्रमशः स्थूल भूतोंतक विकास होता जाता है। मेरे कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं है कि किसीने द्वन्द्वात्मक या एतत्सम किसी दूसरे शब्दका प्रयोग किया है पर जो विकासक्रम दिखलाया गया है उसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है।

हीगेलके अनुसार जगत्का मूल पदार्थ सत् होनेके साथ-साथ चेतन भी है। यह ध्यान रखना चाहिये कि वह वेदान्तके ब्रह्मके समान चिन्मात्र—शुद्धचित्, केवल चेतना, ज्ञानमात्रकी सम्भावना नहीं है वरन् परमात्माके समान चेतन, ज्ञाता, है। ज्ञाताके लिए ज्ञेय, ज्ञानकी सामग्री, चाहिये। उस परमावस्थामें कोई दूसरा ज्ञेय नहीं था, अतः अपने आपका, अपनी सत्ताका, ज्ञान था। इस अवस्थाका रूप हुआ—मैं हूँ।

यदि सर्वत्र प्रकाशही प्रकाश हो तो उजालेकी अनुभूति नहीं हो सकती। यदि जगतमें केवल जलही होता और कुछ न होता तो यह जल है ऐसा अनुभव न होता। प्रकाशकी प्रतीति अन्धकारकी, अँधेरा उँजालेका, गर्मी ठंढककी अपेक्षा करती है। कोई भी अनुभूति हो, वह अपने से भिन्न किसी अनुभूतिकी भूमिकामें ही व्यक्त हो सकती है। इस आदिम अनुभूतिके लिए भी यही न्याय लागू था। मैं—अहम्—की प्रतीति तभी स्पष्ट हो सकती थी जब उसकी पृष्ठभूमिमें न-मैं—अनहम्—की

सत्ता हो। मूल अनुभूतिका प्रवाह, निरन्तर मैं हूँ, मैं हूँ चेतनका अपने आपसे तादात्म्य दृढ़ कर रहा था। इस अनुभूतिका स्पष्ट रूप यह हुआः—

मैं नमैं (मैं से भिन्न) नहीं हूँ

इस रूपके गर्भमें यह बात है कि नमैं भी है, आत्मतत्वसे भिन्न किसी अनात्मतत्व, अहम्से भिन्न किसी अनहम्, की सत्ता भी है।

अतः यह बात निकलती है कि नमैं है।

वस्तुतः जगत्के मूलमें मैं और नमैं दो विजातीय पदार्थ नहीं थे। चेतन—मैं शब्द द्वारा वाच्य—ही था। पर अपनी आत्मानुभूतिके स्पष्टीकरणके लिए भूमिकास्वरूप उसने नमैं को व्यक्त किया। अपनेमें से ही नमैं का निक्षेप करके उसने इस नमैं की पृष्ठभूमिमें अपने स्वरूपका स्पष्ट अनुभव किया।

मैं वाद और नमैं प्रतिवाद था। मैं चेतन और नमैं अचेतन था। यह अचेतन चेतनसे भिन्न नहीं है परन्तु भिन्नसा प्रतीत होता है। मैं और नमैंके योगसे युक्तवाद-स्वरूप जगत्का सूत्रपात हुआ। वह क्रम अब तक जारी है। ज्यों ज्यों नमैंका विकास होता जाता है त्यों त्यों चेतनका भी विकास होता है। यों कह सकते हैं कि ज्यों ज्यों दर्पणका संस्कार होता है त्यों त्यों चेतन उसमें अपने स्वरूपको और स्पष्ट देखता है।

वेदान्तके साथ इस मतकी तुलना करना रोचक विषय होगा परन्तु इस जगह विस्तारसे ऐसा नहीं किया जा सकता। हीगेल भी अद्वैतवादी हैं परन्तु उनका लोगॉस (मूल पदार्थका यही नाम है। दूसरा नाम आइडिया है) ब्रह्म नहीं वरन् परमात्मासे मिलता जुलता है। हीगेलके मतसे जगत्में जो उच्चतम बौद्धिक

ज्ञान हो सकता हो वह आत्मज्ञान है। वेदान्त कहता है कि अपनेको जगत्से खींचकर बुद्धिके भी ऊपर उठनेसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ऊपर मैंने हीगेलके मतको जिस रूपसे दिखलाया है उससे स्यात् यह अर्थ निकाला जाय कि आरम्भमें कोई चेतन व्यक्ति था जिसके चित्तमें 'मैं हूँ' ऐसी अनुभूति हो रही थी। ऐसा सोचना भ्रामक होगा। ऐसे भी दार्शनिक हैं जो यह मानते हैं कि आरम्भमें हिरण्यगर्भ—विश्व अन्तःकरण, परमात्माके चित्त—में क्षोभ हुआ। यह क्षोभ सङ्कल्प, विचार, आइडिया, जगत्का बीज था। परन्तु हीगेल उन विचारकोंमें है जो मूल सङ्कल्प, विचार, आइडिया, के लिए किसी परमात्मा, विचारक रूपी आधारकी आवश्यकता नहीं समझते। बूंदोंसे भिन्न नदी नहीं होती, इसी प्रकार विचारोंसे भिन्न कोई विचारक नहीं होता। मूल विचार स्वयं चेतन था; वही ज्ञाता और ज्ञान, अनुभवकर्ता और अनुभूति था। इच्छाओं, सङ्कल्पों और ज्ञानों, दूसरे शब्दोंमें अनुभूतियोंसे भिन्न चित्तकी सत्ता नहीं होती। अतः उस मूल विचार, मूल अनुभूति, को टिकनेके लिए परमात्माका चित्त या किसी ऐसे ही दूसरे सहारेकी आवश्यकता नहीं थी। ईश्वर भलेही हो परन्तु इस प्रसङ्गमें उसकी अपेक्षा नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध दर्शन भी विज्ञानोंसे भिन्न किसी आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करता।

मार्क्स और एंगेलसने हीगेलसे इस विकासक्रमको तो ले लिया है पर जगतका मूल उनके अनुसार कोई चेतन अहम् पदार्थ नहीं वरन् अचेतन प्रधान था। इसीलिए इनका सिद्धान्त

प्रधानवाद कहलाता है। ऊपर बतलाये हुए कारणसे इस नामके साथ 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण लगा हुआ है। ❀

जब जगत्का मूल अचेतन था तो फिर किसी नित्य आत्माके लिए स्थान ही नहीं रह जाता। इसीलिए इसे द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद भी कह कहते हैं। 'द्वन्द्वात्मक' जोड़े रहना अच्छा है, अन्यथा बौद्ध जैसे अनात्मवादी दर्शनोंसे भ्रान्ति होनेका डर है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन पुनर्जन्मको मानता है पर अबतक मार्क्स और एंगेल्सके अनुयायी ऐसा नहीं मानते।

नित्य आत्मा हो या न हो पर जगतमें चेतनाका अनुभव तो होता ही है। चेतनाके लक्षण हैं, ज्ञान इच्छा और क्रिया—स्वयं प्रभावित होना और प्रभावित करना। जहाँ चेतना है वहाँ किसी न किसी प्रकारका अन्तःकरण है। किसी न किसी प्रकार मन, अहङ्कार और बुद्धिका क्षेत्र है। अन्तःकरणकी विकसित अवस्थामें उसके गुण, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध, औदार्य्य, दया,त्याग,प्रेम इत्यादि भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। प्रधानवादी इनमेंसे किसीकी भी सत्ताको अस्वीकार नहीं करता। वह केवल दो बातें कहता है। पहिली तो यह कि इनमेंसे कोई भी किसी नित्य आत्माका गुण नहीं है। दूसरी यह कि जैसे प्रधानके विकास द्वारा अनेक पदार्थों, जैसे सोना, तांबा, कोयला, की उत्पत्ति हुई है वैसे ही अन्तःकरण और उसके गुणोंकी भी उत्पत्ति हुई है। पृथ्वी करोड़ों वर्षोंतक प्रज्वलित वाष्पोंका पिण्ड थी। उसके भी करोड़ों वर्ष पीछे वह इस योग्य हुई कि उसपर कोई प्राणी

❀ इसके दो एक प्रचलित नामोंकी ओर हम पिछले अध्यायमें संकेत कर चुके हैं। एक और नाम 'भौतिक विवर्तनवाद' है पर मुझे ऊपर दिये हुए कारणोंसे यह नाम ठीक नहीं जँचते।

रह सके। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई तब प्रधानसे अन्तः करणकी भी अभिव्यक्ति हुई। ज्यों ज्यों परिस्थिति अनुकूल होती गयी त्यों त्यों अन्तःकरणकी अभिवृद्धि होती गयी। किसी भी सभ्य देशका शिक्षित व्यक्ति करोड़ों वर्षों की उन्नतिका दायाद है।

जड़ प्रकृतिमें चेतनाकी अभिव्यक्ति कैसे हुई यह भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है। इस सम्बन्धमें मार्क्सवादीका अपना कोई आग्रह नहीं है। आजकल ऐसा माना जाता है कि जब पृथ्वी पर अनुकूल तापमान हुआ तो समुद्रके जलमें वह रासायनिक द्रव्य उत्पन्न हुआ जिसे सत्व-मूल—प्रोटोप्लाज्म—कहते हैं। यह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और गन्धकके परमाणुओंका मिश्रण है। मिश्रद्रव्य तो लाखों हैं। हमारे नित्यके व्यवहारकी वस्तुओंमें नमक, पानी, शक्कर, घी, तेल सभी रासायनिक मिश्र हैं, सभीके अपने अपने गन्ध-रसादि विशेष गुण हैं परन्तु सत्वमूलमें एक निराला गुण—चेतना—पाया जाता है। जहाँ सत्वमूल होगा वहां चेतना होगी। जहाँ चेतना है वहाँ सत्वमूल है। ऐसे भी छोटे प्राणी हैं जो यन्त्रोंसे भी नहीं देख पड़ते। उनके शरीर सत्वमूलके बहुत छोटे बिंदुमात्र हैं परन्तु उनमें भी सूक्ष्मरूपसे चेतना होती है। ज्यों-ज्यों सत्वमूलके छोटे बड़े टुकड़ोंका सङ्घटन होकर उन्नत शरीर बने त्यों त्यों चेतनाका विकास हुआ। मनुष्यके शरीरमें चेतनाका अबतकका सर्वोत्कृष्ट विकास पाया जाता है।

जब प्रधानका कोई चेतन नियामक नहीं है तो यह मानना होगा कि सत्वमूलकी उत्पत्ति आकस्मिक थी। जिस प्रकार अन्य बहुतसे मिश्र अनुकूल तापमान, वायुचाप आदि परिस्थितियोंमें बन गये वैसेही सत्वमूल भी बन गया पर उसके बननेके साथही जगतके इतिहासका नया अध्याय आरम्भ हो गया। अब जगत

दूसरे प्रकारका जगत् हो गया। अब तक प्रधान अन्धा था अब उसे आंख मिली। उसने अपनेको जाना, पहिचाना। ज्यों ज्यों चेतनाका, बुद्धिका, विकास होता है त्यों त्यों प्रधानके आत्म-ज्ञानकी मात्रा बढ़ती जाती है। अब तक उसका विकास आकस्मिक, अनियन्त्रित, निरुद्देश्य था; अब वह नियन्त्रणमें लाया जा सका और सोद्देश्य बनाया जा सका। प्रधानके स्वभावका, उसके प्रधानत्वका, उसके स्वभावसे उद्भूत नियमोंका, उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता परन्तु इन नियमोंसे काम लिया जा सकता है और चेतनायुक्त सत्वमूल, चेतन प्राणी, के रूपमें प्रधान अपने विकासकी गतिका और कुछ हद तक उसकी दिशाका, संयमन कर सकता है और करता है।

परिस्थितिके अनुसार ही अन्तःकरणके गुणोंका अभिव्यञ्जन होता है। जैसे परिस्थितिके अनुसार प्रधानसे कहीं हिमालय पहाड़ निकला है, कहीं प्रशान्त महासागर, कहीं आकाशगङ्गा और कहीं ऋण विद्युत्कण, उसी प्रकार परिस्थितिके अनुसार कहीं क्रूरता व्यक्त होती है, कहीं उदारता, कहीं क्षमा और कहीं क्रोध। मनुष्य ऐसा समझता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने सङ्कल्पके अनुसार काम करता हूँ। यदि मेरी इच्छा होती है तो खड़ा होता हूँ, नहीं तो बैठा रहता हूँ। यहाँ तक तो ठीक हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि सङ्कल्प करनेका स्वातन्त्र्य कहाँ तक है? मेरा ऐसा सङ्कल्प हुआ इसलिए मैं खड़ा हुआ पर क्या मैं दूसरे प्रकारका सङ्कल्प कर सकता था? क्या मेरे अन्तःकरणमें सिवाय खड़े होनेके कोई दूसरा सङ्कल्प उठ भी सकता था? जो लोग नित्य आत्मा मानते हैं उनके लिए ऐसा मानना सम्भव है, यद्यपि उनमेंसे भी बहुतसे सङ्कल्प-स्वातन्त्र्यको भगवदिच्छा या अदृष्ट या क़िस्मतसे बँधा मानते हैं। प्रधानवादी कहता है कि

प्रधानकी समस्त सन्तति एक ही सूत्रमें बँधी है। जो द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम परमाणुओं और पहाड़ोंकी गति-विधिका नियन्त्रण करता है वही कीटसे लेकर मनुष्यतकके अन्तःकरणका नियमन करता है। किसी समय-विशेषकी अवस्था जिन तत्त्वोंकी साम्यावस्था है उनमें मनुष्योंके अन्तःकरण भी हैं। परिस्थितिके अनुसार इस साम्यावस्थामें क्षोभ होगा अर्थात् इसके भौतिक और मानस दोनों प्रकारके अवयव क्षुब्ध होंगे। अन्तमें जो विपरिणाम उत्पन्न होगा, उसमें भौतिक और मानस दोनों प्रकारके तत्वोंकी नयी अवस्था होगी। पानीका विपरिणाम भाप और बर्फ दोनों हो सकता है। यह बाहरकी परिस्थितिपर निर्भर है कि किसी काल और स्थान विशेषमें पानी किसमें परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार परिस्थिति इसका निश्चय करती है कि अन्तःकरण कालान्तरमें कौनसा रूप धारण करेगा अर्थात् किस धर्माधर्मविशेषसे आच्छादित देख पड़ेगा। यदि स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता होती तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते परन्तु प्रधानके लिए तो एक ही नियम है।

जो नियम व्यष्टिके लिए है वही समष्टिके लिए लागू है। जो द्वन्द्वमान विकृतिप्रणाली भौतिक और व्यक्तियोंके मानस जगतको परिचालित करती है, उसीके अनुसार व्यक्तियोंके समूहोंमें भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सभी अवस्थाएँ इसी प्रणालीके अनुसार बदलती रहती हैं। लोग समझते हैं कि इतिहासका प्राङ्गण थोड़ेसे बड़े आदमियोंकी मनोवृत्तियोंका क्रीड़ाक्षेत्र है। ऋषि-मुनि, धर्म्म-प्रवर्तक, राजा, बादशाह, सेनापति, विद्वान, नेता बस इनके मनमें तरंगें उठती हैं और लाखों मनुष्योंके सुख दुःखका वारा-न्यारा हो जाता है। इसलिए इतिहासकी पोथियोंमें इन्हीं लोगोंके जीवन

और कृत्योंका विस्तृत वर्णन रहता है, साधारण लोगोंका ज़िक्र यों ही गौण रूपसे आ जाता है।

प्रधानवादी ऐसा नहीं मानता। वह कहता है कि बड़े आदमी और आदमियोंके समूह द्वन्द्वमान प्रणालीके बाहर नहीं जा सकते। परिस्थितिके अनुसार उनमें भी परिवर्तन होता है। पर हाँ, जो पदार्थ जितना ही उन्नत होगा, उसके विकासको समझना भी उतना ही कठिन होता है।

मानव-समुदायोंके इतिहासपर किस परिस्थितिका प्रभाव पड़ता है ? ऋतु, देशकी भौगोलिक बनावट, समीपस्थ वृक्ष और पशु-पक्षी, इन सबका प्रभाव पड़ता है पर यह न्यूनाधिक स्थायी हैं। इनमें परिवर्तन होता भी है तो देरमें, अतः इनके प्रभावसे समूहका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवर्तन प्रायः नहीं होता। मार्क्स और एङ्गल्सका कहना है कि समुदायका सांस्कृतिक जीवन आर्थिक व्यवस्थापर निर्भर है और यह आर्थिक व्यवस्था उत्पादनविधिपर निर्भर है। यह इतिहास-सिद्धान्त इन लोगोंका विशेष आविष्कार है। हठधर्मीके कारण बहुत लोग अभी इसे स्वीकार नहीं करते पर इसके सिवाय कोई दूसरा सिद्धान्त है भी नहीं जो इतिहासके परिवर्तनोंको वैज्ञानिक ढङ्गसे समझा सके। उदाहरणके द्वारा इसको समझनेमें सुगमता होगी।

आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले पृथ्वीभरमें भूमिही सम्पत्तिका मुख्य रूप थी। भारतमें यह अवस्था आज भी देखी जा सकती है। उत्पादनका मुख्य साधन कृषि थी। थोड़ी बहुत कारीगरी थी पर देशकी आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल यहाँकी सारी संस्कृति थी। यह आवश्यक था कि लोग यथा सम्भव गाँवमें और घर-पर रहें। इसलिए ग्राम-सङ्गठन सुदृढ़ था और सम्मिलित परिवार होते थे। मजदूरोंकी विशेष आवश्यकता न थी पर जितने

मजदूर चाहिये थे वह गाँव नहीं छोड़ने पाते थे। मजदूरी रुपये-में नहीं, अन्नादि कृषिसे पैदा हुई चीजोंमें दी जाती थी। शरीरसे काम करनेवालोंको विशेष शिक्षाकी आवश्यकता न थी। शासन-या अधिकार नरेशों या बड़े जागीरदारोंके हाथमें था। मजहब और क़ानून इस व्यवस्थाकी रक्षा करते थे। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियोंकी साम्यावस्था थी। क्रमशः उत्पादनकी शैलीमें परिवर्तन हुआ। इसका भी कारण है पर उसे हम यहाँ छोड़ते हैं। अब उत्पादन खेतोंके स्थानमें मिलोंमें होने लगा। इसके लिए इस बातकी आवश्यकता हुई कि बहुतसे मजदूर एक जगह एकत्र हों। जहाँ जहाँ मजदूर एकत्र होंगे वहाँ वहाँ उनके लिए बाजार, अस्पताल, निवास-स्थान बनेंगे अर्थात् नगर बसेंगे। इसके साथ ही ग्रामोंसे खिचकर मजदूर नगरोंमें आवेंगे अर्थात् गाँव उजड़ेंगे। सम्मिलित परिवार टूट जायँगे, लोग जीविकाकी तलाशमें दूर-दूर जायेंगे और बसेंगे। जिन क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी बन्धनोंसे गाँवके निवासी, विशेपतः मजदूर, बाँधकर गाँवमें रखे जाते थे वह शिथिल होंगे। मजदूरी नगरमें तो रुपयेमें मिलेगी ही, ग्रामोंमें भी मजदूर रुपया ही चाहेंगे क्योंकि जहाँ पहले उनकी सब आवश्यकताएँ गाँवमें पूरी हो जाती थीं वहाँ उन्हें अब पैसा देकर बहुतसी वस्तुएँ मोल लेनी पड़ती हैं। राजनीतिक अधिकार भी सामन्त-सरदारोंके हाथसे निकलकर नगरोंके रहनेवाले वकीलों, व्यापारियों, महाजनोंके हाथमें आ जायगा और लोकतन्त्रपर जोर दिया जायगा। मज़-हबका वह रूप जिसमें राजाको भगवानका स्वरूप मानना और लोक-परलोकके मध्यस्थ पुरोहितों व पुजारियोंकी सेवा-पूजा करना मुख्य कर्तव्य होता था, अब रोचक नहीं प्रतीत होगा। जो हजारों आदमी एक साथ रहेंगे उनमें शिक्षा भी होगी, उनके मनमें भाँति

भाँतिके प्रश्न उठेंगे। कृषक प्रकृतिका दास रहता है। हवा, पानी, आँधी, बिजलीके आगे वह हार जाता है अतः उसकी मनोवृत्ति दीन, शक्तिसे दबनेवाली होती है। उसकी बुद्धिमें नयी बातें जल्दी प्रवेश नहीं करतीं। पर विज्ञान तो प्रकृतिपर विजय पाता है और उसमें नित्य नयी उन्नति होती रहती है। अतः मशीनोंसे काम लेनेवाला साहसी, निर्भय और नवीनताके लिए उत्सुक रहता है। तात्पर्य्य यह है कि उत्पादन-विधिमें परिवर्तन हो जानेसे वह साम्यावस्था जिसपर पुरानी अवस्था टिकी हुई थी नष्ट हो जाती है और प्रसुप्त शक्तियाँ जागरित हो उठती हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी व्यवस्था उलट-पुलट हो जाती है। मजहबका कलेवर बदल जाता है। लोगोंकी मनोवृत्ति दूसरे प्रकारकी हो जाती है। इस सांस्कृतिक परिवर्तनके साथ साथ शासन-व्यवस्था भी बदलती है। पुरानी अवस्थाका विपरिणाम नयी अवस्था स्थापित होती है। नयी साम्यावस्था पुनः घटित होती है। इस सारी परिवर्तनमालाका नाम इतिहास है। यह जीता-जागता इतिहास हम अपनी आँखों भारतमें देख रहे हैं। जो अवस्था आजकल है उसको पूँजीवादी अवस्था कहते हैं। पर इसमें भी क्षोभ उत्पन्न हो गया है। विपरिणामका विपरिणाम उदीयमान है। कहनेका सारांश यह है कि आर्थिक व्यवस्था, जो उत्पादनके स्वरूपपर निर्भर है, ऐतिहासिक अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक परिवर्तनोंकी प्रेरक होती है।

प्रधानवादी यह नहीं कहता कि लोग प्रतिक्षण आर्थिक बातोंको सोचकर उनके अनुसार काम करते हैं। देश या मजहब या इज्जतके लिए मर मिटनेवाले, पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले, रुपयों या रोटियोंके लिए यह सब नहीं करते। प्रत्यक्षतया तो यह ऊँचे नैतिक भावोंसे ही

प्रेरित होते हैं और प्रधानवादी ऐसे भावोंका समादर करता है। वह चाहता है कि लोगोंमें ऐसे भाव रहें। पर वह यह जानता है कि इन भावोंका उदय होना विशेष परिस्थितियोंपर ही निर्भर है। आज भारतमें जैसे देशसेवा, त्याग, आत्मबलिके भाव फैल रहे हैं वह कुछ समय पहिले नहीं फैल सकते थे। जो लोग इन भावोंसे प्रभावित हो रहे हैं उनके सामने तो ऊँचे उद्देश्य और आदर्श हैं पर उद्देश्यों और आदर्शोंको विशेष आर्थिक परिस्थितियोंने ही सम्भव बनाया है। अन्तःकरणपर इन परिस्थितियोंका जो प्रभाव पड़ रहा है वही प्रशस्त भावोंको जगा रहा है। यह प्रभाव ज्ञात नहीं है पर सत्य है।

ऊपर जो कुछ समासेन कहा गया है उसे इतिहासकी आर्थिक व्याख्या* कहते हैं। इसमें इतिहासको बदलनेका श्रेय किसी अलौकिक व्यक्तिकी इच्छाको नहीं दिया गया है। यह भी नहीं कहा गया है कि विशेष निर्दिष्ट दिशामें विकास होगा। केवल यह कहा गया है कि ऐतिहासिक परिवर्त्तनोंकी प्रेरणा आर्थिक हेतुओंसे मिलती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि जब ऐतिहासिक परिवर्तन इस प्रकार होते हैं तो क्या हमको पहलेसे उनका ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर हाँ भी है और नहीं भी। किसी समय-विशेषमें जो अवस्था होती है उसके अङ्गभूत भौतिक पदार्थ—धातु, लकड़ी, परमाणु—या भौतिक शक्तियाँ—ताप, विद्युत, प्रकाश–इत्यादि भी होते हैं और अन्तःकरण भी। भौतिक पदार्थों और शक्तियोंमें सजातीय समता होती है। एक टुकड़ सोनेका व्यवहार दूसरेसे भिन्न नहीं होता। प्रकाशके नियम सर्वत्र एकसे ही होते हैं। अतः किसी एक अवस्थाके पीछे इनकी क्या

---

* Economic or Materialist Interpretation of History.

अवस्था होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु अन्तःकरणोंमें विषमता होती है। दावेके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक विशेष अन्तःकरण ठीक अमुक प्रकारसे व्यवहार करेगा। अन्तःकरण बाहरी परिस्थितिसे प्रभावित होता है पर उसको देखकर प्रतिवादके विषयमें यथार्थ भविष्यद्वाणी नहीं की जा सकती।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ब्योरेवार भविष्यद्वाणी चाहे न की जा सके पर जो द्वन्द्वमान विकासक्रमको समझता है वह किसी अवस्था-विशेषका विश्लेषण करके यह समझ सकता है कि इसकी साम्यावस्था किस दिशामें भग्न होनेवाली है। वह उसके भीतरकी शक्तियोंकी गतिविधि और परिस्थितिसे यह अनुमानकर सकता है कि अब इनमेंसे कौन-सी शक्तियाँ जागरित और उग्र होने जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिवादके स्वरूपका चित्र खींच सकता है।

इस सिद्धान्तकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य सिद्धान्तोंके सत्यासत्यका निर्णय तर्कसे ही हो सकता है। वेदान्त तर्कको तो नहीं मानता, तर्काप्रतिष्ठानात्, पर अपनी सत्यताकी कसौटी स्वसंवेद्य अनुभवको ठहराता है। परन्तु यह प्रधानवाद अपनी सत्यताकी परीक्षा व्यवहारसे करता है। इसमें 'सिद्धान्त और व्यवहारकी एकता' * पर विशेष प्रकारसे जोर दिया जाता है। अपनी बुद्धिसे केवल तर्कके आधारपर सिद्धान्तका आविष्कार करनेके बदले जगत्के व्यवहारका वैज्ञानिक अनुशीलन करके सिद्धान्त स्थिर करना चाहिये और फिर इस सिद्धान्तसे जगद्व्यापार चलाना चाहिये। साधारण सुधारक उचित-

* Unity of Theory and practice,

अनुचित, न्याय-अन्यायकी कसौटीपर कसकर जो बात ठीक जँचती है, उसे कार्य्यमें परिणत करना चाहता है। प्रधानवादी ऐसा नहीं करता। वह वैज्ञानिक शैलीसे चलता है। जिस प्रकार विज्ञानवेत्ता प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनके अनुसार काम करता है और लाभ उठाता है, उसी प्रकार द्वन्द्वमान प्रधान-वादका विद्यार्थी परिस्थितिका अध्ययन करके देखता है कि परिस्थिति स्वयं किधर झुकनेवाली है। उसी दिशामें प्रयत्न करता है। जो शक्तियाँ दबनेवाली हैं उनको दबाकर जो प्रदीप्त होनेवाली हैं उनके जागरणमें सहायता करता है। अतः जो प्रति-वाद प्रकृत्या देरमें आता उसे जल्द ही स्थापित करा देता है। यहीं उद्योगकी उपयुक्तता सिद्ध होती है, अन्यथा द्वन्द्वमान विकास तो स्वतः होता ही रहेगा।

इस प्रणालीमें महापुरुषोंके लिए स्थान है या नहीं ? अवश्य है। पहले तो जिसकी प्रतिभा जितनी ही तीव्र होगी, वह द्वन्द्वात्मक विकास-गतिको समझकर भावी परिवर्तनके रूपको पहिचानेगा और तदनुकूल उद्योग करेगा और करायेगा। उसका उद्योग तथा उद्योग-फल भी उसकी प्रतिभाके अनुरूप होगा। पुनः, महापुरुष अपने युगका प्रतीक और समसामयिक शक्तियोंका नाभिविन्दु होता है। पानीमें नमक या शक्कर या फिटकिरी घोल देनेसे कुछ कालके बाद रवा जमने लगता है पर यदि एक कण उस घोलमें पड़ जाय तो बड़ी जल्दी रवा जम जाता है। महापुरुष ऐसे कणका काम करता है। जो प्राकृतिक नियम स्वतः देरमें काम करते वह उसके चारों ओर केन्द्रीभूत हो जाते हैं। वह परिस्थितसे स्वतन्त्र नहीं है पर परिस्थितिको औरोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावित कर सकता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति हज़ारों साधारण व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक मूल्य रखता है। पर हम

महापुरुष उत्पन्न नहीं कर सकते। जिन प्राकृतिक शक्तियोंने महाद्रि और महासूर्य्योंकी रचना की है, वह कभी ऐसे महापुरुषोंको भी जन्म दे देती हैं। हम उन शक्तियोंको तो थोड़ा बहुत पहिचानते हैं पर उनका पूर्ण नियन्त्रण हमारे हाथमें नहीं है। जगत्का साधारण काम साधारण व्यक्तियोंके ही भरोसे चलता है।

इसपर बहुत जोर दिया जाता है कि समझदार राजनीतिज्ञ या राजनीतिक दलको 'दृश्यगत' परिस्थितिके अनुसार काम करना चाहिये। इस पदका अर्थ ठीक ठीक समझ लेना अच्छा है। वेदान्तके अनुसार प्रत्येक वस्तुकी सत्ता तीन प्रकारकी हो सकती है। एक तो उसकी वास्तविक सत्ता है, इसको पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। जैसे रस्सीकी पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म है। दूसरी वह सत्ता है जो साधारणतः लोगोंको प्रतीत होती है, जिसके अनुसार जगत्का व्यापार होता है, इसको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं:— रस्सीकी व्यावहारिक सत्ता रस्सी है। पर कभी कभी किसी विशेष कारणसे वस्तु अपने व्यावहारिक रूपमें नहीं प्रत्युत किसी अन्य रूपमें प्रतीत होती है। इस तीसरी सत्ताको प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं जैसे यदि कभी रस्सीको देखकर सर्पकी भ्रांति हो तो उस समय रस्सीके इस टुकड़ेकी प्रतिभासिक सत्ता सर्प होगी।

पाश्चात्य दर्शनमें दो प्रकारकी ही सत्ता मानी जाती है। एक तो वह जो वास्तविक हो, दूसरी यह जो प्रतीत होती हो। 'जो वास्तविक हो' के अन्तर्गत पारमार्थिक सत्ता भी है, यद्यपि वह लोग प्रायशः व्यावहारिक सत्ताको ही महत्व देते हैं। जो प्रतीत होती हो उसके अन्तर्गत व्यावहारिक सत्ता भी हो सकती है और प्रातिभासिक सत्ता तो है ही, परन्तु प्रातिभासिक सत्ताके अतिरिक्त भी कुछ है। जैसे, चाँदीकी एक चेन पड़ी है। चाँदीकी चेन,

यह तो उसकी अपनी वास्तविक सत्ता हुई। अब वह यदि मुझे सर्पके रूपमें देख पड़ती है तो यह दूसरी सत्ता हुई। पर जब वह मुझे सर्पवत् देख पड़ेगी उस समय मेरे अन्तःकरणमें केवल सर्पकी आकृति ही न होगी, उसके साथ साथ सम्भवतः भय भी होगा या क्रोध होगा। सम्भवतः किसी पिछले अवसरकी, जब सर्प निकला होगा, स्मृतिकी झलक भी होगी। यदि चेन मुझे सर्पके स्थानमें चेनके रूपमें ही प्रतीत होती तब भी उसकी आकृतिके साथ लोभ या परिग्रहकी इच्छा और किसी प्रकारकी स्मृति लगी होती। पाश्चात्य दार्शनिक द्वितीय सत्तामें, जो साक्षीके अन्तःकरणमें होती है, यह सब मानस विकार अन्तर्भूत मानते हैं। यह स्पष्ट ही है कि यह प्राच्य दर्शनकी प्रातिभासिक सत्ता नहीं है।

अतः इन दोनों प्रकारकी सत्ताओंके लिए दो स्वतन्त्र शब्द होने चाहिये। पहिलीको, जो उस वस्तुविशेषकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, जो किसी साक्षीपर निर्भर नहीं है, जो साधारणतः सभी निर्दोष इन्द्रियवालोंको प्रतीत होती है, दृश्यगत * सत्ता कहते हैं। दूसरी, जो प्रत्येक द्रष्टाके लिए कुछ न कुछ भिन्न है, क्योंकि वही वस्तु किसीको प्यारी, किसीको बुरी लगती है, किसीमें कोई स्मृति जगाती है, किसीमें कोई भाव उठाती है, उस वस्तुकी दृष्टिगत † सत्ता है।

किसी समय-विशेषमें जो परिस्थिति होगी उसके भी दो अंश हो सकते हैं। कोई केवल व्यक्तियोंके भाव और आवेश, उनके राग, द्वेष, क्रोध, महत्त्वाकांक्षा आदिपर अर्थात् दृष्टिगत

* Objective † Subjective.

जगत्पर ध्यान दे सकता है। कोई केवल राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं, तोपों, बन्दूकों, सेनाओं, मिलोंपर दृष्टि डालता है। परिस्थितिमें यह दोनों ही हैं और दोनों ही उसको प्रभावित करते हैं। प्रधानवादी यह भले ही मानता हो कि जड़ प्रधानसे बुद्धि आदिका विकास हुआ है और आर्थिक शक्तियाँ मानस जगत्के भावोंको भी रञ्जित करती हैं पर वह जड़वादी नहीं हैं। वह उन लोगोंमें नहीं हैं जो समझते हैं कि भौतिक तत्त्व ही सब कुछ है, अन्तःकरण कोई महत्त्व नहीं रखते। वह जानता है कि व्यक्तियोंके अन्तःकरण भी किसी काल-विशेपकी परिस्थितिके बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश हैं। जो कोई परिस्थितिका अध्ययन करना चाहता है उसे भौतिक पदार्थ भी देखने पड़ेंगे और अन्तःकरण भी। सच तो यह है कि अन्तःकरणके द्वारा ही भौतिक जगत् प्रभावित और परिवर्तित किया जा सकता है। जो ऐसा ठीक ठीक समझता है वही दृश्यगत परिस्थितिको * ठीक ठीक समझ सकता है और उससे लाभ उठा सकता है।

प्रधानवादी यह भले ही मानता हो कि प्राचीन कालमें कुछ लोगोंने ऊँचे भावोंको जगाकर उनसे हीन उद्देश्य सिद्ध कराये हैं पर वह स्वयं ही शौर्य्य, धैर्य्य, तप, त्याग, अपरिग्रह आदि सद्भावोंको जगाना चाहता है। वह भी यही चाहता है कि लोग निष्काम भावसे काम करें।

इन पिछली पंक्तियोंको विशेप रूपसे लिखनेकी आवश्यकता यह पड़ी कि किन्हीं कारणोंसे यह भ्रान्ति फैल गयी है कि

---

* Objective Situations.

समाजवादमें बुद्धिके सात्विक धर्म्मोंके लिए कोई स्थान नहीं है। यह भ्रम है। द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद चार्वाक और तत्सम अनात्मवादोंसे सर्वथा भिन्न है।*

सातवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व (१)—भूमि

समाजवादी—मैं अभी इस शब्दकी कोई व्याख्या नहीं करूँगा—जब इस जगत्की नाड़ीपर हाथ रखता है तो उसे इसके समस्त रोगोंकी तहमें दो तीन मूल रोग मिलते हैं। उपरोग और उपलक्षण तो बहुत हैं। अन्य लोग उनमेंसे ही एकाधको पकड़ बैठते हैं और उन्हींका उपचार करने लग जाते हैं पर गम्भीर विश्लेषण करनेपर समाजवादी इसी परिणामपर पहुँचा है कि दो तीन बातें मुख्य हैं। इनपर ही ध्यान देनेकी आवश्यकता है। 'यदि इनकी सुव्यवस्था हो जाय तो शेष बातें आप ही सुधर जायँगी, अन्यथा यही दुरवस्था बनी रहेगी।

---

* 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' मानता हुआ भी प्रधानवादी यह नहीं कह सकता—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'।

मेरा निजी विश्वास तो यह है कि चार्वाक कोई गम्भीर विचारक रहे होंगे अब उनकी रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं और हम जिन अनाचारवर्द्धक वाक्योंको लेकर उनको कोस देते हैं वह उनके सिर उनके विरोधियोंने मढ़ दी हैं।

इनमें सबसे पहिली बुराई है उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व। उत्पादनके साधनोंमें भूमि, पूँजी इत्यादि हैं। है तो मनुष्य भी एक साधन ही, पर उसे हम यहीं छोड़ते हैं। 'इत्यादि' को भी छोड़ते हैं।

भूमि उत्पादनका बहुत बड़ा साधन है। भूमिसे ही खेती होती है जिससे सबका पेट पलता है। भूमिपर ही वह गाय, भेड़, बकरी पलती हैं जिनका दूध पिया जाता है और मांस खाया जाता है। भूमिपर ही वह पशु चरते हैं जिनके रोएँ और बाल काममें आते हैं। भूमिपर ही कपास, सन, पटुआ इत्यादि उत्पन्न होते हैं जिनसे कपड़े, बोरे तथा अन्य वस्तुएँ बनती हैं। भूमिसे ही लोहा, कोयला, सोना, मिट्टीका तेल आदि निकलते हैं जिनपर सारी सभ्यता निर्भर है।

पृथ्वीके कुछ थोड़ेसे भागोंको छोड़कर अधिकांश भूमि काममें आ रही है। इसमें हम सुविधाके लिए उसका भी विचार छोड़ देते हैं जिसमेंसे खनिज निकलते हैं या जिसपर किरायेके मकान खड़े हैं। शेष भूमिपर खेती होती है। खेती करनेवाला कृषक है। कृषकको कुछ न कुछ तो देना ही पड़ता है पर जो देना पड़ता है उसके तीन मुख्य रूप हैं। एक तो यह है कि वह अपनी भूमिका एक मात्र स्वामी है। सरकारको जो देता है वह आमदनीके टैक्सके रूपमें देता है। यह प्रथा बहुत कम जगह है। दूसरी प्रथा यह है कि भूमि राजकी है। कृषक उसपर खेती करता है और सरकारको लगान देता है। इसे रैयतवारी प्रथा कहते हैं। यह भारतके कई भागों, मुख्यतः दक्षिणमें, प्रचलित है। तीसरी प्रथामें कृषिकी जमीन कृषक और राजके बीचमें एक तीसरे व्यक्तिकी मानी जाती है जिसे जमीनदार कहते हैं। जमीनदारके मालगुज़ार, तअल्लुकेदार आदि कई पर्य्याय हैं।

कृषक जमीनदारको लगान देता है। इसके बाद जमीनदार राज-को कुछ मालगुजारी देता है। अभी दुनियाके बहुतसे भागोंमें यही प्रथा चालू है। जमीन किसी न किसी जमीनदारकी सम्पत्ति मानी जाती है। भिन्न भिन्न देशोंमें नियम पृथक् पृथक् हैं पर किसी न किसी अवस्थामें जमीनदार कृषकको निकाल सकता है और जमीन दूसरेको दे सकता है।

चूँकि भूमि जमीनदारकी है इसलिए लगान और टैक्समें एक बड़ा अन्तर होता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आमदनीको अपने पास रखनेका पूरा अधिकार है। पर राजका काम भी रुपये के बिना चल नहीं सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति आयका कुछ भाग राजको दे देता है। यही आयकर या टैक्स है। लगानके लिए यह बात नहीं है। जमीन जिसकी है उसको पूरा अधिकार है कि उसका उपभोग करे। वह ऐसा न करके दूसरेको, अपने असामी या रैयतको, देता है। यह केवल इसलिए कि असामी अपना पेट पाल सके। इसके ऊपर जो बचता है वह भूमिके स्वामीका है। अतः जहाँ टैक्सके रूपमें बहुत कम वसूल किया जा सकता है, लगानमें सिद्धान्ततः कृषकको पेट भरने भर रखकर और सब कुछ दे देना चाहिये।

अब प्रश्न यह होता है कि जमीनदारको भूमिका स्वाम्य कैसे प्राप्त हुआ? प्राचीन ग्रन्थोंके देखनेसे प्रतीत होता है कि भारतमें आर्य्य शासनकालमें जमीनदार नहीं थे। राज और कृषकके मध्यमें कोई बिचवैया न था। पठान और मुगलकालमें भी जमीनदार न थे। मराठोंने भी अपने राज्यमें जमीनदारी प्रथा स्थापित नहीं की। इस देशमें यह चीज अँग्रेज लाये। कहीं कहीं तो छोटे छोटे नरेशोंके राज्य नष्ट करके उन्हें जमीनदार

बनाया पर विशेषतः यह काम विधिसे उत्तर भारतमें किया गया। उस समयके दुर्बल नवाबोंने कृषकोंकी मालगुजारी उठानेके ठेके दे रखे थे। नवाबोंकी दुर्बलतासे लाभ उठाकर कुछ ठेकेदार, जैसे महाराजा बनारस, स्वतन्त्र नरेश बन गये। शेष नरेश तो नहीं हो पाये पर इतने बलवान् अवश्य हो गये थे कि उनसे ठेका छीनना नवाबोंके लिए असम्भव था। इनमेंसे कुछकी स्थिति जमीनदारों जैसी हो चली थी। यह ठेकेकी भूमिके मालिकसे बन गये थे। ठेका पुश्तैनी सा हो गया था, जब बहुत दबाव पड़ा तब रुपया दे दिया, नहीं न दिया। अंग्रेजोंको ऐसे भारतीयोंकी आवश्यकता थी जो पुराने नवाबोंके भक्त न हों, बलवान् और प्रभावशाली हों, प्रजाको दबा सकें। उन्होंने इन ठेकेदारोंको अपने अपने टुकड़ेका स्वामी मान लिया। अंग्रेजोंके देशमें बड़े बड़े जमीनदार होते थे, उसीकी नक़ल उन्होंने यहाँ भी चलायी। भारतमें जमीनदारी प्रथाका यही संक्षिप्त इतिहास है। कहीं कहीं नया देश जीतनेपर विजेता नरेशोंने उसके बड़े बड़े टुकड़े अपने सेनापतियोंमें बाँट दिये हैं और यह लोग पुश्तैनी जमीनदार हो गये हैं। कभी कभी देशकी बहुत बड़ी सेवा करनेके लिए जागीर मिलती थी। इसके विपरीत अपने देशवासियोंसे लड़ने और विदेशियोंकी सहायता करनेके लिए भी कभी कभी पुरस्कारमें जमीनदारियाँ मिली हैं। अंग्रेजोंने भारतमें ऐसी बहुतसी जमीनदारियाँ बाँटी हैं।

पर चाहे इनमेंसे किसी भी प्रकारसे जमीनदारी चली, हमारा प्रश्न अभी रह गया—जमीनदारको भूमिपर स्वाम्य कहाँसे मिला?

इसका एक सीधा उत्तर तो यह है कि यह स्वाम्य आरम्भमें

अपने बाहुबलसे मिला। ताक़त थी, जितनी दूर तक कृपकोंको दबा सके दबाया, उनके जमीनदार बन गये। यह उत्तर है तो सीधा पर दुधारी तलवार है। जो वस्तु बाहुबलसे आयी है वह उसी मार्गसे जा भी सकती है। कृपक जबर्दस्ती निकालनेका भी अधिकारी है। इसलिए यह उत्तर स्पष्टरूपसे कम ही पेश किया जाता है। बलसे प्राप्त किया गया स्वाम्य ठीक ठीक स्वाम्य है नहीं, कमसे कम लोग कोई और सभ्य उत्तर देना चाहते हैं।

यदि यह कहा जाय कि राजने दिया तो कई प्रश्न खड़े होंगे। पहिले तो यह कि राजको देनेका अधिकार था भी या नहीं अर्थात् भूमि राजकी थी भी? विजित राजकी भूमिका बँटवारा तो कदापि उचित नहीं हो सकता। यदि जापान अपने सेनापतियोंको विजित चीनमें जमीनदारियाँ बाँट देता तो क्या इस दानसे जो जमीनदारियाँ बनतीं, वह न्याय्य होतीं? जापानको चीनपर हक ही क्या था? या जो भूमि ठेकेदारोंको दी गयी उसके देनेका क्या अधिकार था? भारतमें तो जमीनदारियाँ प्रायः ऐसे ही बनी हैं। वह जमीन कम्पनी या अंग्रेज सरकारकी थी ही नहीं, ठेकेदार स्वामी होता ही नहीं, फिर इन जमीनदारियों का न्याय्य आधार क्या है?

जो भूमि राजकी रही हो उसके लिए भी यह देखना होगा कि वह किस कामके लिए दी गयी। जो भूमि देशके प्रत्यक्ष हितके लिए नहीं दी गयी, उसका दान तो माना जा सकता ही नहीं। जो भूमि वास्तविक देशहितके लिए कभी दी गयी थी उसके विषयमें भी सोचना होगा कि क्या वह लोक सेवा इतनी थी कि उसका पुरस्कार उस व्यक्तिके वंशज भी भोगते जायँ? कालिदासने 'शकुन्तला' लिखकर जगत्का बड़ा उपकार किया।

इसके लिए कहा जाता है कि राजा भोजने उन्हें लाखों रुपया दिया। आज कोई व्यक्ति आकर कहे कि मैं कालिदासका वंशज हूँ, मुझे उतने ही रुपये मिलने चाहिये, तो उसकी माँगपर कौन ध्यान देगा ? जागीरदार इससे भिन्न क्या कहता है ?

बहुतसे जमीनदारोंकी ओरसे कहा जायगा कि जमीनदारी प्रथाकी जड़ भले ही खराब हो पर हमने न तो किसीको लूटा है, न किसीसे दान पाया है । सीधे रुपया देकर जमीनदारी खरीदी है। सरकारके यहाँ रजिष्ट्री करायी है। हमारा स्वाम्य तो वैसा ही पक्का है जैसा कि किसी औरका हो सकता है।

यह उत्तर औरोंकी अपेक्षा कुछ निर्दोप है और जो लोग सचाईसे यह उत्तर देते हैं, उनके साथ हमको थोड़ीसी सहानुभूति भी हो सकती है पर यह उत्तर स्वतः पर्य्याप्त नहीं है। इसमें बहुत कुछ विचारणीय है। कोई वस्तु दाम देकर ली गयी केवल इतनेसे ही वह लेनेवालेकी सम्पत्ति नहीं हो सकती। मैं यदि रुपया लेकर दूसरेका घर किसीके हाथ बेच दूँ तो वह बिक्री कहीं मानी थोड़े जायगी। यदि मैं चोरीका माल किसीके हाथ बेचूँ तो माल लेनेवाला भी दंड्य हो सकता है । इसलिए केवल रुपया देना पर्य्याप्त नहीं है। यह भी देखना होगा कि बेचनेवालोंको उस वस्तुपर सचमुच न्याय्य स्वाम्य था या नहीं। जिसका जमीनदारी स्वत्व स्वतः विवादमान है उसको रुपया देनेवालेका स्वत्व निर्विवाद नहीं माना जा सकता। फिर राजकी अनुमतिसे बिक्री होना भी न्याय्य माने जानेके लिए पर्य्याप्त नहीं है। कई देशोंमें गुलाम—जीते जागते स्त्री पुरुष—बिकते थे। केवल इतनेसे मनुष्यका क्रय-विक्रय न्याय्य नहीं हो सकता। माण्टेकार्लोमें सरकारी देख रेखमें जुआ होता है पर यह देख रेख जुएको उचित कर्म्मोंकी तालिकामें सम्मिलित नहीं करा

सकती। जहाँकी सरकार जिस समय जिस बातको होने देती है, वह बात वहाँ उस समय वैध हो जाती है पर वैध होनेसे वह बात उचित नहीं हो जाती। रुपया देकर सरकारके यहाँ रजिष्ट्री करा लेने मात्रसे जमीनदारीका स्वत्व न्याय्य नहीं हो सकता।

अतः हमारा प्रश्न ज्योंका त्यों रहा। इसपर लगानके सिद्धान्तसे भी प्रकाश पड़ सकता है। आखिर कृषक लगान क्यों देता है? जो उत्पादक है वह स्वामी कैसे नहीं है? किसी भूमिका लगान अधिक, किसीका बहुत कम क्यों होता है? इसके कई उत्तर हैं पर रिकार्डोका सिद्धान्त ही सबमें समीचीन जँचता है।

वह कहते हैं कि आजसे कई हजार वर्ष पीछेका जमाना ले लिया जाय। कोई भी देश हो, भूमि बहुत थी और आबादी कम। जिस व्यक्तिने जङ्गल साफ करके जितनी भूमिपर कब्जा कर लिया उतनी उसकी हो गयी। कोई टोकनेवाला न था क्योंकि सबके लिए पर्याप्त भूमि थी। इस प्रकार कुछ कालमें सभी भूमि घिर गयी होगी। भूमि घिरनेपर भी जो सबसे उपजाऊ भूमि होती होगी उसमें ही खेती होती होगी और उतनेसे काम चल जाता होगा। उसमें भी बहुतसी परती पड़ी रहती होगी। अभीतक यह लोग भूमिके स्वामी होते हुए भी जमीनदार नहीं थे। पर जब जन संख्यामें वृद्धि होगी तो कृषिजन्य पदार्थोंकी भी माँग बढ़ेगी और भूमिके खोजियोंमें भी वृद्धि होगी। पर भूमि मिले कहाँसे, वह तो पहिलेसे घिर चुकी है। अतः विवश होकर इन्हें उन भूस्वामियोंके पास जाना पड़ता है और अपने भरण-पोषणके लिए भूमि माँगनी पड़ती है। इनकी यही शर्त रहती होगी कि भरणपोषणसे ऊपर जो बचेगा वह आपको दे देंगे। उन दिनों भरणपोषणके अतिरिक्त और आवश्यकताएँ भी

थोड़ी ही होती थीं। भूस्वामी भी साचता होगा, मैं अकेला इस सारी भूमिका उपयोग तो कर नहीं सकता, जहाँ बेकार पड़ी थी वहाँ अब कुछ दे तो चली। बस वह भी राज़ी हो जायगा। यहींसे जमीनदारी और लगानका श्रीगणेश होता है।

पहिले पहिल सबसे बढ़िया भूमि इस प्रकार काममें लायी गयी होगी पर इसके बाद क्रमशः उनसे निकृष्ट और निकृष्टतर भूमिका उपयोग किया गया होगा और लगानमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी होगी। यह बात एक काल्पनिक उदाहरणसे समझमें आ सकती है। मान लीजिये प्रथम श्रेणीकी भूमिके ५ बीवेसे १०० मन अन्न उत्पन्न करनेमें १००) व्यय होता है। इसमें बीज, खुदाई, सिंचाई इत्यादि सब शामिल है। यह भी मान लीजिये कि कृषकके भरणपोपणमें १२०) लगता है, तो उसका व्यय २२०) पड़ा। वह अपने अन्नको इससे कममें बेच नहीं सकता। यदि उसने उसे २५०) में बेचा, तो ३०) जमीनदारको लगानमें मिले। अब यदि माँग दूनी हो गयी अर्थात् जन संख्या दूनी बढ़ गयी तो उससे घटिया प्रकारकी भूमि काममें लायी जायगी। मान लीजिये इस भूमिमें उतना ही अन्न पैदा करनेमें ड्योढ़ा खर्च पड़ता है तो उत्पादन व्यय १००) का १५०) हो गया। कृपकका भरणपोषण व्यय उतना ही रहा तो उसका कुल खर्च २७०) हो गया। वह अपने अन्नको २७०) से कममें नहीं बेच सकता। पर जो दाम उसको मिलेगा वही पहिली जमीनवाले कृषकको भी मिलेगा। यदि माल बहुत अधिक होता और ग्राहक कम, तब तो भाव गिरता, पर अभी तो आवश्यकता के अनुसार माल है अतः जब दूने अन्नकी माँग है तो सभी अन्न खप जायगा। अतः जो मूल्य एक कृषकको मिलेगा वही दूसरेको भी मिलेगा। यदि पहिला अर्थात् निकृष्ट भूमिवाला अपने अन्न-

को ३००) में बेचता है, तो वह अपने जमीनदारको ३०) लगान देता है। पर उसी अन्नका दूसरे कृषकको भी, जिसका कुल खर्च २२०) पड़ा है, ३००) मिलता है। अतः उसके पास ८०) बचता है जो जमीनदारके पास चला जायगा। पहली भूमिके लगानमें वृद्धि हो गयी। ज्यों ज्यों माँग बढ़ती जायगी और निकृष्ट कोटिकी भूमि काममें आती जायगी त्यों त्यों ऊपरकी कोटिकी भूमिका लगान बिना परिश्रम बढ़ता जायगा। जब कोई पूछनेवाला न था उस समय कुछ लोगोंके कब्जेमें कुछ भूखण्ड आ गये थे। अब उनके वंशजों या उनसे पैसा देकर मोल लेनेवालोंको बिना प्रयास ही वर्द्धमान रकमें मिलती जाती हैं। इसीलिए लगानको अनर्जित वृद्धि *—बिना कमायी हुई बढ़ती—कहते हैं।

यह उदाहरण सरल है, व्यवहारमें कुछ पेचीदगियाँ आयेंगी, पर इससे आदिमें जमीनदारी प्रथाकी उत्पत्ति और लगानकी उत्पत्ति तथा उसकी वृद्धि समझनेमें पूरी सहायता मिलती है। रिकार्डोका यह सिद्धान्त हमारे मूल प्रश्नपर प्रकाश डालता है। पर उसकी विवेचना करनेके पहिले जमीनदारी और लगानके दो एक अन्य पहलुओंपर भी गौर कर लेना आवश्यक है।

निकृष्ट भूमिके काममें आनेसे तो उत्तम भूमिका लगान बढ़ता है। उसके बढ़नेके और भी ऐसे ही निष्प्रयास तरीके हैं। भूमिमेंसे या उसके पाससे सड़क निकल जाने या उसके पास रेलवे स्टेशन खुल जानेसे लगान बढ़ जाता है। कोई लड़ाई छिड़ जाय और कृषिसे पैदा हुई वस्तुकी माँग बढ़ जाय, लगान बढ़ जायगा। भूमिके इच्छुक बहुत हों, लगान बढ़ेगा। इन

* Unearned increment.

सब दशाओंमें लगानमें जो वृद्धि होगी वह अनर्जित वृद्धि है; उसके लिए जमीनदारको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

इसी प्रकार वह लगान जो मकान बनानेवाली जमीनका लिया जाता है बढ़ता जाता है। शहरोंमें मकान बनाने लायक जमीनका लगान, जिसको प्रायः परजौट कहते हैं, यों ही बे प्रयास बढ़ता है। यदि उसपर मकान बना दिया गया तो लगानका नाम किराया हो जाता है और किराया बड़ी तेजीसे बढ़ने लगता है।

यदि किसी जमीनदारने किसीको बीघे दो बीघे जमीन २), ४) पर उठा रखी है और उसके नीचे कोयला या तेल या सोना या अन्य खनिज निकल आया तो यद्यपि उस जमीनदारको भूमि देते समय उसका पता भी नहीं था पर वह उसके लिए विशेष लगान या 'रायल्टी' का अधिकारी हो जायगा।

इन सब उदाहरणोंमें हम यह देख रहे हैं कि जो व्यक्ति भूमिका स्वामी माना जाता है उसके बिना परिश्रम किये लगानमें वृद्धि होती जाती है। सरकार तो ऐसा कर भी देती है कि इतनेसे कम आयपर टैक्स न लिया जाय पर जमीनदार एक बित्ता भूमिपर भी लगान नहीं छोड़ता।

अब यह विचार करना है कि क्या सचमुच जमीनदार लगान लेनेका अधिकारी है। यह स्पष्ट है कि आरम्भमें भूमिपर इसी प्रकार अधिकार हुआ होगा। कोई टोकनेवाला था नहीं, जो जितनी भूमि दबा सका वह उतनीका स्वामी बन बैठा। आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारमें यही हो रहा है। जो राष्ट्र अफ्रीका या अमेरिका या आस्ट्रेलियाकी जितनी भूमि दबा सका दबा बैठा, शर्त यही थी कि वहाँ कोई दूसरा राष्ट्र हकदार न बन बैठा हो। यों ही बड़े बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य बन गये पर

आज वह उपनिवेश झगड़ेके घर हो रहे हैं। दूसरे राष्ट्र भी उपनिवेश चाहने लगे इसका जो परिणाम हुआ वह हमारे सामने है।

यह सिद्धान्त ही गलत है। जिसने जंगल काटकर साफ किया उसका हक तो हो सकता है पर उसके वंशजोंका हक कैसा? उन्होंने कौनसा परिश्रम किया जिसका पुरस्कार उनको मिले? जो लोग उनको रुपया देते हैं उन्हें भूमिपर अधिकार कैसा? फिर जितनी दूरतक कोई व्यक्ति भूमि घेर ले उतनी उसकी क्यों हो? केवल आजसे हज़ार दो हजार वर्ष पहिले पैदा होनेसे अधिकार क्यों मिल जाता है? पहिले जन्म लेनेसे ही अधिकार मिले तो बापकी सम्पत्ति केवल बड़े लड़केको मिलनी चाहिये। वस्तुतः तो भूमि किसी व्यक्ति-विशेषकी न होकर व्यक्ति-समुदायकी होनी चाहिये। एक व्यक्ति नहीं सारा समुदाय जमीनदार होना चाहिये।

फिर यदि जमीनदारका जमीनपर स्वाम्य मान भी लिया जाय तो यह तो समझमें आता है कि भूमिसे काम लेनेके लिए वह कुछ रुपया अर्थात् लगान ले पर बिना परिश्रम किये निकृष्ट भूमिके काममें आ जानेसे लगान क्यों बढ़े? सड़क तो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या सरकार निकलवाती है, उसका लाभ जमीनदारको क्यों हो? लड़ाई जमीनदार तो छिड़वाता नहीं, फिर युद्धकालमें वह लगान क्यों बढ़ाये? सारांश यह कि अनर्जित वृद्धिके लिए कोई कारण नहीं देख पड़ता। जिस जमीनदारको इस बातका पता तक नहीं था कि उसकी भूमिके नीचे कोई खान है, वह उससे वर्द्धमान लगान, रायल्टी, क्यों पाये?

इन सब तर्कोंसे वर्तमान जमीनदारी प्रथाकी उत्पत्ति तथा लगानका स्वरूप और रहस्य समझमें आ जाता है और यह इस

प्रथाकी बुराई समझानेके लिए पर्य्याप्त है। परन्तु इस प्रश्नपर दो दृष्टियोंसे और विचार कर लेना चाहिये।

पहिला दृक्कोण यह है कि क्या जमीनदारी प्रथासे कोई विशेष लाभ होता है? यदि सब जमीनदार यकायक हटा दिये जायँ तो क्या हानि हो? इन दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर है—कुछ भी नहीं। आजसे पहिले कभी जमीनदारोंसे थोड़ा बहुत लाभ भी होता रहा होगा। आज वह बिलकुल बेकार है। सरकार अपने मजिस्ट्रेटों और पुलिससे काम लेती है,रक्षा अपनी सेनासे कराती है यह भी नहीं है कि कृषकोंसे मालगुजारी उतारनेमें कोई सुविधा होती है। परन्तु आजकल युक्तप्रान्तमें सरकारी कागजोंके अनुसार कृषकोंसे लगानमें लगभग, साढ़े सोलह करोड़ रुपया वसूल किया जाता है। जिसमेंसे लगभग सात करोड़ सरकारी कोषमें मालगुजारीके रूपमें जाता है। शेष साढ़े नौ करोड़ जमीनदारोंके पास रह जाता था। १) वसूल करनेके लिए १।) वसूल करनेवालोंको देना तो बुद्धिमानी नहीं है। यदि जमीनदार न हो तो सरकार अपने तहसीलदार इत्यादिसे सस्तेमें वसूली करा सकती है। यह रुपया जो बीचवालोंकी जेबोंमें जाता है सरकार या कृषकोंके पास रह जाता, उभयतः जनताको लाभ ही पहुँचाता।

दूसरा दृक्कोण यह है कि इस प्रथासे हानियाँ क्या क्या हैं? हानियाँ प्रत्यक्ष हैं। कुछ तो हम भारतमें नित्य देखते हैं। इस साढ़े नौ करोड़को ही लीजिये। यदि जमीनदार न होते तो या तो यह समूची रकम कृषककी जेबमें रहती अर्थात् उसके लगानमें ५८% की कमी हो जाती या सरकारके पास रहती जिससे स्वास्थ्य और शिक्षा आदिका काम चलता या दोनोंमें बँट जाती। हर हालतमें प्रजाको लाभ होता है। भारतमें विदेशी सरकार

होनेसे चाहे पूरा लाभ न पहुँचता तब भी अवस्था आजसे अच्छी ही होती ।

इसके सिवाय प्रायः सभी जगह जमीनदारोंने अपने लिए लगानके अतिरिक्त आयके दूसरे साधन निकाल लिये हैं। कृषकोंको किसी न किसी रूपमें लगानके ऊपर रुपया देना पड़ता है या बेगार करनी पड़ती है या जमीनदारके हाथों घी या अन्न सस्ते दामों बेचना पड़ता है। आजकल इन बातोंके रोकनेका प्रयत्न हो रहा है। इनमेंसे कई बन्द हो गयी हैं, अन्य बन्द हो जायँगी पर इनके स्थानमें दूसरी बातें उत्पन्न हो जायँगी। यह असंभव है कि किसी स्थानमें पुश्तैनी अधिकारी रहें और वह अपने लिए आय और प्रभावके मार्ग न ढूँढ़ निकालें। सरकार भी एक कर्म्मचारीको बहुत दिनोंतक एक स्थानमें नहीं रखती। बंगाल, बिहार और युक्तप्रान्तमें ऐसे ऐसे जमीनदार हैं जिनकी वार्षिक आय कई देशी राजोंसे अधिक है पर उनपर न पुलिस, न सेना, न शिक्षाका दायित्व है। उनको कानून चाहे कितना भी पंगु क्यों न कर दे, पर यह केवल मालगुजारी उतारनेवाले कर्म्मचारी बनकर नहीं रह सकते।

आजकल अनेक संस्थाओंके चुनाव होते हैं पर कृषकके लिए जो अपनेको जमीनदारके चंगुलमें फँसा पाता है, अपनी स्वतन्त्र सम्मति प्रकट करना प्रायः असम्भव हो जाता है।

सरकारके लिए भी जमीनदारोंका अस्तित्व अहितकर है। यदि वह किसानोंके लगानका बोझ कम करना चाहे या किसी अन्य प्रकारके कृषकोंको लाभ पहुँचाना चाहे तो उसे यह देखना पड़ता है कि जमीनदार रुष्ट न हो जायँ। जिस कामके लिए जमीनदार स्थापित किये गये थे अब वह उनसे नहीं निकलता, पर

सरकार अपनी ही बनायी मूर्तिको तोड़नेमें हिचकती है यद्यपि यह मूर्ति अब उसके लिए हानिकर हो रही है।

जो लोग मकानोंके जमीनदार हैं अर्थात् मकान किरायेपर चलाते हैं वह सम्भवतः इतने अधिक व्यक्तियोंको हानि न पहुँचा सकते हों पर नगरोंमें रहनेवाले गरीबोंको इनके हाथों बहुत दुःख उठाना पड़ता है। गन्दे मकान बनाये जाते हैं, उनकी मरम्मत नहीं की जाती पर मनमाना किराया वसूल किया जाता है। किरायेदार बेबस होता है। यदि वह इन मकानोंमें नहीं रहता तो सिवाय पटरियोंपर लेट रहनेके उसके लिए कोई और उपाय नहीं है।

प्रत्येक जमीनदार और मकान मालिक अपने असामियों और किरायेदारोंको तङ्ग कर सकता है पर जब यह लोग संघटित हो जाते हैं तब तो इनकी शक्ति बहुत ही बढ़ जाती है। आजकल यही हो रहा है। इनके पास रुपया है, व्यवस्थापक सभाओंपर भी इनका प्रभाव पड़ता है, इसलिए इनका सामना करना बड़ा कठिन हो जाता है।

मैंने ऊपर उन भूमिका उल्लेख किया था जिनमें खनिज पदार्थ निकलते हैं। उनके लिए भी यही तर्क लागू है। जमीनदार इन भूमियोंके लिए जो बढ़ती लगान लेता है उसका बोझ उस खनिजके मोल लेनेवालोंको उठाना पड़ता है।

जमीनदारी प्रथाके सम्बन्धमें और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है पर मैं समझता हूँ इतने दिग्दर्शनसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकारका अर्थात् भूमिपर निजी स्वत्वका अस्तित्व उन्नतिके लिए बाधक है और सर्वथा अनुचित है। इससे ग्रामों, नगरों और व्यापारकी प्रगतिका अवरोध होता है अतः इसका अन्त होना चाहिये। भारतवर्षमें तो कृषिको इस प्रथासे भयावह

क्षति पहुँच रही है। देशमें कोई व्यवसाय नहीं है, लोगोंको विवश होकर खेतीकी ओर दौड़ना ही पड़ता है। इसलिए जमीनदार लगान बढ़ाते चले जाते हैं। किसान आपसमें होड़ करके ऊँची बोली बोलकर और लम्बे नजराने देकर जमीन लेते हैं। वह जानते हैं कि यह लगान देना आगे चलकर उनके लिए असम्भव होगा पर करें क्या जुआ खेल जाते हैं। जो जमीन उनके हाथसे निकलनेवाली है उसकी उन्नतिमें बहुत परिश्रम करना भी व्यर्थ प्रतीत होता है। फलतः कृषि अच्छी नहीं होती और देशकी अन्नकी उपज गिरनेसे देश दरिद्र होता है। उधर कृषक भी वर्ष दो वर्षके बाद हार जाता है। लगान न दे सकनेसे बेदखल हो जाता है और जमीनदारके सामने फिर नये उम्मीदवार खड़े होते हैं। इसमें जमीनदारके सिवाय और किसीको भी लाभ नहीं होता।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि आजकल सरकारने ऐसे कानून बना दिये हैं जिन्होंने जमीनदारों और कृषकोंके पारस्परिक भाव बिगाड़ दिये हैं। पहिले जमीनदार और कृषकका पिता-पुत्रवत् भाव था। अंशतः यह सत्य है कि कानूनोंने मनोमालिन्य बढ़ा दिया है पर यह कानून आवश्यक थे। यदि जमीनदारोंका बल न टूटता और पुराना ग्रामसंघटन न बिगड़ता तो व्यवसायोंकी वृद्धि भी न होती। पिता-पुत्र भावका अर्थ यही है कि जमीनदार जो कुछ कहता था कृषक उसे मान लेता था। यह भाव कृषकके बौद्धिक विकासके लिए घातक था। किसीसे सदैव डरते रहना, उसे माँ-बाप मानते रहना मनुष्यको शोभा नहीं देता। मैंने इस भावके प्रदर्शन देखे हैं। मैं जानता हूँ कि जमीनदारका पितृत्व और कृषकका पुत्रत्व दोनों घृणास्पद हैं।

अब इतना प्रश्न और रह जाता है कि यदि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोंके हाथमें न रहे तो किसके हाथमें रहे। इसका एक ही उत्तर हो सकता है—यह स्वत्व समाजके हाथमें होना चाहिये। भूमिका स्वामी सारा समुदाय है। यदि सड़क निकालता है तो समुदाय, रेल निकालता है या निकालने देता है तो समुदाय, युद्ध करता है तो समुदाय, रक्षादिका प्रबन्ध करता है तो समुदाय। इसलिए समुदायको, समाजको, ही लगान लेनेका अधिकार है। उसके लिए न तो अनर्जन, न कमानेका प्रश्न उठ सकता है न इस बातकी आशङ्का हो सकती है कि वह अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करके असामियोंको क्षति पहुँचायेगा। मैं इस जगह विदेशियोंके शासनमें पड़े देशोंकी बात नहीं कर रहा हूँ वरन स्वतन्त्र देशोंकी, जिनमें सरकारपर समाजका नियन्त्रण रहता है और वह लोकमतके अनुसार चलनेके लिए बाध्य की जा सकती है।

कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि प्रत्येक कृषक अपनी भूमिका स्वामी मान लिया जाय और सरकारको सीधे मालगुजारी दिया करे। इसमें दो तीन आपत्तियाँ हैं। एक आपत्ति तो यह है कि इससे जमीनदारी* प्रथाके पुनः स्थापित हो जानेका द्वार खुल

---

*जमीनदार शब्द बहुत ही भ्रामक है क्योंकि इसके कई अर्थ हैं। युक्तप्रान्तमें ही ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत बड़ी है जो सीधे सरकारको मालगुजारी देते हैं परन्तु दस पाँच बीघेके ही स्वामी हैं परन्तु ऐसे ऐसे काश्तकार हैं जिनके पास सैकड़ों बीघा भूमि है पर वह उसके लिए किसी दूसरेको लगान देते हैं। यह लोग स्वयं अपनी भूमिके टुकड़े दूसरोंको

जायगा। किसी न किसी बहानेसे कृषक दूसरोंसे लगान लेकर भूमि देने लगेगा। फिर प्रश्न यह होगा कि रेहन रखने और बेचनेका अधिकार हो या न हो। जब कृषक भूमि बेच सकेगा तो धीरे धीरे रुपयेवालोंके हाथमें बड़ी टुकड़ियाँ आ जायँगी। इसमें भी जमीनदारीके पुनः स्थापित होनेका डर है। आर्थिक विषमता और बेकारी भी बढ़ेगी। यदि अधिकार न दिया जाय तो ऐसे कृषकोंकी भूमि जो किसी कारणसे ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकते नष्ट होगी। वह स्वतः स्वामी है अतः सरकारको लौटा नहीं सकते। अतः सब बातोंको देखते हुए यही ठीक जँचता है कि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोंको न देकर समाजको दिया जाय।

देकर उनसे पैसे लेते हैं। ऐसी दशामें सरकारी कागजों में चाहे कुछ भी लिखा हो, जो व्यक्ति दस पाँच बीघेकी आप खेती करता है वह कृषक है और जो भूमि दूसरेको देकर पैसा लेता है वह जमीनदार है। जमीनदारी प्रथाके अभावका अर्थ यह है कि कृषक अर्थात् स्वयं खेती करनेवाले और सरकारके बीचमें कोई बिचवैया न हो और भूमिका स्वत्व समाजके हाथमें हो।

पञ्जाब तथा स्यात् कहीं कहीं अन्यत्र भी प्रत्येक कृषक जमीनदार कहलाता है। यह लोग सरकारको सीधे पैसा देते हैं। जमीनदारी प्रथाके जो दोष हमने ऊपर बतलाये हैं वह इनके लिए प्रायः नहीं लागू होते परन्तु यह तो इनके यहाँ भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह भूमिपर कृषि करते हुए भी उसके स्वामी नहीं हैं।

आठवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व

(२)—पूँजी और श्रम

भूमि सभी प्रकारके उत्पादनका एक प्रधान साधन है, क्योंकि अन्न तो उससे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता ही है दूसरी वस्तुएँ जो व्यवहारमें आती हैं वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतया किसी न किसी रूपमें भूमिसे ही निकलती हैं।

भूमिके अतिरिक्त दो मुख्य साधन और माने जाते हैं, पूँजी और श्रम। समाजवादियोंकी दृष्टिमें आजकल इन दोनों साधनोंका भी भूमिकी भाँति ही दुष्प्रयोग हो रहा है और यह दुष्प्रयोग कई कारणोंसे भूमिके दुष्प्रयोगसे भी अधिक भीषण परिणाम उत्पन्न कर रहा है।

पूँजीपर किस प्रकार निजी स्वत्व है और इस स्वत्वके क्या परिणाम हैं इसपर विचार करनेके पहले पूँजीके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना लाभदायक होगा। किसी व्यक्तिके पास जितनी सम्पत्ति होती है वह सब पूँजी नहीं है। अन्नसे कोठार भरे पड़े हों; वस्त्र, आभूषण, चित्र, कुर्सी, मेज, कालीन आदिसे महल सुसज्जित हो, तिजोरी में सोना चाँदी या सिक्कोंका ढेर हो, पर जब तक यह सामग्री केवल जमा है या उपभुक्त हो रही है तबतक इसको पूँजी नहीं कहते। धन स्वतः पूँजी नहीं है। पर यदि इस राशिका कोई अंश अपनेको बढ़ानेमें लगाया जाय तो वह पूँजी हो जायगा। जो धन धनको उत्पन्न करनेके काममें लगता है उसे पूँजी कहते हैं। ऐसा धन साधारण उपभोग्य धन

नहीं वरन् प्रजनक धन*—धनको जन्म देनेवाला धन—होता है। धनसे धन कैसे उत्पन्न होता है, इसका सबसे सरल उदाहरण महाजनी है। किसीको एक सौ रुपये दिये गये और छः रुपये ब्याजके जोड़कर एक सौ छः रुपये उससे लिये गये। यहाँ यह सौ रुपया छः रुपयेको उत्पन्न करनेमें लगाया गया। यह पड़ा रहनेके स्थानमें धनका प्रजनक हुआ। अतः यह पूँजी है। इसलिए यह सम्भव है कि किसी मनुष्यके पास धन बहुत हो पर यदि वह उसे प्रजनक नहीं बनाता तो पूँजी कुछ भी न हो। दूसरे व्यक्तिके पास धन कम रहते हुए भी पूँजी अधिक हो सकती है। साधारणतः लोगोंको पूँजी शब्दसे रुपये पैसेका ही बोध होता है पर पूँजीका अर्थ इससे व्यापक है। किसी कारखानेको ले लिया जाय; उसकी इमारत, रुपया, मशीनें सभी पूँजी हैं।

पूँजी किसी न किसी प्रकार व्यापारसे उत्पन्न होती है, इतना तो सभी समझते हैं पर इसको किञ्चित् विस्तारसे समझ लेना अच्छा है। इसलिए व्यापारका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है।

एक समय था जब प्रायः सभी लोग अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने और अपने घरवालोंके श्रमसे कर लेते थे। यह सभ्यताका आदिम काल था। पुरुष शिकार कर लाये या खेती करके अन्न लाये, स्त्रियोंने भोजन वस्त्र तय्यार कर लिया। उस समय आवश्यकताएँ थोड़ी और सीधी थीं। जनसंख्या कम होनेसे आज जैसी घनी बस्तियाँ भी न थीं। परन्तु क्रमशः जनसंख्या, बस्तियोंकी सघनता, आवश्यकताओंकी संख्या और उनके प्रकार, थोड़े शब्दोंमें सभ्यतामें, वृद्धि हो चली और एक

* Functional wealth.

एक कुटुम्बके लिए स्वतःपर्य्याप्त होना असम्भव हो गया। कोई अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने यहाँ नहीं कर सकता था। इसलिए एक प्रकारका बँटवारासा हो गया। कोई अन्न पैदा करे, कोई वस्त्र बनाये, कोई जूता, कोई शस्त्रास्त्र।

यहींसे व्यापारका सूत्रपात हुआ। अन्नवालेको यदि जूतोंकी आवश्यकता पड़े तो वह जूता बनानेवालेके पास जाय और उसको अन्न देकर उससे जूता ले। यही बात सभी वस्तुओंके लिए थी। व्यापारका यह ढङ्ग अब प्रायः उठ गया है पर आज कल कहीं कहीं फिर चल पड़ा है। युद्धकालमें इस प्रथासे अन्तर्देशीय व्यापारमें बहुत काम लिया गया।

जो वस्तुएँ इस प्रकार व्यापारक्षेत्रमें आती हैं उनको पण्य* कहते हैं। पण्यमें तीन लक्षणोंका होना आवश्यक है—(१) वह मनुष्यकी किसी आवश्यकताको पूरा करता हो। आवश्यकता प्राकृतिक हो या कृत्रिम, परन्तु जो मनुष्य किसी समय उसका अनुभव कर रहा हो उसके लिए वह आवश्यकता ही है। इस दृष्टिसे हवा, पानी, अन्न, वस्त्र, इत्र, मोटर, शराब इत्यादि सभी मनुष्यकी किसी न किसी आवश्यकताको पूरा करती हैं। (२) वह मनुष्यके श्रमसे पूर्णतः या अंशतः तय्यार हुआ हो। उसको व्यवहारयोग्य बनानेके लिए उसपर श्रमका व्यय होना आवश्यक है। वस्त्रादि सभी श्रमसे तय्यार होते हैं। सामान्यतः पानी बिना परिश्रमके मिल जाता है पर बहुत स्थलोंमें उसको निकालने, साफ करने और किसी प्रकारकी सवारीपर लादकर व्यवहार करनेवालेके पासतक ले जानेमें श्रमका व्यय होता है। हवा प्रायः सर्वत्र ही बिना श्रमके पहुँच जाती है परन्तु विशेष अवस्थाओंमें

---

* Commodity.

उसकी भी पानी जैसी सूरत हो सकती है। (३) वह अपने व्यवहारमें न लाया जा रहा हो वरन् आवश्यकता पूर्त्तिके लिए दूसरी वस्तुओंके परिवर्तनमें दिया जा रहा हो। किसी जुलाहेने दस गज वस्त्र तय्यार किया हो पर यदि वह उसको अपने काममें लाता है तो वह पण्य नहीं है पर यदि वह इसमेंसे चार गज देकर गेहूँ लेता है तो यह चार गज व्यापारक्षेत्रमें आ गया और पण्य हो गया।

प्रत्येक पण्यकी एक विशेषता, एक अपनी विशेष महत्ता, होती है। इसको अर्घ * कहते हैं। कोई पण्य महार्घ † होता है, लोगोंकी दृष्टिमें ऊँचा स्थान रखता है, कोई अल्पार्घ † होता है, उसका स्थान नीचा होता है। यह अर्घ दो प्रकारका होता है। एक तो आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेकी योग्यतापर निर्भर है। यदि गायका दूध बकरीके दूधकी अपेक्षा हमारी किसी आवश्यकताको अधिक पूरा करता है तो इस दृष्टिसे वह अधिक अर्घवाला है। इस प्रकारके अर्घको भोग्यार्घ § कहते हैं। यह वस्तुका सहज, स्वाभाविक और स्थिर गुण है। दूसरे प्रकारका अर्घ इस बात पर निर्भर है कि इस पण्यका कितना परिमाण दूसरे पण्योंके कितने परिमाणोंके बदलेमें दिया जाता है। जैसे, उदाहरणके लिए किसी समय-विशेषमें ऐसा हो सकता है कि १० सेर गेहूँ=६ सेर चावल=१० छटाँक घी=२० आम=१ तोला चाँदी। इन सब पण्योंका यह अर्घ स्थिर नहीं है। यह कई कारणोंसे बदलता रहता है। इसको विनिमयार्घ ‡ कहते हैं। साधारणतः लोग इसीको अर्घ कहते हैं।

---

* Value. † महँगा, सस्ता।

§ Utility value ‡ Exchange value.

जिस समय व्यापारका रूप इतना ही रहता है कि एक पण्यके स्थानमें दूसरा पण्य लिया जाय, उस समयकी अवस्था इस प्रकारकी होती है—
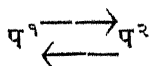
[प१ और प२ दोनों ओरके पण्य हैं।]

परन्तु कुछ कालमें इससे काम नहीं चलता, अड़चनें पड़ने लगती हैं। अन्नवालेको यदि कपड़ेकी आवश्यकता है पर जुलाहेको उस समय अन्नकी आवश्यकता नहीं है तो परिवर्तन न हो सकेगा और कृषकको कपड़ा न मिल सकेगा। इसीलिए धीरे धीरे सभी सभ्य देशोंमें विनिमयके साधनस्वरूप किसी न किसी प्रकारकी मुद्राके प्रयोगकी प्रथा चल पड़ी। मुद्रा किसी भी द्रव्यकी हो सकती थी पर अनेक प्रकारकी सुविधाओंके कारण सभी जगह प्रधान मुद्रा धातुओंकी ही हुई, यों छोटे छोटे कामोंके लिए कौड़ी आदिसे भी काम लिया जाता रहा है। मुद्रासे यह सुविधा हुई कि एक पण्यका स्वामी उसको देकर किसीसे मुद्रा पा जाता है और फिर उस मुद्राको देकर दूसरा पण्य ले सकता है। ऐसे लोग बीचमें आ जाते हैं जो रुपया देकर पण्य मोल ले लेते हैं इसलिए नहीं कि उन्हें स्वयं उस समय उसकी आवश्यकता है वरन् इसलिए कि वह जानते हैं कि एक न एक दिन कोई न कोई आकर रुपया देकर उसे मोल ले जायगा। हमारे पहिले उदाहरणवाले कृषक और जुलाहेका काम तो सरल हो गया। कृषकको अन्नका रुपया मिला, उस रुपयेको उसने जुलाहेको देकर वस्त्र पाया, जुलाहेको जब आवश्यकता होगी तब वह उस रुपयेसे अन्न

मोल ले लेगा। इस दृष्टिसे तो अब व्यापारका स्वरूप इस प्रकार-का हो गया—

$$प^1 \longrightarrow मु \longrightarrow प^2$$

[यहाँ बीचमें मु मुद्राके लिए आया है]

देखनेमें आजतक व्यापारका यही स्वरूप है। साधारण माल बनाने और बेचनेवाली साधारण जनताकी दृष्टिमें व्यापार यों ही हो रहा है। पर लोग उस बीचवाले व्यक्तिको भूल जाते हैं जो $प^1$ और $प^2$ के स्वामियोंके बीचमें मु-के स्वामीके रूपमें बैठा हुआ है। वह निःस्वार्थ लोकसेवाके भावसे न तो मुद्रा देकर $प^1$ मोल लेता है, न इस उदार भावसे प्रेरित होकर मुद्रा लेकर उस मालको फिरसे बेचता है। उसका उद्देश्य न तो कृषककी आवश्यकताकी पूर्त्ति करना है न जुलाहेकी, वरन् स्वयं लाभ उठाना है। उसकी दृष्टिसे व्यापारका स्वरूप यह है:—

$$मु^1 \longrightarrow प \longrightarrow मु^2$$

[$मु^1$ वह रुपया है जो उसने पण्य मोल लेनेमें लगाया था और $मु^2$ वह रुपया है जो उसे पण्य बेचने पर मिला]

$मु^1$ पूँजी है। यदि अन्त में पण्य बेचने पर उतना ही मिले जितना उसको मोल लेनेमें लगा था अर्थात् यदि $मु^2$ और $मु^1$ बराबर हों तो इस व्यक्तिका बीचमें पड़ना व्यर्थ हुआ। उसका एकमात्र लक्ष्य यह है कि $मु^1$ से $मु^2$ अधिक हो क्योंकि

$मु^2 — मु^1 = ला$ (लाभ)

अब वह चाहे तो इस लाभकी रकमको फिर उसी प्रकार व्यापारमें लगाये। चूँकि उसकी पूँजी अब बढ़कर $मु^1 + ला$ हो गयी है, इसलिए उसका लाभ भी पहलेसे अधिक होना चाहिये। इस प्रकार उसकी पूँजी बढ़ती चली जायगी।

प्रश्न यह है कि मु^{1} किस प्रकार मु^{2} में बदल गया ? पण्यका परिमाण तो बढ़ा नहीं फिर उसके लिए अधिक रुपया कहाँ से मिल गया ? इसके भी पहले यह सवाल उठता है कि मु^{1} यानी पहली पूँजी कहाँ से आयी ? यह प्रश्न यों उठता है कि मु^{1} और मु^{2} में भेद हो सकता है। यह सम्भव है कि कोई मितव्ययी व्यक्ति अपना पेट काट काटकर थोड़ा थोड़ा बचावे और उसे पूँजीके रूपमें लगावे। यह पूँजी बहुत अंशोंमें उसके निजी परिश्रमका परिणाम मानी जा सकती है पर यह बात आगे चलकर जो और बढ़ते हुए लाभ होते जायँगे उनके लिए नहीं कही जा सकती। इन रकमोंको तो उसने बिना परिश्रम किये, बिना अपना पेट काटे, बिना मितव्ययिता किये, प्राप्त किया है। लाखों करोड़ोंकी बात छोड़कर एक साधारण उदाहरण लिया जाय। कोई मितव्ययी व्यक्ति एक एक दो दो रुपया करके कुछ रुपया, मान लीजिये ५०) जमा करता है। यहाँतक तो उसका परिश्रम था। वह इस रुपयेसे किसी अच्छी कम्पनीका एक शेयर मोल ले लेता है। अब हर साल घर बैठे उसको कुछ मिलता रहता है यहाँतक कि कुछ वर्षों में उसका लगाया हुआ सारा रुपया भी वसूल हो जाता है और मुनाफा बराबर आता रहता है। उधर कम्पनीका व्यवसाय बढ़ता जाता है अर्थात् उसकी पूँजी भी जो अंशतः इस व्यक्तिकी पूँजी है, बढ़ती जाती है। इसका रहस्य क्या है ? रुपया रुपयेको कैसे जन्म दे सकता है ?

ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनको इस प्रश्नपर स्यात् आश्चर्य होगा। वह कह बैठेंगे कि इसमें कौनसी विचित्र बात है; माल जितनी लागतमें बना उससे अधिक मूल्य * मिला, बस यही जो अधिक

* Price.

मिला वह मुनाफा है। इसपर भी हमारा वही प्रश्न रह जाता है, अधिक क्यों मिला ? जब पण्य उतनेका उतना ही रहा, कमसे कम बढ़ा नहीं, तो उसका मूल्य अधिक क्यों मिला ? यह प्रश्न और उत्तर हमको इस बातपर विवश करते हैं कि संक्षेपमें हम मूल्यकी बात समझ लें ।

हम जब कहते हैं कि बीस सेर गेहूँका मूल्य २) है तो हमारा यह अर्थ तो है ही कि बीस सेर गेहूँ देकर २) मिल सकते हैं और २) देकर बीस सेर गेहूँ मिल सकता है पर इस अर्थके नीचे भी यह भाव दबा है कि बीस सेर गेहूँ उतनी चाँदीके बराबर है जितनी कि २) में है। यदि एक रुपया नामवाले सिक्केमें एक तोला चाँदी मान ली जाय तो हमारा तात्पर्य्य यह है कि बीस सेर गेहूँ = दो तोला चाँदी, अर्थात् इन दोनोंका विनिमयार्घ बराबर है। इसी प्रकार दो तोला चाँदीका विनिमयार्घ यदि अठारह छटाँक घीके बराबर हो तो फिर

बीस सेर गेहूँ = दो तोला चाँदी = अठारह छटाँक घी = ...

ऐसी लड़ी बन जायगी। मूल्य कई कारणोंसे घटता बढ़ता रहता है। कभी किसी रोगके प्रकोप या युद्धके छिड़ जाने या ऐसे ही किसी कारणसे माँग यकायक बढ़ जाय तो मूल्य बढ़ जायगा, यदि माँग घट जाय तो मूल्य गिर जायगा। इसी प्रकार यकायक कमल मारी जाय, माल ढोनेवाला जहाज डूब जाय या कोई ऐसा आकस्मिक कारण आ पड़े और मालकी कमी पड़ जाय तो मूल्य बढ़ जायगा माल अधिक हो जानेसे मूल्य घट सकता है। यह भी हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोंके हाथमें एक प्रकारसे एकाधिकार आ जाय। वह माल जमा कर लें और मूल्य बहुत बढ़ाकर बेचें। ऐसी बातें हो सकती हैं और होती रहती हैं पर विशेष अवस्थाओंको छोड़कर मूल्य पण्यके विनि-

मयार्घसे बहुत दूर नहीं जा सकता। साधारण मनुष्यको अपनी आवश्यकताको पूरा करनेवाले पण्योंमें दिलचस्पी है। वह जब बीस सेर गेहूँ देकर २) अर्थात् दो तोला चाँदी लेता है तो यह समझकर कि कल जब मुझे घीका काम पड़ेगा तो इस दो तोले चाँदीको देकर मैं अठारह छटाँक घी ले सकूँगा। यदि यह विश्वास न हो तो मुद्राका चलन उठ जाय और सीधे पण्योंका परिवर्त्तन फिरसे होने लग जाय। अतः मूल्यकी तहमें पण्योंका परिवर्त्तन है और मूल्य पण्योंके विनिमयार्घके आसपास ही टिक सकता है।

अब हमको देखना यह है कि पण्योंका विनिमयार्घ किसपर निर्भर है। हम जब दो वस्तुओंको बराबर कहते हैं तो उनमें कोई न कोई समान गुण देखकर ही ऐसा कहते हैं। यह दो लकड़ियाँ बराबर हैं; क्यों ? इसलिए कि इनकी लम्बाई बराबर है। रुईका यह ढेर लोहेके इस टुकड़ेके बराबर है, क्यों ? इस-लिए कि दोनोंका गुरुत्व अर्थात् पृथ्वीके साथ आकर्षण बराबर है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि—

बीस सेर गेहूँ = आठ गज कपड़ा = दो तोला चाँदी।

तो इन तीनों मदोंमें बराबरीवाला कौनसा अंश है ? ऐसा व्यवहार तो सहस्रों वर्षोंसे होता आ रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि लोगोंकी सहज बुद्धिने इस तत्वको समझ लिया है पर अब उसी तत्वको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करना है।

इन सबमें ही भोग्यार्घ है पर वह तो बराबर हो नहीं सकता। जिस आवश्यकताकी पूर्ति गेहूँ करता है वह उस आवश्यकतासे भिन्न है जिसकी पूर्ति कपड़ा करता है और जिसकी पूर्ति चाँदीसे होती है वह इन दोनोंसे नितान्त भिन्न है। मात्रा चाहे जितनी

बढ़ाया जाय, एकका स्थान दूसरा नहीं ले सकता। अतः बराबरीका आधार भोग्यार्घमें नहीं है।

विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह आधार श्रम है। जिस वस्तुको तय्यार करनेमें जितना ही अधिक श्रम लगता है, वह उतना ही महार्घ होती है, उसका विनिमयार्घ उतना ही अधिक होता है। यदि दो पण्यों को तय्यार करनेमें बराबर बराबर श्रम लगता है तो उनके विनिमयार्घ बराबर होंगे अतः जब हम यह कहते हैं कि इतना गेहूँ इतने कपड़ेके बराबर है तो हमारा भाव और विश्वास यही है कि इतने गज़ कपड़ेको तय्यार करनेमें जितना श्रम लगा है उतने ही श्रममें इतना सेर गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि श्रमकी नाप तौल कैसे हो? इसका कोई साधारण और सरल वैज्ञानिक उपाय नहीं है। यदि हो भी तो सबके व्यवहारमें लाने योग्य नहीं है। अतः श्रमकी नाप घण्टोंसे होती है। किसी वस्तुको तय्यार करनेमें जितना समय लगता है उससे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि उसपर कितना श्रम खर्च हुआ है। यह आक्षेप किया जा सकता है और ठीक भी है कि किसी नियत कालमें सब लोग बराबर बराबर श्रम नहीं करते पर एक औसत या सर्दल अवश्य होता है; कोई कुछ अधिक कर ले जायगा कोई कुछ पीछे रह जायगा, परन्तु प्रायः सबका ही श्रम उस औसतके आसपास होगा। वस्तुके इस निर्माणकालको अर्थात् उस कालको जितनेमें एक औसत श्रमिक उस वस्तुको तय्यार कर सकता है, श्रमकाल* कहते हैं। केवल श्रमकाल शब्दसे व्यक्ति व्यक्तिके पृथक् पृथक् श्रमकालकी भ्रान्ति न हो इसलिए यह स्पष्ट कर दिया जाता है

* Labourtime.

कि उस समयमें जैसे औजार प्रायशः व्यवहारमें आते हैं उनसे ही काम लेकर एक औसत श्रमिक जितने कालमें उस वस्तुको तय्यार कर सकता है उसी कालसे श्रम और श्रमके द्वारा विनिमयार्घका अनुमान होता है। इस कालको समाज द्वारा आवश्यक श्रमकाल† कहते हैं।

किसीको यह भ्रम न हो कि हमने कच्चे मालका लिहाज नहीं किया है। जब हम बाइसकिलके विनिमयार्घको निकालने बैठते हैं तो पुर्जोंके श्रमकालमें उतने लोहेके श्रमकालको भी जोड़ लेते हैं।

अब यदि हम अपने पुराने प्रश्नपर आ जायँ तो यह स्पष्ट है कि किसी पण्यका मूल्य मुख्यतः उसपर खर्च किये गये श्रमपर निर्भर है। इसको ध्यानमें रखते हुए उस व्यापारीको लीजिये जिसने पहले रुपया लगाकर कपड़ा या अन्न मोल लिया और फिर उसको बेचता है। उस कपड़े या अन्नके विनिमयार्घको सामने रखकर उसने मूल्य दिया होगा। उसके घर पड़े रहनेसे इस विनिमयार्घमें साधारणतः कोई वृद्धि-विशेष नहीं होती। इसलिए बेचनेपर भी उसे सामान्यतः उतना ही मिलना चाहिये। यदि अधिक मिलता है तो इसलिए कि उसने कभी सस्तीके समय माल खरीद लिया होगा और अब मँहगीमें बेचता है या थोक लेकर फुटकर बेचता है, इत्यादि। इन सब बातोंके होते हुए भी उसको बहुत लाभ नहीं हो सकता अर्थात् वह बहुत पूँजी नहीं बटोर सकता। उससे अधिक वह कमा सकता है जो पण्यको लेकर उसे पण्यान्तरमें परिणत करता है। जो रुई मोल लेकर उसका कपड़ा बनवाकर बेचता है, उसे अधिक पैसे मिलेंगे, क्योंकि रुईको कपड़ेमें बदलनेमें जो श्रमकाल लगा उसने कपड़ेके

†Socially necessary labour-time.

मूल्यको रुईके मूल्यसे बढ़ा दिया। मालको एकसे लेकर दूसरेके हाथ बेच देनेके व्यवसायकी अपेक्षा कच्चे मालको लेकर उससे पक्का माल तय्यार करके बेचनेमें सदैव अधिक मुनाफा होगा और जितना ही अधिक मुनाफा होगा उतनी ही अधिक पूँजी बढ़ेगी।

पर यह बात इतनी सरल नहीं है कि इतनेमें ही खत्म हो जाय। कपड़ेका मूल्य तो रुईसे अधिक होता है पर मुनाफा किसकी जेबमें जायगा? उदाहरणसे देखिये। प्राचीनकालमें कारीगर स्वतन्त्र होते थे। आज भी जुलाहे या कोरी, लुहार, मिस्त्री स्वतन्त्र होते हैं अर्थात् अपने औजारके आप स्वामी होते हैं और जो पण्य तय्यार करते हैं उसका मुनाफा आप लेते हैं। जुलाहेके पास करघा होता है, वह सूत मोल लेकर कपड़ा बनाता है और बेचता है। यदि किसी महाजनसे कुछ ऋण भी लेता है तो वह महाजन अपना रुपया और ब्याज ले सकता है करघे, करघेके बने माल और उस मालके मूल्यपर अधिकार उस जुलाहेका ही रहता है। कपड़ा बिननेका कोई बड़ेसे बड़ा कारखाना हो, वह है उसी प्रकारकी जगह जैसी जुलाहेके मकान-की बिननेवाली दालान। उसकी बड़ी मशीनें करघोंके ही विस्तृत रूप हैं और काम करनेवाले जुलाहे हैं। अब यदि ऊपरवाला न्याय यहाँ भी लागू माना जाय—और न माननेका कोई कारण नहीं है—तो यह कारीगर ही मशीन और मशीनसे बने कपड़ेके स्वामी हैं और सारा मुनाफा इनमें ही बँटना चाहिये। जिसका रुपया लगा है वह अधिकसे अधिक अपना मूल और उचित ब्याज ले ले। पर इससे तो उसका परितोष नहीं हो सकता। इतनी बड़ी मशीन रखनेका तात्पर्य यही है कि श्रम कम लगे। जिस मशीनपर सौ मजदूर लगे होंगे वह सौ स्वतन्त्र कारीगरोंसे

अधिक काम करेगी। इकट्ठा मोल लेनेसे कच्चा माल भी सस्ता मिलेगा। साख अधिक होगी, इसलिए यदि कभी काम पड़ गया तो ऋण सुभीतेसे मिल सकेगा। पर इन सब सुविधाओंका उपयोग ही क्या हुआ, अर्थात् रुपया लगानेवाले मजदूरोंकी सम्पत्ति मान ली गयी? यदि उसने इसलिए रुपया लगाया होता कि पण्य खूब तैयार हों और लोगोंकी आवश्यकताएँ सुगमतासे पूरी हों तो वह इस बातको मान लेता पर वह भूखोंको अन्न और नङ्गोंको वस्त्रकी कमी न हों इस उद्देश्यसे व्यवसाय करने नहीं आया था, वह तो अपने रुपयोंकी सन्ततिकी वृद्धि चाहता है।

एक काम रुपया लगानेवाले कर सकते हैं। मशीनोंके युगके पहिले यही किया जाता था। बनारस जैसे नगरोंमें जहाँ बहुतसे कारीगर रेशमी माल तैयार करते हैं, अब भी ऐसा होता है। रुपयेवाले कारीगरोंको ऋण देकर उनसे यह शर्त करा लेते हैं कि तैयार होनेपर माल पहले हमको दिखला लेना। हम न लें तब दूसरेके हाथ बेचना। दबाव होनेसे दाम भी कुछ हल्का ही देते हैं। इससे कारीगरकी स्वतन्त्रता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है और पूँजीकी वृद्धि होती है। पर यह भी पर्य्याप्त नहीं है। यही कारीगर यदि एक जगह काम करें तो खर्च कम पड़े, फिर भी जब तक स्वतन्त्र यन्त्र चलते हैं तबतक अड़चन रहती है। खर्च तो वस्तुतः तब कम होता है जब स्वतन्त्र यन्त्रोंकी जगह एक महायन्त्र हो।

महायन्त्रों यानी मशीनोंने रुपयेवालोंका पक्ष प्रबल कर दिया है। साधारण कारीगरकी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह इन्हें मोल ले सके। यदि बहुतसे कारीगर मिल जायँ तो भी उनके लिए मशीन खरीदना कठिन होगा। रुपयेवाले अपने रुपये और

साखके द्वारा मशीन ले सकते हैं। इस प्रकार वह यन्त्रके स्वामी बन जाते हैं। अब रही श्रमकी बात। उनको स्वतन्त्र कारीगर तो चाहियें नहीं, केवल मजदूर चाहियें अर्थात् ऐसे लोग चाहियें जो पैसा लेकर श्रम करनेको तैयार हों और अपनी मजदूरी मात्रसे मतलब रखें, अपनेको यन्त्रादिका स्वामी समझकर मालिक बननेका स्वप्न न देखें। ऐसे लोग पर्य्याप्त संख्यामें मिल जाते हैं। यह कहाँसे आते हैं इसका विचार 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमें होगा पर लड़ी टूटती नहीं, आदमी बराबर मिल जाते हैं। मिलनेकी ही बात नहीं है, ऐसे लोगोंकी संख्या बराबर बढ़ती जाती है जिनके पास खेती बारी, घर आदि कोई सम्पत्ति नहीं है। उनके पास अपने शरीर मात्र हैं। मनुष्यका शरीर तो कोई लेकर क्या करेगा, उसका तो यही उपयोग है कि उससे काम लिया जाय यानी काम कराया जाय, उसमें श्रम करनेकी जो शक्ति है उससे काम लिया जाय। यह काम गुलामी प्रथा द्वारा भी हो सकता है पर यह प्रथा एक तो कहने सुननेमें भी दूषित है, दूसरे महँगी भी है। गुलामकी देख रेखमें बड़ा पैसा लगता है। वह काम भी कम करता है। यह मनुष्य-की मनोवृत्ति है कि वह जितने ही बन्धनोंमें रखा जाता है उतना ही असन्तुष्ट रहता है और काम कम करता है। यही कारण है कि यह प्रथा उठ गयी। इसको उठानेका श्रेय यूरोप-वालोंकी धर्म्मबुद्धि नहीं वरन् व्यवसायबुद्धिको है। दूसरा उपाय वही है जो बरता जा रहा है। यह लोग अपने शरीरके स्वामी बने रहते हैं पर अपनी श्रमशक्तिको समय-विशेषके लिए रुपयेवालेके हवाले कर देते हैं। ऐसे लोगोंके लिए कुछ दिनोंसे 'सर्वहारा'* नाम चल पड़ा है। अकिञ्चन कहना भी बुरा न

* Proletarian.

होगा। तात्पर्य यह है कि इनके पास कुछ नहीं है। वही सच्चे मजदूर हो सकते हैं जो पूर्णतया अकिञ्चन हों। उसको लोग दान, दया या आदरके भावसे प्रेरित होकर भले ही भोजन दे दें, पर वह स्वयं अपने जीवन निर्वाहके लिए कुछ कर नहीं सकता। यदि उसके पास रुपया हो तो अपने कामके पण्य मोल ले ले या कोई पण्य हो तो उसे बेचकर दूसरे पण्य ले। हमारे सर्वहाराके पास कुछ न होते हुए भी एक वस्तु है। वह है उसकी श्रमशक्ति* श्रम करनेकी शक्ति। बस वह रुपयेवालेके हाथ इसीको बेचता है। यही उसका एकमात्र पण्य है। इसका विनिमयार्घके हिसाबसे उसको मूल्य मिलता है। इसी मूल्यको पारिश्रमिक या मजदूरी† कहते हैं।

मजदूरीके सम्बन्धमें थोड़ा और विचार कर लेना अच्छा होगा। रुपयेवाले बाजारको देखकर ही मजदूरी देते हैं। एक ओर रुपयेवाला है जो घाटा सहकर भी कुछ दिन चल सकता है, दूसरी ओर मजदूर है जिसको अपने भूखे और नंगे बच्चोंके लिए आज सायंकालके लिए कुछ प्रबन्ध करना है, नहीं तो वह दम तोड़ने लगेंगे। कानून जिसको रुपयेवालोंने ही बनाया है, भले ही दोनोंको बराबर कहे पर वस्तुतः बराबरीका कहीं नाम भी नहीं है। मजदूरको अगत्या रुपयेवालेकी शर्तें माननी पड़ेंगी। इतना ही है कि बाजारका रुख देखकर शर्तें कभी कुछ कड़ी, कभी कुछ ढीली हो जायँगी। शर्तोंका निचोड़ यही है कि मजदूर कमसे कम मजदूरीमें अधिक काम करे।

प्रत्येक रुपयेवाला जो मजदूर रखता है अर्थशास्त्रका या दर्शनका पण्डित नहीं होता पर मजदूरीका तत्व न समझते हुए भी व्यवहार बुद्धिसे दो तीन बातका लिहाज मजदूरीमें रखता

*Labour-Power. † Wages.

है। पहिली बात तो यह है कि इतना तो देना ही चाहिये कि मजदूर जीता ही नहीं वरन् स्वस्थ रहे। यदि यह न हुआ तो उसकी श्रमशक्ति ही नष्ट हो जायगी। इसके साथ ही उसको जो मजदूरी दी जाती है उसमें इस बातकी रियायत भी रहती है कि वह अपने स्त्री बच्चोंका भी कुछ भरणपोषण कर सके। यह इसलिए नहीं रहती कि किसीको मजदूर या उसके कुटुम्बियोंसे प्रेम है। बात यह है कि यदि साधारण बालिग पुरुषके पत्नी न हो तो वह प्रायः अर्धविक्षिप्त सा रहता है। ऐसी दशामें वह ठीक ठीक काम नहीं कर सकता। यदि मजदूरकी श्रमशक्तिसे लाभ उठाना है तो इसके लिए इसका भी प्रबन्ध करना होगा कि वह कुटुम्बका येनकेन प्रकारेण पालन पोषण कर सके। इसकी तहमें एक और बात छिपी हुई है। मजदूरकी श्रमशक्ति तो हमारे रुपयेवालेके लिए वही हैसियत रखती है जो उसके एञ्जिनकी श्रमशक्ति। उसके लिए दोनों ही उत्पादनके साधन हैं। वह नये एञ्जिनको खरीदनेके समय यह जानता है कि कुछ वर्षोंमें यह बेकार हो जायगा और फिर नया एञ्जिन मोल लेना होगा। इसलिए वह प्रतिवर्ष कुछ रुपया निकालकर रखता जाता है। इसी रुपयेसे वह समयपर नया यन्त्र क्रय करता है। मजदूर भी कभी वृद्ध होता है और मरता है। फिर कहींसे नया मजदूर तो लाना होगा। मजदूर किसी कारखानेमें तो ढलते नहीं; मनुष्यसे ही तो मनुष्य पैदा होता है। इसलिए, जैसे नये एञ्जिनको मोल लेनेके लिए थोड़ा थोड़ा रुपया पहिलेसे जमा किया जाता है, उसी प्रकार थोड़ा-सा रुपया मजदूरको इसलिए भी दिया जाता है कि वह विवाह करके बच्चे पैदा करे और उनको पाले पोसे ताकि जब वह बेकार हो जाय तो नया मजदूर तैयार रहे। मजदूरीका यही रहस्य है। मजदूरी मजदूरकी

श्रमशक्तिका मूल्य है और मूल्य लगाते समय इस बातका भी लिहाज रहता है कि शक्तिका मन्दिर अर्थात मजदूर देहेन और मनसा यथासम्भव अस्वस्थ न रहे और अपने बेकार होनेके पहले अपने जैसे कुछ दूसरे शरीर पैदा कर जाय।

इस प्रकारके मजदूर और कारीगरमें बड़ा अन्तर है। कारीगर गरीब हो तो भी उसको यह सन्तोष और यह गर्व होता है कि अमुक वस्तु मेरे हाथोंकी कारीगरी है। मजदूर किसी महायन्त्रके एक छोटेसे पुर्जेसे सम्बन्ध रखता है। कारखानेमें कपड़ा या जूता या मोटर, कुछ भी बनता हो पर मजदूर यह नहीं कह कह सकता कि इस पण्यको या इसके अमुक अंशको मैंने बनाया है। उसको कानून चाहे ऐसा न कहे पर वस्तुतः वह दास है और नियत कालके लिए रुपयेवालेको उसी प्रकार उसपर स्वत्व है जैसे कि भूमि या अन्य साधनोंपर। कमसे कम रुपया लगानेवालेकी यही धारणा होती है।

यह सब हो पर यदि मजदूरको मजदूरीके रूपमें अपने श्रमका पूरा मूल्य मिल जाता है तो फिर रुपया लगानेवालेको कोई विशेष मुनाफा नहीं हो सकता। सूतसे कपड़ा बनता है। सूतका विनिमयार्घ तो पहले ही देकर सूत लिया गया था। अब श्रमिक जितने घंटे श्रम करता है उसका पूरा मूल्य उसको दे दिया जाय यानी उसकी मजदूरी इस मूल्यके बराबर हो तो कपड़ा बेचनेपर वही सूतका मूल्य बच रहेगा पर इससे तो व्यापार पनप नहीं सकता।

पर रुपया लगानेवालेके सौभाग्यसे ऐसा होता नहीं। इसके भीतर एक बहुत बड़ा रहस्य है और वही मुनाफेकी कुञ्जी है। जब रुईसे सूत बनता है तो उसके विनिमयार्घमें कोई भेद नहीं पड़ता पर उसका भोग्यार्घ बदल जाता है। मान लीजिये कि

रूईका विनिमयार्घ जो उसके श्रमकालपर निर्भर है वि[1] है और जो मूल्य मिला वह मू है तो मू-में दो अंश विद्यमान हैं। एक तो वि[1] ज्योंका त्यों है, दूसरा वह विनिमयार्घ है जो श्रमके द्वारा उसमें आया है। यदि इसे वि[2] कहें तो

वि[1]+वि[2]=मू

वह वि[2] विचारणीय है। श्रमशक्ति एक विलक्षण वस्तु है। वह अपने व्ययकालमें अपने पुनर्जन्मका प्रबन्ध कर लेती है और साथ ही अपनी सन्तति भी उत्पन्न कर लेती है। मान लीजिये कि कुछ सूत है। उसका विनिमयार्घ ३) है। एक मजदूर दस घण्टेके लिए ।।) रोजकी मजदूरीपर रखा जाता है। अब यदि मजदूर दस घण्टे काम करके ।।) का विनिमयार्घ पैदा करे यानी उस सूतपर जो परिश्रम करे उससे मालका मूल्य ३।।) मात्र हो जाय तो मुनाफेकी कोई जगह नहीं रही। पर वस्तुतः होता यह है कि वह पाँच सात घण्टेके श्रमसे ही उसका विनिमयार्घ ।।) बढ़ा देता है। पाँच सात घण्टेमें वह मजदूरीके बराबर श्रम कर चुकता है। इतनी देरमें वह अपने श्रमका विनिमयार्घ तो कच्चे मालमें जोड़ चुकता है। पर उसे कई घण्टे अधिक काम करना पड़ता है। इस श्रमकालका उसे कुछ नहीं मिलता पर विनिमयार्घ तो बढ़ता ही जाता है। यदि पाँच घण्टेके बाद माल ३।।) का था तो दस घण्टेके बाद वह कमसे कम ४) का होगा। अपने विनिमयार्घके ऊपर जितना विनिमयार्घ मजदूर पैदा करता है (या यों कहिये कि मजदूरको विवश होकर पैदा करना पड़ता है) उसे अतिरिक्तार्घ* कहते हैं।

---

* Surplus Value. (सरप्लस वैल्यू) कुछ लोग इसके लिए अतिरिक्त मूल्य शब्दका प्रयोग करते हैं परन्तु Value और Price भिन्न भिन्न अर्थोंके वाचक हैं। अर्घ और मूल्य दो पृथक शब्दोंके होते हुए

यह अतिरिक्तार्घ ही मुनाफेका स्रोत है। जो कच्चा माल मोल लिया गया था उसका तो विनिमयार्घ दिया ही गया था। मजदूरको भी उसके श्रमका विनिमयार्घ मजदूरीके रूपमें दिया जाता है। परन्तु अधिक श्रम करके जो अतिरिक्तार्घ वह पैदा करता है उसके लिए उसे कुछ नहीं मिलता। पर यह अतिरिक्तार्घ तैयार मालके मूल्यके भीतर विद्यमान है। जो हमने उदाहरण लिया था उसमें श्रमके द्वारा उत्पन्न किये गये विनिमयार्घ वि^{2}के दो भाग करने होंगे एक तो मजदूरके श्रमका विनिमयार्घ और दूसरा मजदूर द्वारा उत्पन्न किया गया विनिमयार्घ। यदि इनको श्र और अ्र कहें तो हमको

वि^{1} + वि^{2} = मू को इस रूपमें लिखना होगा—

वि^{1} + (श्र + अ) = मू

इसमें जो अ्र वाला अंश है वही रुपया लगानेवालेका मुनाफा है।

जो प्रश्न अध्यायके आरम्भमें उठाया गया था, उसका यही उत्तर है। रुपये लगानेवालेका यही प्रयत्न होता है कि वह मजदूरोंसे अधिकसे अधिक काम ले अर्थात् उनकी श्रमशक्तिका विनिमयार्घ चुकाकर उनसे अधिकसे अधिक अतिरिक्तार्घ उत्पन्न करावे। यह अतिरिक्तार्घ उसके हाथ मुफ्त लगता है और यही उसका मुनाफा है। जितना ही मुनाफा अधिक होगा उतनी ही उसकी पूँजीमें वृद्धि होगी। इस प्रकार उसकी प्राथमिक पूँजी अपनेको बढ़ा सकती है अर्थात् रुपया रुपयेको पैदा करता है।

इस प्रकार जो पूँजी पैदा होती है उसपर व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों अर्थात् कम्पनियोंका पूरा पूरा स्वत्व होता है। जनता या राजका उसपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसका

एक हीका प्रयोग करना अनावश्यक और भ्रामक है।

क्या परिणाम होता है इसपर 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमें विचार होगा।

नवाँ अध्याय

विनिमय और वितरणके साधनोंपर निजी स्वत्व

उत्पादनके साधनोंके साथ साथ विनिमय और वितरणके साधनोंपर भी संक्षेपसे विचार करना अच्छा होगा। इस कोटिमें बङ्क, रेल, जहाज, दूकान शामिल हैं। इस सबपर व्यक्तियों या थोड़े थोड़े व्यक्तियोंके समूह यानी कम्पनियोंका* अधिकार है।

यह बात नयी नहीं है। रेल वायुयान या स्टीमर न रहे हों पर नाव, बजड़ा, बैलगाड़ी, छकड़े तो थे ही। यह व्यक्तियोंके ही हाथमें थे। समय समय पर लोगोंको ऋणकी आवश्यकता पड़ती थी। उसे महाजन पूरा करते थे। आज भी महाजन हैं पर उनके स्थानमें अब बङ्क बढ़ते जाते हैं। कच्चा और बना सब तरहका माल दूकानोंपर बिकता था और अब भी बिकता है। इन सब व्यवसायोंसे जो लाभ होता था और है वह इनके थोड़ेसे मालिकोंके हाथमें जाता है। पर आजकल एक विशेषता हो गयी है। जो लोग महाजनी करते हैं वह देखते हैं कि बड़े बड़े कल कारखानोंको ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। इन कारखानोंको खासा मुनाफा होता है, इसलिए

* कम्पनियोंकी गणना भी पिछले और इस अध्यायमें व्यक्तियोंमें ही की गयी है क्योंकि कानूनकी दृष्टिसे भी वह व्यक्ति हैं और उनका सारा व्यापार कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंके हितमें ही होता है।

व्याज और मूल अच्छी तरह दे सकते हैं। ऋण देते देते महाजन अर्थात् बङ्क मिलोंमें हिस्से मोल ले लेते हैं। इसी प्रकार जिन लोगोंको कल कारखानोंसे मुनाफा होता है, वह अपनी पूँजी बङ्कोंमें लगाते हैं और महाजनी करते हैं। यही लोग जहाज और रेलकी कम्पनियोंके हिस्से मोल ले लेते हैं या नयी कम्पनियाँ खोलते हैं। इससे इनको यह सुविधा होती है कि अपना माल सस्तेमें जहाँ चाहते हैं भेज सकते हैं। एक ही, या एक ही गुटके, हाथमें माल, रुपया और यातायतके साधन, उत्पादन, विनिमय और वितरणके साधन, होनेसे व्ययमें किफायत और आयमें वृद्धि की जा सकती हैं। अपने प्रतियोगियोंको दबाया जा सकता है और अपना मुनाफा अर्थात् आगेके लिए पूँजी बढ़ायी जा सकती है। इन्हीं सब कारणोंसे कई विदेशोंका माल भारतीय मालसे सस्ता पड़ता है।

इसका क्या परिणाम होता है यह पूँजीवाद वाले अध्यायमें दिखलाया जायगा। वस्तुतः विनिमय और वितरणके साधनोंकी एक ही दशा है। एक रूस ही ऐसा देश है जहाँ यह चीजें अब वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हैं। पर एक बात है, और वस्तुओंके ऊपर वैयक्तिक स्वत्व होते हुए भी कुछ देशोंमें रेलवे पर न्यूनाधिक राष्ट्रका स्वत्व है। विदेशों में बेल्जियम और जर्मनी इसके उदाहरण हैं। भारत खुद इसका अच्छा उदाहरण है। ईस्ट इण्डियन, नार्थ वेस्टर्न, ईस्टर्न बेङ्गाल, जी० आई० पी० यह सब लाइनें सरकारी हैं। अब ओ० टी० भी सरकारी हो गयी है।

दसवाँ अध्याय

वर्गसंघर्ष *

वर्गयुद्ध, वर्गसंघर्ष या श्रेणीयुद्ध शब्द भी हमारे देशमें खूब चल पड़े हैं। किसी न किसी प्रकार यह समझा जाने लगा है कि समाजवादियोंकी परिभाषासे इन शब्दोंका विशेष सम्बन्ध है और समाजवादी ही वर्गयुद्ध फैलानेके दायी हैं। बड़े बड़े नेता जिनसे यह आशाकी जाती है कि औरोंसे अधिक समझदार होंगे और भाषा भी अधिक नाप तौलकर बोलते होंगे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनका यही तात्पर्य हो सकता है कि वर्गयुद्ध फैलाने की जिम्मेदारी समाजवादियोंपर है। यदि वह न होते तो वर्गयुद्ध न होता।

वर्गयुद्धका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है क्योंकि समाजवादियोंकी दृष्टिमें जितनी हानि उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वसे होती है उतनी ही हानि वर्गयुद्धसे होती है। बिना वर्गयुद्धको समझे हुए पूँजीवाद भी समझमें नहीं आ सकता।

पहले तो वर्ग शब्दका अर्थ जानना जरूरी है। साधारणतः लोग वर्गका प्रयोग यों ही कर दिया करते हैं पर उसका एक विशेष परिभाषिक अर्थ है। पहले अध्यायमें हमने जानबूझकर 'समुदाय' का प्रयोग किया है। आजकल जो अशांति फैल रही है उसका कारण समुदायों का लोभ, समुदायोंकी तृष्णा, समुदायोंकी प्रतियोगिता, बतलायी गयी है। मनुष्योंकी प्रतियोगिता बतलायी गयी है। मनुष्योंका समूह समुदाय है। यह समूह किसी भी प्रकारसे एकत्र हो सकता है। मेले तमाशेके लिए,

* Class War या Class Struggle.

मजहबी कृत्योंके लिए भी, मनुष्योंके समूह एकत्र होते हैं और किसी न किसी न किसी रूपमें उनको समुदाय कह सकते हैं, परन्तु वर्ग* शब्द समाजवादी परिभाषामें एक विशेष अर्थमें आता है। इसी अर्थमें किसी किसी प्रान्तीय भाषामें 'श्रेणी' शब्द आता है।

जिस समूहके व्यक्तियोंके आर्थिक हित एकसे होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं। जैसे, जमीनदारोंका एक वर्ग है, मजदूरोंका दूसरा वर्ग है, मिल मालिकोंका तीसरा वर्ग है। यह भी कोई ठीक परिभाषा नहीं है, पर इससे वर्ग शब्दका भाव समझमें आ जाता है। इस बातको ध्यानमें रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि पहले अध्यायमें समुदायके स्थानमें प्रायः सर्वत्र वर्ग शब्द रखा जा सकता है। समुदाय या तो अस्थायी हैं या उनके स्थायी होते हुए भी उनके कोई आर्थिक हित नहीं हैं पर वर्गोंके तो हित स्थायी हैं और उनके लोभ और प्रतिस्पर्द्धाके कारण ही व्यक्तियों और मनुष्य समूहोंके जीवन बनते बिगड़ते रहते हैं। इस प्रतिस्पर्धाका नाम ही वर्गयुद्ध या वर्गसङ्घर्ष है।

वर्गयुद्ध अनादि कालसे तो नहीं चला आता, पर है बहुत पुरानी चीज। कमसे कम जबसे सभ्य समाजका जन्म हुआ यानी ऐसे समाजका उदय हुआ, जिसमें कुछ लोगोंके हाथमें भूमि और पूँजीपर अधिकार हो और दूसरे लोगोंको उनके आश्रित रहना पड़े तबसे यह वर्ग सङ्घर्ष शुरू हुआ। एक ओर वह वर्ग था जिसके सदस्य दूसरोंके श्रमसे लाभ उठाते थे चाहे वह लाभ पिछले अध्यायमें समझाये हुए अतिरिक्त अर्घसे पैदा हुए मुनाफेके रूपमें हो, चाहे वह अनर्जित वृद्धि अर्थात् लगानके रूपमें हो। दूसरी ओर वह वर्ग था जिसको अपने श्रमका फल पहले वर्गको सौंप देना पड़ता था। बिना स्वयं परिश्रम किये

* Class.

दूसरों के श्रमसे लाभ उठानेको शोषण * कहते हैं। इस दृष्टिसे पहला वर्ग शोषक वर्ग और दूसरा वर्ग शोषित वर्ग कहला सकता है। यह बात नहीं है कि शुरूसे आजतक शोषकों और शोषितोंका स्वरूप एकसा ही चला आया हो। शोषणके कई ढङ्ग अब मिट गये हैं; उदाहरणके लिए गुलामी प्रथाका अब प्रायः अभाव हो गया है। इसके साथ ही शोषणके और कई ढङ्गोंका हालमें आविष्कार हुआ है। इनका प्रयोग बड़ेबड़े साम्राज्यवादी देश उपनिवेशोंमें करते हैं। अभी भारतका इतिहास तो वर्ग सङ्घर्षकी दृष्टिसे बिलकुल नहीं लिखा गया है पर यूरोपका इतिहास कुछ हद तक इस दृष्टिसे लिखा गया है। विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतमें भी वही शक्तियाँ काम करती रही होंगी जिनका खेल यूरोपमें देख पड़ता है।

वर्गसंघर्ष को बहुत थोड़ेमें यों समझाया जा सकता है। प्रत्येक युगमें अर्थके उपार्जनका कोई न कोई प्रमुख साधन होता है और उस साधनपर एक वर्गका आधिपत्य होता है। यह हो सकता है कि वह वर्ग पैतृक हो पर यह भी सम्भव है कि पैतृक न हो। फिर भी वर्गके सदस्योंका संघटन पैतृक वर्गवालोंसे किसी दृष्टिमें कम नहीं होता। जमीनदारोंका वर्ग पैतृक है पर पूँजीपतियोंका नहीं है। पर पूँजीपतियोंका वर्ग जमीनदारोंसे कहीं अधिक संघटित और बलवान् है। अस्तु, तो जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, जिस वर्गके हाथमें अर्थोपार्जनके प्रमुख साधनोंपर आधिपत्य होगा वह समाजमें सबसे बलशाली होगा। उसीके हाथमें राजनीतिक शक्ति होगी। और दूसरे वर्ग उसके अधीन होंगे जैसे प्राचीन कालमें वह वर्ग जिसका भूमिपर अधिकार था सबसे प्रबल था क्योंकि उस समय अर्थोपार्जनका

* Exploitation.

प्रधान साधन भूमि थी। वाणिज्य-व्यापार था सही पर बहुत संकुचित। छोटेछोटे राज्य थे जिनमें आपसमें आये दिन लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, व्यापारी स्वच्छन्द रूपसे नहीं पनप सकते थे। इस क्षत्रिय वर्गका सबपर आधिपत्य था और स्वभावतः इसने समाजका सङ्गटन ऐसा किया था कि इसका आधिपत्य चिरस्थायी रहे। यह बात केवल भारतमें नहीं, प्रत्युत उस कालके सारे सभ्य जगतमें थी। वैश्य और शूद्र क्षत्रियके वशवर्त्ती, आश्रित और कृपाकांक्षी थे। केवल एक वर्ग था जो अर्थोपार्जनके साधननोंसे अलग रहकर भी क्षत्रिय वर्गका मुकाबिला कर सकता था। वह था ब्राह्मणवर्ग। ब्राह्मणने अर्थोपार्जन छोड़ दिया था और इस भरोसे था कि दूसरे लोग उसका भरणपोषण करें। इसके लिए वह विद्यादान तो करता ही था, जनताके इस विश्वाससे भी लाभ उठता था कि उसकी मध्यस्थता से ही लोग सुगमतासे इहलोकसे परलोक पहुँच सकते हैं। इसलिए वह क्षत्रियवर्गसे टक्कर ही नहीं लेता था, बल्कि अपनेको कभी कभी उससे श्रेष्ठ भी मानता था। कभी कभी तो ऐसा होता था कि एक ही व्यक्ति राजा और पुरोहित होता था। पर जहाँ ऐसा नहीं हुआ वहाँ दोनों वर्गोंमें सङ्घर्ष हुआ और अन्तमें अर्थशक्तिधारियों अर्थात् क्षत्रियोंकी ही विजय हुई। भारतकी बहुत ही पुरानी पौराणिक कथाओंमेंसे कईमें यह इतिहास विकृत रूपमें वर्णित है। पहले तो विश्वामित्रका वशिष्ठसे हारकर कठोर तपस्या करके ब्राह्मण बनना ब्राह्मणोंके प्रधान्यका सूचक है फिर क्षत्रियोंका प्राधान्य होता है। परशुराम इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्र करते हैं। पर उनकी प्रत्येक विजयके बाद क्षत्रियोंका राज्य होता है। अम्बिकाके व्याहके सम्बन्धमें वह भीष्मसे युद्ध ठानते हैं पर इसके बाद वह भी थककर बैठ जाते हैं और फिर

सारे भारतमें क्षत्रियोंका ही राज्य होता है। इस सारी कथावलीका एकमात्र निष्कर्ष यह है कि अर्थोपार्जनके साधनपर अधिकार रखनेवाले क्षत्रियोंने परलोककी कुञ्जीके रखनेवाले ब्राह्मणों तकको दबाकर आधिपत्य अपने हाथ में रखा। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका एक प्रकारका समझौता हो गया—सिद्धान्ततः क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंको अपनेसे ऊँचा मान लिया, व्यवहारतः वह ब्राह्मणादि सभीके ऊपर रहे।

हमने ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दोंका जो प्रयोग किया है उसको और घटनाक्रमको थोड़ासा बदल देना होगा। बाकी ठीक यही अवस्था यूरोपमें नरेशों और धर्माध्यक्षोंमें सङ्घर्ष और संग्रामके बाद उत्पन्न हुई। यह दूसरी बात हैं कि हमारे यहाँकी अपेक्षा उनके यहाँ यह बात कई सौ, स्यात् कई हजार, वर्ष पीछे हुई।

अस्तु, यह क्षत्रिय वर्ग तो, जिसे सरदार या सामन्त वर्ग भी कहते हैं—क्योंकि इनका आपसका सङ्गठन प्रायः ऐसा ही होता था कि सर्वोपरि एक सम्राट् या महाराजाधिराज, उसके नीचे न्यूनाधिक स्वतन्त्र मंडलेश्वर अर्थात् एक एक देशके नरेश और इनके अधीन न्यूनाधिक स्वतन्त्र सामन्त सरदार अर्थात् जागीरदार होते थे—समाजमें शीर्षस्थानीय था, और वर्गोंका इसके साथ निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहता था। सङ्घर्षका अर्थ यह नहीं है कि बराबर युद्ध होते थे। सङ्घर्षका स्वरूप असन्तोष और आंशिक असहयोग था। यह भी स्पष्ट है कि सङ्घर्ष उसी वर्ग से होता था जो स्वयं अर्थोत्पादनके काममें लगा था पर जिसके काममें क्षत्रियवर्गके अस्तित्वसे अड़चन पड़ती थी। इस प्रकारके दो वर्ग थे, एक तो व्यापारी, दूसरे सामान्य कृषक। कृषकोंकी ओरसे भारतमें प्राचीन कालसे कब कब कैसे आन्दोलन हुए इसका

ठीक पता नहीं, आधुनिक युगमें, पिछले सौ डेढ़ सौ सालमें, तो कई बार अशान्तिने छोटे मोटे विद्रोहका रूप पकड़ लिया है। भारतमें प्राचीन कालसे अंग्रेजी राजकी स्थापना तक वणिक् वर्ग यह प्रयत्न करता रहा है कि छोटे छोटे राजोंके स्थानमें एक विशाल राज बना रहे। यूरोपमें कई अवसरोंपर व्यापारियोंने लड़कर अपने लिए विशेष अधिकार प्राप्त किये थे।

असन्तोषकी ऐसी अवस्था हजारों वर्षतक चली। अर्थोपार्जनके साधनोंमें कोई जबर्दस्त परिवर्तन नहीं हुआ और सङ्घर्षने भी कोई उत्कट रूप धारण नहीं किया पर जब भारत तथा एशियाके अन्य देशोंसे यूरोपवालोंका सम्बन्ध स्थापित हुआ तो रुपया व्यापारियोंके हाथमें बढ़ने लगा। धीरे धीरे अर्थोपार्जन का यह साधन प्रबल हुआ और इस साधनके स्वामी अर्थात नगरोंके रहनेवाले व्यवसायी प्रबल होने लगे। उन्होंने अपने लिए भाँति भाँतिकी रियायतें चाहनीं शुरू कीं और उन बन्धनोंको हटवानेकी कोशिश की जो राजनीतिक तथा अन्य प्रकारोंसे उनके व्यापारिक विकासको बाँध रहे थे। उनके असन्तोषने अनेक अनेक रूप धारण किये, कहीं मजहबी, कहीं अर्द्धराजनीतिक, कहीं शुद्ध राजनीतिक। पुराने अधिकारी वर्गवालोंको उनका यह काम पसन्द न था, इसलिए उन लोगोंने विरोध किया। फलतः यह वर्गसङ्घर्ष खुला युद्ध हो गया और अधिकारका फैसला तलवारके हाथों गया। उभय पक्षने शस्त्र ग्रहण किया। व्यवसायी पक्ष भी बलवान् था और अब कोरे मूक असन्तोषसे परितुष्ट न होकर अपने आर्थिक हितोंके लिए लड़नेको तैयार था। इसीके फलस्वरूप इंग्लैण्डमें वह क्रान्ति हुई जिसमें पुराने सामंत वर्गकी ओरसे प्रथम चार्ल्सने अपने सिरकी आहुति दी और द्वितीय जेम्सको स्वदेशसे पलायन करना पड़ा। यद्यपि विलियम

और मेरीके अभिषेकसे राजतंत्र नामको फिर स्थापित हो गया, पर यह राजतंत्र दूसरे ही आधारोंपर था। शक्तिका केन्द्र नरेश और उनके सरदारों तथा बड़े बड़े जागीरदारों और भूम्यधिपतियोंके हाथसे निकलकर नगरनिवासी व्यवसायी वर्गके हाथमें आ गया। अब ज्यों ज्यों मशीनोंका आविष्कार हुआ व्यवसाइयोंका बल बढ़ता गया और सरदारोंका बल घटता ही गया। फ्रान्समें सरदारोंने अपने हाथमें शक्ति अधिक कालतक रखी क्योंकि वहाँ व्यवसायकी वृद्धि भी देरमें हुई। फलतः संग्राम भी बड़ा भीषण हुआ। फ्रान्सीसी क्रान्ति ब्रिटिश क्रान्तिसे कहीं बढ़कर भयंकर थी। राजवंश तो खत्म किया ही गया, पुराने सामंत यथासंभव या तो निर्बीज कर दिये गये या फ्रांससे चिरनिर्वासित हो गये। हजारों बेकसूर केवल संदेहपर तलवारके घाट उतारे गये। इङ्गलैण्डमें तो सामन्तशाहीके भग्नावशेष यत्रतत्र रह भी गये पर फ्रान्समें तो उसका नाम व निशान भी मिटा दिया गया। झंडेपर लिखा था—स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृता*, पर युद्ध था सामन्तशाही और नये उठते हुए नागरिक वर्गमें। जीत नागरिक वर्गकी हुई। फ्रान्सकी क्रान्तिने तो रूसको छोड़कर प्रायः समस्त यूरोपके लिए सारे प्रश्नको हल कर दिया, सामन्तशाही खत्म हो गयी।

खेद है कि भारतका इतिहास इस दृष्टिसे नहीं लिखा गया है, फिर भी कई इतिहासवेत्ताओंका कहना है कि यहाँ भी व्यवसायीवर्ग और सामन्तवर्गका सङ्घर्ष जोर पकड़ रहा था और व्यवसायीवर्ग धीरे धीरे हावी हो रहा था। मुगल और महाराष्ट्र दरबारोंमें उसकी काफी पहुंच थी। उसकी ही शिकायतोंने कि व्यापारमें बाधा पड़ती है कई छोटे राज्योंका अस्तित्व

---

*Liberty, egalite. et fraternite.

मिटा दिया और प्रबल साम्राज्योंके बननेमें सहायता दी। ऐसा कहा जाता है कि यदि यहाँ अंग्रेजी राज्य स्थापित न हो गया होता तो यूरोपसे मिलता जुलता किसी न किसी प्रकारका शहरी व्यापारियोंका शासन स्थापित हो गया होता। देशकी राजनीतिमें व्यापारी क्या स्थान रखते थे, इसकी एक झलक क्लाइव और सिराजुद्दौलाकी घृणित कहानीमें सेठ अमीचन्दकी कहावतसे मिल जाती है।

अस्तु, सामन्तयुग तो समाप्त हो गया और उसकी जगह वह युग आ गया जिसमें सारा अधिकार बड़े बड़े व्यवसाइयोंके हाथमें चला गया। इस वर्गमें बड़े व्यवसायी अर्थात् महाजन, बैङ्कर, मिल मालिक तो हैं ही, कुछ इनसे मिलते जुलते लोग भी हैं जैसे कुछ बहुत बड़े वकील। वस्तुतः देशोंकी राजनीति और अर्थनीति आज इन्हींके हाथमें है। सारे कानून इसी दृष्टिसे बनाये गये हैं कि इनके आर्थिक हितोंकी रक्षा होती रहे। इनको हिन्दीमें मध्यम वर्ग या उच्च मध्यमवर्ग* कह सकते हैं। 'उच्च' विशेषण जोड़नेका एक खास कारण है। इस वर्गके साथ बहुतसे लोग हैं जिनकी जीविका इस वर्गपर ही निर्भर है। यह स्वयं सामन्त सरदार नहीं हैं, साथ ही अपनेको मजदूर कहना नहीं चाहते, यद्यपि इनकी हैसियत दरअसल मजदूरोंकी सी ही है। इन लोगोंकी भर्ती दो ओरसे होती है। कुछ तो उच्च मध्यम वर्गके लोग नीचे गिरते हैं, कुछ देहातोंसे तथा मजदूरोंमें-से लोग पढ़ लिखकर इनमें मिल जाते हैं। इस वर्गमें साधारण वकील, डाक्टर, अध्यापक, सरकारी और गैरसरकारी दफ्तरोंके बाबू शामिल हैं। इसको मजाकमें फटियल बाबू वर्ग कहा करते

*Bourgeoisie.

हैं। यह सफेदपोश लोग निम्न मध्यमवर्गके † हैं। कोई पूछता नहीं, आमदनी और हैसियतकी दृष्टिसे मजदूर हैं, आर्थिक स्थिति भी मजदूरों जैसी, पर अपने को मजदूर कहनेमें शरमाते हैं और उच्च मध्यमवर्ग वालोंके बीचमें कभी कभी बैठने उठनेका मौका पा जानेसे अपनेको बड़ा आदमी समझते हैं। यह लोग मध्यमवर्गके दरबारी हैं और सभी देशोंमें पाये जाते हैं। इनमेंसे कभी कभी कोई ऊपर पहुँच भी जाता है, इसलिए इनकी यह भ्रांति बनी ही रहती है।

फ्रांसीसी क्रान्तिसे लेकर रूसी क्रान्ति तक लगभग सवासौ वर्ष बीते। इस बीचमें रूसको छोड़कर अन्यत्र सामंत सरदारोंने प्रायः बिना रक्तपातके ही हथियार डाल दिये। हाँ, भारतमें अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए ब्रिटिश सरकारने राजों महाराजों और जमींदार तालुकेदारोंको पाल रखा है। इस शताब्दिसे कुछ ऊपरकी अवधिमें मध्यमवर्गने एक नूतन संस्कृति और सभ्यताको स्थापित किया जिसका मनुष्यके इतिहासमें बड़ा ऊँचा स्थान है। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, ऐसे नगर जिनमें एक एक देशकी जनता समा जाय, प्रकृतिकी दुर्लभ शक्तियोंपर प्रचंड विजय, बड़े बड़े जंगलोंको काटकर वहाँ नगर स्थापन, यह बातें शायद ही पहले किसी युगमें देखी, सुनी गयी होंगी। आज मनुष्य समुद्रकी लहरोंके नीचे टहलता है और आकाशमें उड़ता है। परमाणुके भीतर प्रवेश करता और महासूर्यसमूह नीहारिकाओंको घर बैठे तौलता है। ईश्वरकी सत्ता, उसका अस्तित्व, मनुष्यकी विवेचक बुद्धिके सामने कातर भावसे काँप रहा है। यह सभ्यता सार्वदेशिक है। ऐसा कोई महाद्वीप नहीं बचा जिसमें इसका

---

† The Lower Middle Class.

प्रभाव न देख पड़ता हो। जो असभ्य है, उसको सभ्य बनाना आजकलके सभ्योंका एक पुनीत कर्तव्य हो गया है। इसमें उस असभ्यकी इच्छा अनिच्छाका कोई लिहाज नहीं किया जाता।

यह सही है कि सभ्य और प्रगतिशील राष्ट्रोंमें प्रतिस्पर्द्धा बहुत देख पड़ती है। परन्तु आजकल सभ्यताके जो लक्षण और मापदण्ड बन गये हैं उनमें प्रतिस्पर्द्धा भी है। यह ठीक है कि प्रतिस्पर्द्धासे कुछ अशांति उत्पन्न होती है पर थोड़ी सी अशान्ति भी उपादेय ही है क्योंकि अशान्ति ही असन्तोषकी कुञ्जी है। बड़े बड़े आविष्कार तथा राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक प्रयोग, जिनकी बदौलत आजकल हजारों नागरिक जी रहे हैं, जिनके बलपर आजकलकी सभ्यता कायम है, आजकलकी विशेषताओंमें हैं। प्राचीन कालमें लोकतन्त्रात्मक शासन कहीं कहीं छोटे राजोंमें देख पड़ता था आजकल उन लोगोंको भी जो स्वतन्त्र नहीं हैं मताधिकार दिया जाता है और इंगलैण्ड जैसे देश भी जहाँ नरेश हैं, अपने लोकतन्त्रात्मक शासनपर गर्व करते हैं।

देश और कालके बन्धन टूटसे गये हैं। बरसोंका काम मिनटोंमें होता है। हजारों कोसकी दूरी दस पाँच कोससी जँचती है। भोग और विलासकी सामग्री जो पहिले सम्राटोंको ही अलभ्य थी वह अब खुले बाजारोंमें बिकती है। कला और साहित्यकी भी विशेष उन्नति हुई है और प्राचीन कालोंकी सौन्दर्यनिधि बहुत प्रयत्नसे सुरक्षित रखी गयी है।

मनुष्य मनुष्यके बहुत सन्निकट आगया है। वेष भूषा तो एक सी हो ही चली है, एक दूसरेकी भाषाओंका ज्ञान भी बढ़ गया है। कला और साहित्य भी सार्वभौम हो गये हैं, सांस्कृ-

तिक आदर्श भी सार्वदेशिक हैं। सरकारी सङ्घटन तो बहुदेशीय है ही, कई प्रकारके गैर-सरकारी सङ्घटकोंका जाल सा बिछा हुआ है। ईसाई सम्प्रदाय, थियोसोफी, मुसलिम सम्प्रदाय और इनसे बढ़कर मजदूरसङ्घ तथा समाजवादी भ्रातृमण्डल, जगद्व्यापी हैं। एक देशकी राजनीतिक घटना बातकी बातमें अन्ताराष्ट्रिय हलचल मचा देती है। एक देशपर पड़ी दैवी विपत्ति सभी देशोंमें समवेदनाकी लहर प्रकम्पित कर देती है।

इस सभ्यता और संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसका आधार, इसका एकमात्र मूलमंत्र, धन, रुपया है। यों तो रुपयेकी थोड़ी बहुत पूजा सदैव होती रही है पर यह तो रुपयेका युग है। व्यवसायीवर्गका आधिपत्य है, अतः रुपया ही पुज रहा है। यह सारी सभ्यता, सारी संस्कृति, रुपयेपर टिकी है। किसी समयमें तपकी, कभी विद्याकी, कभी बाहुबलकी भले प्रतिष्ठा रही हो पर आज तो एक मात्र प्रतिष्ठा पैसेकी है। जो सबसे अधिक सम्पन्न है वही सबसे अधिक प्रतिष्ठित है। धनिकवर्ग स्वयं शासन करे या न करे पर वह राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलोंको मोल लेकर अपनी इच्छाके अनुसार शासन करता है। बड़े बड़े सम्प्रदायोंके आचार्य जिनकी व्यवस्थाओंपर लोगोंका आमुष्मिक जीवन निर्भर रहता है, लक्ष्मीपुत्रोंके मुँह ताकते रहते हैं। धनिकोंकी ही कृपासे विश्वविद्यालयोंमें पद मिलते हैं। अप्टन सिंक्लेअरने 'मनी राइट्स'में दिखलाया है कि किस प्रकार बड़े बड़े कवि, विद्वान, लेखक रुपयेके जोरपर खरीदे जा सकते हैं। उन्होंने अपने देशके उदाहरण दिये हैं क्योंकि उनको उन्हींका पता था पर वही गति सर्वत्र है। पत्रकार लोकमतके स्वतंत्र और निर्भीक द्योतक और पथप्रदर्शक समझे जाते हैं पर यह कौन नहीं जानता कि अधिकांश पत्रकार

धनिकोंके नौकर हैं और जो पत्र सचमुच स्वतंत्र जीवन बिताना चाहते हैं उनका जीना दूभर हो जाता है।

धनिकोंके लिए विश्वविद्यालयों और विद्वत् परिषदोंसे उपाधि प्राप्त कर लेना बच्चोंका खेल है। यों तो कहनेको कानूनकी दृष्टिमें सब ही बराबर हैं पर अदालती प्रक्रिया ऐसी है कि रुपयेवालेके सामने निर्धनका ठहरना असम्भवसा ही है। रुपयेका महत्व इतना बड़ा है कि वही सब प्रकारकी योग्यताओंका मानदण्ड है। सभ्य जगत्‌के प्राचीनतम व्यवस्थापक मनु जङ्गलमें कुशासनपर बैठे शिष्योंको कानूनकी निःशुल्क शिक्षा दिया करते थे पर आजका वकील या व्यवस्थापक अपने एकएक शब्दके लिए पैसे चाहता है। जो अध्यापक जितना बड़ा वेतन पाता है वह उतना ही बड़ा विद्वान् गिना जाता है। यह बात पहले कभी सत्य रही हो या न रही हो पर इस कालके लिए तो अक्षरशः सत्य है कि

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते

इस सभ्यताका एक रूप, एक पहलू, और भी है। बिना उसके समझे इसका स्वरूप पूरा पूरा समझमें नहीं आ सकता। जब यह निश्चित है कि इसका आधार रुपया है, तो यह भी निश्चित है कि जिसके पास रुपया नहीं है वह इसके घेरेके बाहर है। पहले भी धनी और निर्धनका भेद था पर वह भेद आज जैसा तीव्र न था। न ऐसे धनी थे न ऐसे निर्धन। साधारणतः निर्धनोंकी भी आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करती थीं पर आज वह बात नहीं है। उत्पादन और वितरणके साधनोंमें अभूतपूर्व उन्नति हुई है पर भूखों और नङ्गोंकी संख्यामें उससे कहीं बड़े अनुपातमें वृद्धि हुई है। ऐसे लोगोंकी गणना करना कठिन है जो प्राण पाल रहे हैं परन्तु न भरपेट अन्नपाते हैं न पर्याप्त

वस्त्र। उनके सोनेके लिए सड़कों की खुली पटरियाँ हैं, जहाँसे पुलिसका कान्स्टेबुल उन्हें कभी भी हटा सकता है। मैं यह किताबी बात नहीं कह रहा हूँ, आँखों देखी कथा लिख रहा हूँ। किसी पुराने कविकी उक्ति प्रसिद्ध है—

टूटी टाटी खाट बिन, अरु भाजी बिन लौन।
अपने बाल गुपाल बिच, इन्द्र बापुरो कौन॥

पर इन बेचारोंके पास न टूटी टाटी खाट है, न भाजी है। और बाल गोपाल? बाल गोपाल हों तो रहें कहाँ, खायँ क्या? जिनके हैं उनके लिए जान की आफत है। दूध नहीं है, माँका रक्त चूसतेहैं, बिललाते हैं, जबतक हैं अपने बाप माँके दिमागको जीता जागता पागलखाना बनाये रखते हैं, आखिर दम तोड़कर उन्नत समाजको आशीर्वाद देते इस पुण्यलोकसे चले जाते हैं। सचमुच यह सुख इन्द्रको कहाँ प्राप्त हो सकता है!

दूसरी ओर वह भाग्यवान हैं जिनको नगरोंमें किरायेके क्वार्टरोंमें रहना पड़ता है। अपनी इच्छासे इतने सूअर भी ऐसे निवासस्थानों को पसन्द नहीं कर सकते।

बेकारी भी ऐसी कभी देखने सुननेमें नहीं आयी। करोड़ों मनुष्य बेकार हैं। कुछको पाश्चात्य सरकारें थोड़ी बहुत भृति देकर पालपोस रही हैं शेष जैसे भारतके बेकार, एड़ियाँ रगड़ रगड़कर मृत्युका आह्वान कर रहे हैं। कहीं किसी पुरुषके रेलकी पटरीपर लेट रहने या किसी स्त्रीके अपने बच्चों समेत कुएँमें कूद पड़नेका समाचार पढ़कर लोग चौंक पड़ते हैं पर यह बातें तो होती ही रहती हैं। लोग सैकड़ोंकी संख्यामें मर रहे हैं पर कोई दीर्घ यातना न सहकर मरनेका कोई तात्कालिक ढङ्ग

ढूँढ निकालता है, इसलिए क्षणभरके लिए उसकी ओर भले आदमियोंकी दृष्टि उठ जाती है। एक बार 'शिव शिव' करके वह फिर शान्तिसे अपनी बहीके आँकड़े जोड़नेमें लग जाते हैं। केवल वही बेकार नहीं हैं जिनके पास कोई काम नहीं है, वह भी बेकारोंमें ही हैं जिनके पास नाममात्रके लिए कोई काम है। आज सरकारी हिसाबसे भारत के अधिकांश भागोंमें प्रति व्यक्ति २॥। बीघा भूमिसे अधिक नहीं है। इतनी भूमिसे एक आदमीका पेट नहीं भरता, न वह उसके लिए पर्य्याप्त श्रम है। फिर भी छोटी छोटी टुकड़ियोंपर पिता और कई लड़के या कई भाई चिपटे हुए हैं क्योंकि उनके पास कोई दूसरा काम नहीं है। यह लोग भी वस्तुतः बेकार हैं। यह एक उदाहरण मात्र है। ऐसे और अनेक उदाहरण हैं और सभी देशोंमें पाये जाते हैं। यदि बेकारको चार पैसे भृतिके रूपमें दे भी दिये गये तो इतना ही होगा कि वह जीवित रहेगा और अपने जैसे बेकार पैदा कर सकेगा पर उसमें वह स्वावलम्बन, धैर्य्य, साहस, पौरुषका भाव कहाँ, जो अपने परिश्रमसे जीनेवाले मजदूरमें होता है। वृत्तिभोगी बेकार तो भिक्षा पर जीता है। समाज समझे या न समझे पर ऐसे परजीवियोंका उसके जीवन पर अन्ततोगत्वा वही प्रभाव पड़ता है जो कुत्तेके शरीर पर किलनीका। यह परजीवी जीव अपने पोषकका सार खींच लेते हैं। स्वयं तो अकर्मण्य होते ही हैं, पोषकके प्राण लेकर ही छोड़ते हैं। बेकारोंकी वृद्धि क्यों हो रही है यह तो अगले अध्यायमें दिखलाया जायगा पर यह स्पष्ट है कि इनकी संख्या-वृद्धि—और इनकी संख्यामें इनके बालबच्चोंको भी गिनना होगा—भयावह हो रही है।❀

❀ आजकल लड़ाईके कारण बेकारी बहुत कम हो गयी है। परन्तु

कानून भी इन बेचारोंकी रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि वह धनियोंके हितमें बना है। यह स्वतन्त्र कहलाते हैं, इनमेंसे बहुतोंको मताधिकार भी प्राप्त है पर, व्यवहार दृष्ट्या, उसका उतना ही प्रभाव है जितना पाँच सिंहोंके सामने पाँच सौ भेड़ोंको खड़ा करके उनको मताधिकार देनेका।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सब योग्यताओंका मान-दण्ड रुपया है। बड़े बड़े विद्वानोंको अपनी विद्वत्ताके विज्ञापनके लिए धनिकोंका आश्रय लेना पड़ता है। किसी धनिकका अल्पज्ञ कृपापात्र ऊँचे पदपर विभूषित हो सकता है और बड़ेसे बड़ा विद्वान् धनिकाश्रयके अभावमें दरदरकी धूल फाँकता फिरता है। धनिकका मूर्ख लड़का कालिजमें पढ़ता है और निर्धनका प्रतिभाशील लड़का प्रारम्भिक कक्षाओंके ऊपर नहीं चढ़ पाता। बड़े बड़े जगद्धितकारी काम इसलिए रुके पड़े हैं कि किसी धनिककी उधर दृष्टि नहीं पड़ती। बड़े बड़े योग्य व्यक्ति जो न केवल आन्दोलनोंके परिचालक वरन् पटु राजपुरुष हो सकते हैं केवल धनाभावसे पीछे पड़े रहते हैं। यह अभाव इसलिए और खलता है कि यह शारीरिक शक्ति या प्रतिभाके अभावकी भाँति नैसर्गिक नहीं है।

जो बात धनवान्के लिए भूषण है वह दरिद्रके लिए दूषण है। पण्डे, पुरोहित, पुजारी भी उसे नहीं पूछते। धर्म्म ग्रंथोंमें निर्धनोंके लिए निर्वाह कर तो दिया गया है पर धर्म्मोपजीवी समुदाय दरिद्रको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दरिद्रके ऊपर जो

नरसंहार करने और सभ्यताको नष्ट करनेसे बेकारी स्थायी रूपसे दूर नहीं होती। चार दिनमें फिर यही प्रश्न सामने आजायगा।

सरकारी और गैर सरकारी अत्याचार होते हैं, उनके विरुद्ध आवाज उठाना किसीका काम नहीं है। उससे बन पड़े तो सन्तोष करके चुपचाप बैठ रहे, नहीं तो अपने मनस्तापको आँसुओंके रूपमें बहा दे। इससे भी आगे बढ़ना चाहता हो तो आकाशकी ओर आँखें उठाकर दीनानाथ, दीनबन्धु, करुणा-सागर, समदर्शी, निर्बलके बल, निर्धनके धन, भगवानको पुकारे। इससे और तो क्या होना है, अपनेको धोखा देनेमें सहायता मिल जाती है। ठीक भी है आखिर मजहब दरिद्रकी ओरसे क्यों माथापच्ची करे? यदि उसके कर्म्म अच्छे होते या ईश्वरकी उसपर कृपा होती तो वह दरिद्र होता ही क्यों? चुपचाप सह लेना ही तो उसका सबसे उत्कृष्ट प्रायश्चित है।

शोर मचाकर यह दरिद्र नाहक समाजको क्षुब्ध करते पर समाजने भी इसका प्रबन्ध कर रखा है। यदि इनका उठाया कोई आन्दोलन जोर पकड़ता है तो सरकार इसको ठीक कर सकती है। निर्धन चाहे बेकार हों, चाहे कृपक, चाहे मजदूर यदि वह अपनी अवस्थाको उन्नत करनेके लिए कोई सक्रिय आन्दोलन करेंगे तो अवश्य थोड़े ही दिनोंके भीतर उनको राजशक्तिसे टक्कर लेनी होगी, क्योंकि राजशक्ति धनिकवर्गके हाथोंमें है।

किसी संस्कृत कविकी यह उक्ति सर्वथा सच है—

दारिद्र्यमेकं गुणराशिनाशि

दारिद्र्य मनुष्यके सभी गुणोंका नाशक है। उसके भौतिक दोप—शरीरको दुर्बल, रोगी या अल्पायु बनाना—तो बुरे हैं ही, मानस गुण और भी बुरे हैं। वह मनुष्यके धैर्य्य, साहस स्वाव-

लम्बन, पुंसत्वको हर लेता है और उसे कायर बना देता है। पदे पदे ठोकर खाते खाते अपनेपरसे ही विश्वास उठ जाता है। कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो मनुष्यमें स्वभावतः पायी जाती हैं और उसके चरित्रकी उन्नायक होती हैं। इनमेंसे एक प्रवृत्ति 'रचना' है। मनुष्य कुछ न कुछ रचना, बनाना चाहता है; चाहे वह काव्यकी रचना करे, चाहे दो पौधोंकी क्यारीकी, चाहे मकानकी, खिलौनेकी, चित्रकी। उसकी बुद्धि, उसकी अन्तरात्मा, उस रचनामें मूर्त्त हो जाती है इसीलिए अपनी रचनासे बड़ा प्रेम, उसपर बड़ा गर्व होता हैं। इस प्रवृत्तिसे काम लेनेका अवसर न पानेसे मनुष्य अपनेको संकुचित, छोटा, अनुभव करता है। बेचारे दरिद्रका अन्तरात्मा नित्य ही संकुचित रहता है, उसको कभी विकसित होनेका अवसर नहीं मिलता। वह पूरा आदमी हो ही नहीं पाता, उसका चरित्र दुर्बल और अविश्वसनीय रहता है। इसको संसारके धनी भी देखते हैं पर वह उसकी परिस्थिति बदलनेका प्रयत्न नहीं करते। उलटे यह कहते हैं कि 'देखो, यह कैसे दुर्बल चरित्रवाले लोग हैं।' उनकी यह घृणामिश्रित हँसी दरिद्रको और धनिकको तथा इसके साथ ही उस समाजको जो इस प्रकारके दो वर्गोंको कायम रखता है, और भी पतित बनाती है। यह हँसी एक दिन भीषण विषादमें परिणत होनेवाली है। जो लोग कोढ़ियोंके बीचमें फूलोंकी सेजपर सोना चाहते हैं वह आज सो लें पर उन्हें कल स्वयं कोढ़ी बननेके लिए तैयार रहना होगा। यह प्रकृतिका अकाट्य नियम है।

इस अध्यायका उद्देश्य दारिद्र्यका वर्णन करना या इस धनाधार युगका निरूपण करना नहीं है, पर जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि अपने

अधिकारकालमें मध्यम वर्गने रुपयेको एकमात्र उपास्य बना लिया है। इस कालके स्वरूपका, जिसको पूँजीवादी काल भी कहते हैं, विवेचन अभी अगले अध्यायमें होगा पर इतना तो स्पष्ट ही है कि जो धन और सम्पत्ति आजकी सभ्यता तथा संस्कृतिका मूल है वह व्यवसायसे अर्थात् पूँजीसे उत्पन्न हुई है। और पूँजी, जैसा कि हम पिछले अध्यायमें दिखला चुके हैं, दूसरोंके शोषणसे, अर्थात् दूसरोंके अतिरिक्त अर्घसे अनुचित लाभ उठानेसे ही उत्पन्न हो सकती है। आजकल सम्पत्तिका आधिक्य है इसलिए शोषणका भी आधिक्य है। चूँकि सारी शक्ति और प्रतिष्ठाका साधन रुपया है इसलिए सब ही उसका संग्रह करनेका प्रयत्न करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस घुड़दौड़में जो जितना आगे बढ़ पाता है, वह दूसरोंके शोषणमें उतना ही अधिक सफल हो सकता है। यह भी स्पष्ट ही है कि किसी समयविशेषमें शोषकोंकी अपेक्षा शोषितोंकी संख्या अधिक होगी। यह भी तथ्य है कि जिन लोगोंके पास किसी भी प्रकारसे कुछ धन हो जाता है उनको इतनी सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं कि निर्धनोंके लिए फिर उनका मुकाबिला करना बहुत कठिन हो जाता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि सम्पत्तिपर पैतृक अधिकार चलता है। अर्थात् धनवान अपने लड़केको अपना रुपया, यानी दूसरोंपर अधिकार प्राप्त करनेका साधन, छोड़ जाता है और दरिद्र अपने लड़केको अपनी दरिद्रता छोड़ जाता है। दूसरे शब्दोंमें, सम्पन्नका नालायक लड़का भी बिना परिश्रमके जन्मतः शोषक बन जाता है, दरिद्र-का लायक लड़का भी हजार परिश्रम करनेपर भी मृत्यु पर्यन्त शोषित ही बना रहता है। इसका परिणाम यह हो गया है कि आजकलका सभ्य जगत् दो दलोंमें विभक्त हो गया है। पहला

दल है शोषकोंका, दूसरा है शोषितोंका; पहला दल है सम्पन्नों-का, दूसरा दरिद्रोंका; पहला दल है धनवानोंका, एक प्रचलित अंग्रेजी नामवलीके अनुसार, (धन) रखनेवालोंका*; दूसरा दल है धनहीनोंका, उसी नामवलीके अनुसार, (धन) न रखनेवालोंका† ।

यह सङ्घर्ष नया नहीं है। जैसा कि हम इस अध्यायके आरम्भमें दिखला आये हैं, वर्गसङ्घर्ष तो सभ्यताका सहोदरप्राय है पर आजकलका वर्गसङ्घर्ष पहलेसे बहुत कटु है। एक तो इसका क्षेत्र बढ़ गया है और इसके स्वरूपमें पहिलेसे कहीं अधिक समता आ गयी है। सभी सभ्यदेशोंमें विभिन्न प्रगतियोंसे परन्तु एक ही प्रकारसे औद्योगिक प्रक्रियाएँ चल रही हैं, एक ही प्रकारके बङ्क और कल कारखाने हैं, सञ्चालनके उपाय, सिद्धान्त और उद्देश्य भी एक ही हैं। आपसकी प्रतियोगिताने शोषणकी प्रवृत्तिको और भी तीव्र बना दिया है। समाचारपत्र अपने हाथमें है, बड़े बड़े विद्वान, कवि, लेखक, पत्रकार और वक्ता खरीदे जा सकते हैं, राजपुरुषों और राजनीतिक दलोंकी नकेल सदैव अपने हाथोंमें रही है इसलिए राजशक्ति बराबर अपनी ओर है; यह भी अच्छी तरह विदित है कि जो इस नीतिके शिकार होते हैं वह भी मनुष्य हैं और उनमें घोर अशान्ति है। इन सब बातोंका परिणाम यह है कि आज शोषक वर्ग बहुत ही सतर्क और सङ्गटित है। आपसमें प्रतियोगिता जरूर है जिसकी वजहसे कभी कभी युद्ध तककी नौबत आ जाती है पर समाचारपत्रोंके पन्ने उलटिये या जेनोवाकी तत्कालीन अन्ताराष्ट्रिय परिषद्‌की कार्रवाई पढ़िये तो यह विदित हो जायगा

---

* Haves. † Have-nots.

कि शोषितोंके सामने यूरोप और अमेरिका, जापान और भारत, सभी देशोंके लक्ष्मीपतियोंका सुसंघटित दल खड़ा है। दूसरी ओर इनके शिकार और बहुसंख्यक शोषित हैं। उनमें कृषक, शरीर और दिमागसे काम करनेवाले मजदूर, और बेकार हैं। इनकी अवस्था सारे सभ्य जगत्में प्रायः एकसी ही है। अभी इनमें इतना सङ्घटन नहीं है पर इतना तो यह भी खूब समझ गये हैं कि इनके हित एक हैं और इनमें भी अन्तार्राष्ट्रीयताका भाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। कार्ल मार्क्सका प्रसिद्ध उपदेश संसारभरके दलितों और शोषितोंका मूलमन्त्र हो गया है—'संसारभरके मजदूर एक हो जाओ; तुमको अपनी दासताकी बेड़ियाँ ही खोनी है और विश्वपर विजय प्राप्त करनी है,'*। ठीक भी है इन शोषितोंके पास है ही क्या ? इस सङ्घर्षमें इनके प्राण चले भी गये तो क्या ? वह तो यों ही सिसक सिसककर निकल रहे हैं। इनकी एकमात्र सम्पत्ति गुलामी है, वही जा सकती है और यदि वह चली गयी तो उसके स्थानमें जगत्का शासन इनका होगा। अभी इन शोषितोंका सङ्घटन स्वभावतः दुर्बल है क्योंकि इनके पास सम्पन्नों जैसे साधन नहीं हैं। परन्तु आज सभ्य जगत् इस विकट विश्वव्यापी वर्ग-सङ्घर्षके कारण दो सशस्त्र सेनाओंमें बँट रहा है।

ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जो इन सेनाओंके बाहर हैं। एक दल शोषण कर रहा है, दूसरा शोषित हो रहा है और दोनोंके हित निरन्तर टकरा रहे हैं। यह ठीक है कि निम्न कोटिके कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो एक प्रकारसे दोनों वर्गोंमें हैं। यह हो सकता

---

*Workers of the world unite; you have a world to gain and only your chains to lose.

है कि किसी मिल या दफ्तरमें १५), २०) मासिकपर काम करने वाला कोई व्यक्ति, जो वस्तुतः शोषितवर्गका है किसी कम्पनीका १०) का एक हिस्सा खरीद ले। इस नाते वह शोषकवर्गमें हो जायगा। पर यह बहुत छोटे और नगण्य अपवाद हैं। यह बात भी नहीं है कि तोपबन्दूककी अल्पकालिक लड़ाईकी भाँति हमको इसका पता चलता रहे। यह तो जीवनका अङ्ग है। सब पूँजीवाले दुष्ट नहीं होते और न वह हठात् मजदूरको क्षति पहुँचाना चाहते हैं परन्तु परिस्थिति उनसे प्रतिक्षण ऐसा ही कराती है। इसी प्रकार सब मजदूर भी प्रत्येक धनिकके जन्मना शत्रु नहीं होते परन्तु परिस्थिति उन्हें इस वर्गका विरोधी बनाकर छोड़ती है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य प्रति क्षण रोगके कीटाणुओंसे लड़ता रहता है पर साधारणतः इसका पता नहीं चलता। कभी कभी जब लड़ाई तीव्र हो जाती है तब वह अपनेको ज्वर या फोड़ा या किसी ऐसे ही रूपमें प्रकट करती है और सभी उसे जान जाते हैं। इसी प्रकार यह वर्गसङ्घर्ष निरन्तर जारी है पर जब कभी यह हड़ताल या मिलबन्दी या दङ्गा या अन्य प्रक्षोभके रूपमें व्यक्त होता है, तब इसका प्रचण्डरूप सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पर जबजब और जहाँजहाँ लगानकी वृद्धि हो रही है और मुनाफा वसूल करनेका प्रयत्न हो रहा है, बच्चे शिक्षासे वञ्चित हो रहे हैं तथा अन्न और औषधके अभावमें तड़पतड़पकर मर रहे हैं, स्त्रियोंको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिए अपना शरीर बेचना पड़ रहा है, स्वस्थ मनुष्य बेकार घूम रहे हैं, तब तब और वहाँ वहाँ निर्विराम और निर्दय भयङ्कर वर्गसङ्घर्ष होरहा है। यह सङ्घर्ष मीठे शब्दोंमें बयान किया जा सकता है, कुछ कालतक शब्दजालके पीछे छिपाया जा सकता है पर मीठे शब्दोंसे उसके अस्तित्वको मिटाया नहीं जा सकता।

यह वर्गसङ्घर्ष जो सहस्राब्दियोंसे चला आ रहा है, अब मानवसमाजके लिए घातक हो रहा है। इसका बढ़ा हुआ क्षेत्र उभय पक्षकी सतर्कता, दोनों ओरका सङ्गठन, दोनों ओरकी जागरित वर्गचेतना* (अर्थात् यह ज्ञान कि हम अमुक वर्गके हैं, हमारे वर्गके यह हित हैं और हमारा विरोधी अमुक वर्ग है, जिससे लड़कर हमें अपना अस्तित्व बनाये रखना है), सङ्घर्ष-साधन—यह सब बातें इसको इतना भयावह बना रही हैं कि यदि शीघ्र इसका अन्त न हुआ तो सभ्यताका ही अन्त होजायगा। समाजवादके जन्मके सहस्रों वर्ष पूर्व इसका जन्म हुआ और इसके अस्तित्वके लिए समाजवादी जवाबदेह नहीं हैं। वह इसे बढ़ाना नहीं चाहते, इसका अन्त करना चाहते हैं। वह इस बातको समझते हैं कि जबतक पृथ्वीकी अर्थनीति पुराने ढङ्गकी रहेगी तबतक वर्गोंका अस्तित्व बना रहेगा और वर्गसङ्घर्ष होता रहेगा। जब उत्पादनके साधनोंपर कुछ थोड़ेसे लोगोंका अधिकार होगा, तो और लोग इस अधिकारसे अगत्या वञ्चित रहेंगे। जिसके हाथमें आर्थिक अधिकार होगा, वही समुदाय समाजका शीर्ष-स्थानीय होगा। जो वञ्चित किया जायगा, वह ऊपर उठना चाहेगा। कुछ काल पाकर उत्पादनके साधनोंमें परिवर्त्तन होगा और दूसरे लोगोंके हाथमें धनबल आयेगा। जब वह उठना चाहेंगे, पुराना अधिकारयुक्त समुदाय इसका विरोध करेगा। इस प्रकार वर्ग और वर्गसङ्घर्षकी अटूट लड़ी कायम रहेगी। इतना ही नहीं अब सङ्घर्ष और भयावह होगा।

समाजवादी यह सब देखता है। वह जानता है कि आज जो अशान्ति देख पड़ती है, उसकी तहमें इस वर्गसङ्घर्षका बहुत

---

* Class consiousness.

चढ़ा हाथ है। पर वह यह भी जानता है कि हाथपर हाथ रख-कर बैठनेसे काम न चलेगा। वह समझता है कि वर्गोंके रहते केवल दया और उदारताका उपदेश देनेसे सङ्घर्ष बन्द नहीं हो सकता। इसलिए वह यह कहता है कि यदि वर्गसङ्घर्ष मिटाना है तो वर्गोंको ही मिटा दो। इसके लिए किसी वर्गके लोगोंको मार डालनेकी आवश्यकता नहीं है। चाहिये यह कि उत्पादनकी सारी सामग्री समाजकी सम्पत्ति हो जाय। ऐसा होनेपर कोई व्यक्ति पूँजी पैदा कर ही न सकेगा। यदि ऐसा हो गया तो कोई व्यक्ति किसीका शोषण करेगा ही नहीं। न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित। जब विरोधी वर्ग ही न होंगे, तो सङ्घर्ष किसमें होगा? सब लोग एक वर्ग—श्रमिक, मजदूर-वर्ग—के होंगे।

एक बात और कहनी है। यदि किसी समाजके जीवनके किसी छोटेसे टुकड़ेको ले लिया जाय तो सम्भव है वर्गसङ्घर्षका पता न लगे पर यदि उसके इतिहासको व्यापक दृष्टिसे देखा जाय, उसके साम्प्रदायिक और राजनीतिक आन्दोलनों, उसके उन्नति, विराम और अवनतिकालोंपर विस्तृत विचार किया जाय तो यह प्रतीत हो जायगा कि वर्ग-सङ्घर्षका सिद्धान्त ही इनमें से बहुत सी गुत्थियोंको सुलझा सकता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि वस्तुतः सभ्यताका विकास वर्ग-सङ्घर्ष नहीं वर्गसहयोगके आधारपर हुआ है। यह कथन सच्चा भी है और झूठा भी। यदि सङ्घर्षका अर्थ मारपीट, हत्या, विद्रोह और सशस्त्र दमन माना जाय तो सङ्घर्ष बहुत कम हुआ है। परन्तु फिर यह भी कहना पड़ेगा कि साम्राज्य भी सहयोगके अधारपर खड़े रहते हैं। भारतवासियोंने कब कब अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोह किया है? १९१७ (सन् १८५७) से १९७८ (सन्

१९२१) तक पूरी शान्ति देख पड़ती थी तो क्या हम यह मानलें कि इस बीचमें भारतका जो शोषण हुआ, भारतमें जो दरिद्रता बढ़ी, देश विदेशमें भारतीयोंका जो अपमान हुआ, वह सब भारतीयोंके सहयोगसे हुआ? यदि सहयोगका अर्थ विरोधाभाव हो, यदि बेबसीके कारण दूसरेकी इच्छाके अनुकूल आचरण करनेका नाम सहयोग है, तो बेशक सहयोग था। हिन्दू समाजकी डोम, भंगी, पासी आदि जातियोंने अपने सहयोगसे ही अपनेको अछूत बना रखा था। यह सब कहना शब्दोंका दुरुपयोग करना है। बुद्धिपूर्वक और इच्छापूर्वक मिलकर काम करना ही सहयोग कहला सकता है। दीन वर्ग—शोषित वर्ग—में बराबर असन्तोष था; कभी कभी वह व्यक्त हो उठता था तब खुला संघर्ष छिड़ जाता था। बहुधा वह दबा, अव्यक्त रहता था।

भविष्यतमें उसको दबा रखना बहुत कठिन होगा। आजकलकी उत्पादनविधिने वर्गचेतनाको जगा दिया है, धनी और निर्धनका भेद छिपाये नहीं छिपता। यदि इसी प्रकार वर्गोंका अस्तित्व बना रहा तो बराबर सङ्घर्ष बना रहेगा। परन्तु यदि सम्पन्न और असम्पन्नमें आज जैसा भेद न रहे, वर्गोंकी आमदनियाँ एक दूसरेके पास आ जायं और साधारणतः सभी की आवश्यकताओंकी भली भाँति पूर्ति हो जाय अर्थात् सबसे कम और सबसे अधिक आयमें आजकी भाँति आकाश पाताल का अन्तर न हो तो सङ्घर्ष दब सकता है और उसकी जगह सहयोग ले सकता है। पर यह तभी होगा जब पूँजी और लाभ पर अङ्कुश लगाया जाय और पैतृक सम्पत्तिके उत्तराधिकार पर भी रोक लगा दी जाय।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजीवाद

यह शब्द 'पूँजीवाद' हमारे देशमें बहुत प्रचलित हो गया है। जिसके पास चार पैसा होता है वही 'पूँजीपति' कहलाने लगता है और धनिकोंका साथ देनेवाला भी पूँजीवादी कहलाता है। 'पूँजीवादी' और 'पूँजीपति' एक प्रकारसे लांछनवाची शब्द हो गये हैं। राजनीतिक कार्य्यकर्ता भी जब आपसमें नाराज होते हैं तो एक दूसरेको पूँजीवादी कहकर परितोष करते हैं।

साधारणतः लोग 'पूँजीवाद' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें करते हैं। एक तो शुद्ध सिद्धान्तके अर्थमें अर्थात् इस सिद्धान्तके लिए कि व्यवसायोंके द्वारा व्यक्तियोंको पूँजी जमा करने और इस पूँजीसे मुनाफा करके और पूँजी इकट्ठी करने दी जाय। दूसरा प्रयोग इस सिद्धान्तके आधारपर स्थित वर्तमान पद्धतिके लिए होता है जिसमें वस्तुतः समूचे व्यवसाय थोड़ेसे पूँजीपतियोंके हाथमें हैं जो पूँजीके बलपर न केवल अर्थनीति वरन् राजनीतिपर भी नियन्त्रण करते हैं। इस दूसरे अर्थमें महाराष्ट्र आदिमें प्रचलित 'पूँजीशाही' शब्दसे काम लेना अच्छा है। हिन्दीमें एक ही शब्दके प्रयुक्त होनेका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेजीमें भी एक ही शब्द* से काम लिया जाता है।

---

* Capitalism.

यह अर्थ तो ठीक ही है पर पूँजीवाद और पूँजीशाहीके स्वरूपको थोड़ा अधिक विस्तारसे समझना आवश्यक है। समाजवाद और पूँजीवादका सङ्घर्ष वर्तमान जगतका एक कटु सत्य है। यदि पूँजीवादका विकास न हुआ होता तो समाजवादका भी उदय न हुआ होता। विना पूँजीवादको समझे समाजवाद भी समझमें नहीं आ सकता। अतः हम इस अध्यायमें पूँजीवादके स्वरूप और उसके अवश्यम्भावी परिणामोंका कुछ वर्णन करेंगे। पूँजीवादका इतिहास स्वतः बड़ा रोचक विषय है और सिद्धान्तपर उसके अध्ययनसे बहुत प्रकाश पड़ता है पर स्थानभावसे हम यहाँ उसका कोई विशेष वर्णन नहीं कर सकते।

पूँजीवादका इतिहास यूरोपका पिछले तीन सौ वर्षोंका इतिहास है वरन यह कहना उचित होगा कि ब्रिटेनका पिछले तीन सौ वर्षोंका इतिहास है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, छोटे छोटे व्यापारी भी इधर उधर पण्योंका हेरफेर करके और साधारण गृहस्थ भी अपना पेट काटकर कुछ पूँजी जमा कर सकते हैं परन्तु जिस पूँजीके विकाससे वर्तमान व्यवसायिक वृद्धि हुई है उसका बहुत बड़ा अंश दूसरे ही साधनोंसे आया है।

ब्रिटेनमें कृषकोंसे बलात् भूमि लेकर उसपर भेड़ें पाली गयीं ताकि उनके ऊनसे ऊनका व्यवसाय किया जाय। कृषकोंकी ओरसे कई बलवे हुए पर उनका दमन किया गया। थोड़ेसे हाथोंमें बहुतसी भूमि आ गयी और इन लोगोंके हाथोंमें ऊनकी बदौलत रुपया भी बहुतसा हो गया। पीछे जब उनका यह व्यवसाय अर्थकर न रह गया तो यही लोग जमींदार हो गये और भूमिपर पुनः कुछ किसान बसाये गये। जिन लोगोंने

सरकार और बड़े बड़े सामन्तोंकी सहायतासे इस प्रकार भूमिपर स्वत्व प्राप्त किया वह नगरोंके रहनेवाले व्यापारी थे। बड़े सामन्तोंने भी इनका अनुकरण किया। इस प्रकार पूँजीकी वृद्धि हुई। इसके साथ ही बहुतसे कृषक खेतोंसे पृथक् होकर बेकार हो गये और रोजीकी तलाशमें आवारागर्दी करने लगे।

उधर स्पेनवालोंने अमेरिका महाद्वीप ढूँढ़ निकाला। धड़ाधड़ उसके आदिम निवासियोंकी लूट आरम्भ होगयी। उनका सञ्चित सोना लुट गया, उनके राज्य नष्ट कर दिये गये और उनका देश छीन लिया गया। स्पेन इस क्षेत्रमें पहले उतरा पर शीघ्र ही पश्चिमी यूरोपके और देश भी उसके प्रबल सपत्न हो गये। ब्रिटेन टापू है। उसके निवासी समुद्रसे खूब परिचित हैं। जहाज चलाना उनके लिए जीवनका प्रधान साधन है। अतः अमेरिकाकी लूटमें पीछे पाँव रखने पर भी वह औरोंसे अच्छे निकले। स्पेनवाले अमेरिकावालोंको लूटते थे, उनसे पीट पीटकर खानोंमें काम कराते थे और अंग्रेज लोग स्पेनवालोंको लूटते थे। इसी समय के लगभग भारतका सामुद्रिक मार्ग भी यूरोपवालोंको मिल गया। अब तक भारतसे अप्रत्यक्ष रूपसे व्यापार होता था। यहाँका माल अरब लोग यूरोप पहुँचाते थे। फिर उसे प्रायः वेनिसवाले उनसे लेकर अन्य राष्ट्रोंके हाथ बेचते थे। अब इन मध्यस्थोंकी आवश्यकता न रही। पश्चिमी यूरोपवाले सीधे यहाँसे व्यापार करने लग गये। इस क्षेत्रमें पहले पुर्तगालवालोंने कदम रखा, उनके पीछे डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज आये, पर अंग्रेज यहाँ भी औरोंसे बाजी मार ले गये। फिर भी एशियाका बहुत-सा भू-खण्ड अब भी डच और फ्रांसीसियोंके पास है।

भारतकी अवस्था अमेरिका जैसी न थी। यहाँ यूरोपवालोंको

बलवान् और सुगठित राजोंका सामना करना पड़ा जिनको वह अमेरिकाकी अर्द्धसभ्य जातियोंकी तरह लूट नहीं सकते थे। यहाँ उपनिवेश बसाना भी सम्भव नहीं था। परन्तु इन लोगोंके सौभाग्यसे यह वह समय था जब कि मुगल साम्राज्य टूट रहा था और उसके स्थानमें कोई दूसरी देशव्यापी संस्था कायम नहीं हुई थी। यदि यूरोपवाले न आये होते तो सम्भवतः एक या अधिकसे अधिक तीन चार प्रबल राज आप ही स्थापित हो जाते। पर ऐसा न हो पाया। यूरोपवालोंके आनेसे ग्रन्थि सुलझनेके स्थानमें और भी उलझ गयी। आपसमें लड़ते हुए देशी नरेशोंने बारी बारीसे इन विदेशियोंसे सहायता लेनी शुरू की। विदेशियोंने भी अवसरसे लाभ उठाकर पहले तो अपनी रक्षाके बहाने फिर इन भारतीय राजोंकी सहायताके नामपर सेनाएँ रखनी शुरू की। कम्पनियोंको देशके शासनमें हस्तक्षेप करनेका अवसर मिला और व्यापारियोंकी कम्पनियाँ स्वतन्त्र नरेशोंके साथ बराबरीकी शर्तोंपर सन्धिविग्रह करने लगीं। जिन जिन प्रदेशोंमें उनके कदम जमे उनका सारा व्यापार भारतियोंके हाथसे निकल गया और जो व्यवसाय और उद्योग-धन्धे उन देशोंसे प्रतियोगिता कर सकते थे वह नष्ट कर दिये गये। कम्पनियोंके विदेशी अहलकार अपने वेतन और भत्तेके ऊपर बहुत बड़ी रकमें रिश्वतमें पाते थे। लौट कर घर जाने पर यह लोग 'नवाब' कहलाते थे। इन नवाबोंके द्वारा तथा कम्पनी-के हिस्सोंसे मुनाफेके रूपमें असंख्य धन भारतसे ब्रिटेन पहुँचाया गया। फ्रांस और हालैण्डने भी कमाया पर ब्रिटेनकी अपेक्षा इनके हाथ कम रुपया लगा। यह मुफ्तकी रकम भी ब्रिटिश व्यापारियों और व्यवसाइयोंके लिए पूँजी हो गयी। न इसके लिए अपना पेट काटना पड़ा, न खर्चमें कमी करनी पड़ी, एक

ऐसी कामधेनु हाथ लग गयी जिसको दूहकर पूँजी पैदा की जा सकती थी।

जिस अपार धनराशिकी इस प्रकार अनायास वर्षा हुई थी उसको कहीं न कहीं पूँजी रूपमें लगना ही था। इसी समय सौभाग्यसे भापसे चलनेवाले एञ्जिन और सूत कातनेकी मशीनका आविष्कार हुआ। फिर क्रमशः और मशीनें बनती गयीं। यह बात नहीं है कि इसके पहले कोई ऐसा विद्वान् नहीं पैदा हुआ था जो ऐसी मशीनें बना सकता। विद्वान् एकसे एक बढ़कर हुए थे और उन्होंने समय समयपर मशीनें बनायी भी थीं। पर वह मशीनें चलीं नहीं क्योंकि परिस्थिति अनुकूल न थी। मशीनोंका चलना तभी सम्भव है जब लोगोंके पास पर्य्याप्त परिमाणमें फालतू पैसा हो जो पूँजीके रूपमें लगाया जा सके। फिर ऐसे बेकार आदमी भी चाहिये जो नौकर बनकर मशीनोंको चलायें। तीसरी चीज बाजार है। ऐसा बाजार चाहिये जिसमें कच्चा माल सस्तेमें मिल सके और बना माल बिना रुकावटके बिक सके। पहले इनमेंसे कोई भी सुयोग न था, अतः जो मशीनें बनीं वह या तो खिलौनेके रूपमें रह गयीं या अहितकर समझकर तोड़ डाली गयीं। अब सभी सुविधाएँ थीं। बाजार थे, बेकार आदमी थे जो मजदूर बननेको तैयार थे और इतना धन पड़ा था जो एक प्रकारसे इस बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि उसका पूँजीके रूपमें उपयोग किया जाय। बस फिर क्या था। पहले ब्रिटेनमें, तत्पश्चात् यूरोपके अन्य देशों तथा अमेरिकामें, कल-कारखानोंकी बाढ़ आ गयी। ज्यों ज्यों इस प्रकार व्यवसायोंकी वृद्धि हुई त्यों त्यों देशकी सूरत बदलती गयी। गाँव और भी उजड़ते गये और बड़े नगरोंकी आबादी बढ़ती गयी। ब्रिटेन छोटा सा देश है, कुछ ही दिनोंमें उसकी

दशा ऐसी हो गयी कि वह सारी दुनियाको मिलोंके बने सामान भेजने लगा पर अपने अन्नके लिए दूसरे देशोंका वशवर्ती हो गया। उधर भारत जैसे कुछ देशोंका यही काम रह गया कि अन्न पैदा करें और जो अपने कामसे बचे, वरन् चाहे अपने लिए पर्याप्त न भी हो, उसे विदेश, मुख्यतः ब्रिटेन, भेजें और हर प्रकारका कच्चा माल अपने यहाँ पैदा करके उसे बाहर भेजें और अधिक रुपया देकर उसी कच्चे मालसे बने पक्के माल, जैसे रुईसे तैयार कपड़ेको, मोल लें। इस प्रकारके व्यवसायसे प्रधान देशोंकी सम्पत्ति और फलतः पूँजी और भी बढ़ती गयी।

इस पूँजीवृद्धिके साधन मजदूरोंकी दशाको भी थोड़ा-सा जान लेना आवश्यक है। इनमें कुछ तो शहरोंके बेकार थे। आरम्भमें कुछ ऐसे भी थे जो मजदूरीकी लालचसे देहातसे आते थे पर बीच बीचमें घर भी चले जाते थे। परन्तु धीरे धीरे इन लोगोंका ग्रामोंसे सम्बन्ध छूट गया। आना जाना बन्द हो गया। खेतीबारी रह नहीं गयी। शहरोंमें ही रहते थे और मज़दूरी करना ही एकमात्र जीवनोपाय था। इनके पास सिवाय अपने शरीरके और कोई सम्पत्ति नहीं थी। यह लोग शुद्ध 'सर्वहारा" थे। इनकी सन्तान ही आजकल कारखानोंको चला रही है और बेकारोंकी संख्या बढ़ा रही है।

शुरू शुरूमें तो इनकी दशा बहुत ही बुरी थी। पुरुषोंकी तो बात ही दूर है, स्त्रियों और नो दस वर्षके बच्चों तकसे बड़ी बेदर्दीसे काम लिया जाता था। खानोंमें जमीनके नीचे लगातार बारह तेरह घण्टे तक काम करना पड़ता था। मजदूरी बहुत कम होती थी और न कोई रहनेका प्रबन्ध था, न औषधोपचारका। सारा प्रयत्न इस बातका था कि इनसे जितना अधिक काम लिया जा सके लिया जाय और फिर चुसे हुए आमकी भाँति

फेंक दिया जाय। न बुढ़ापेके लिए बीमा या पेंशन थी, न चोट लगने पर हर्जाना। कुछ भलेमानसोंने इसके विरुद्ध आवाज भी उठायी पर उनकी किसीने सुनी नहीं। उस समय एक विशेष सिद्धान्त मान्य हो रहा था जिसको 'करने दो' या स्वच्छन्दता'* सिद्धान्त कह सकते हैं। सिद्धान्तके मान्य होनेका एकमात्र कारण यह था कि इसको माननेमें पूँजीपतियोंका फायदा था। इसका निष्कर्ष यह है कि मजदूरके साथ कोई जबर्दस्ती तो की नहीं जाती। उसे कोई पकड़कर कारखानेमें भर्ती नहीं करता। वह जानता है कि यहाँ काम करनेकी यही शर्तें हैं। फिर भी जब वह काम करने आता है तो अपनी इच्छासे आता है। उसको इस अवस्थामें काम करना न पसन्द हो, अपने घर चला जाय। जब मालिक और नौकर दोनों स्वच्छन्द हैं और अपने शौकसे एक विशेष रूपसे काम कर रहे हैं तो फिर कोई दूसरा, सरकार या अन्य व्यक्ति, बीचमें कैसे बोल सकता है?

इस सिद्धान्तके भीतर जो दम्भ भरा हुआ है वह स्पष्ट है। यह कहना शरारत है कि मिल मालिक और मजदूर—धनिक और भूखा—दोनों बराबर हैं। जब भागनेका कोई मार्ग नहीं रहता तो चूहा भी शौकसे ही बिल्लीके मुँहमें जाता है। मजदूरके साथ जबर्दस्ती भले ही न होती रही हो पर वह करता क्या? किस घर चला जाता? वह तो विवश था। जबतक किसी प्रकार पेटकी ज्वाला बुझानेको कुछ मिल जाता था तब तक सब प्रकारकी शर्तोंको माननेके लिए बाध्य था। यह कहना कि वह किसी भी दृष्टिसे स्वच्छन्द था उपहास करना था।

मजदूरकी अवस्थामें अब भी कोई मौलिक परिवर्तन नहीं

---

* Laissez-faire.

हुआ है। वह अब भी गुलाम है। अब भी उसके मालिकोंका लक्ष्य यही है कि अधिकसे अधिक काम लिया जाय और कम-से कम मजदूरी दी जाय। जैसा कि किसीने कहा है, मजदूरके सारे जीवनका निचोड़ इन शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है, "हम काम करने जाते हैं ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल लें ताकि शरीरमें बल आये ताकि हम काम करने जायँ ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल लें......इत्यादि" मजदूर इसलिए काम नहीं करता कि वह उसे अपना काम समझता है या उसे उसमें रस आता है वरन् इसलिए कि उसका वह एकमात्र जीवनोपाय है।

फिर भी पहलेसे दशा अच्छी है। कामके घण्टे कम हुए हैं, स्त्रियों और बच्चोंसे वैसा और उतना काम नहीं लिया जाता, मजदूरी भी कुछ अधिक मिलती है, काम करते करते चोट लग जाने पर हर्जाना मिलता है, अधिकतर सभ्य देशोंमें बुढ़ापे और मृत्युके लिए बीमेका भी प्रबन्ध है। अब 'स्वच्छन्दता' नीति खुलकर नहीं बरती जाती। ऐसा मान लिया गया है कि समाजका यह कर्तव्य है कि इस विषयमें आवश्यक हस्तक्षेप करे। इसीलिए यद्यपि कानून बनानेवाली संस्थाओं और सरकारों-पर पूँजीपतियोंका अब भी प्रबल प्रभाव है फिर भी धीरे धीरे कई ऐसे कानून बन गये हैं जिनसे मजदूरोंकी परिस्थिति कुछ सुधरी है। पूँजीपतियोंने कुछ तो लोकमतसे दबकर इन कानूनोंको को बनने दिया है, कुछ आपसकी प्रतियोगिताके कारण। एक पूँजीपति यह नहीं चाहता कि दूसरा अपने मजदूरोंसे अधिक काम लेकर या उनको कम मजदूरी देकर मुझसे अधिक मुनाफा करे अतः यह लोग चाहते हैं कि यथासम्भव सबके लिए एकसे नियम बन जायँ।

पर जिस लोकमतके जागनेसे यह सब सम्भव हुआ है उसके पीछे मजदूर वर्ग की तपस्या है। पहिले प्रत्येक मजदूर अलग था, धीरे धीरे मजदूरोंने मिलकर काम करना, मजदूर-सभा या श्रमिक-संघ बनाना, सीखा। मालिकोंको यह बात नापसन्द थी, अब भी नापसन्द है। वह जानते हैं कि संघसे शक्ति बढ़ती है। पदे पदे इन संघोंका विरोध किया गया। बहुधा मालिकोंने संघोंके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही इनकार किया। न संघके पदाधिकारियोंसे बातचीतकी जाती थी न उनके किसी पत्रका उत्तर दिया जाता था। कानूनके द्वारा भाँति भाँतिकी रुकावटें डाली गयीं। यदि संघ बनें भी तो वह क्या क्या काम करें उसके लिए कड़े बन्धन बनाये गये। जर्मनीकी हिटलरशाही सरकारने तो मजदूर-संघ तोड़कर उनके लाखों रुपये जब्त कर लिये। इटलीमें भी मजदूर-संघ तोड़ दिये गये। हड़ताल और कामबन्दी, मिल-मालिकों और पुलिसके डण्डों तथा गोलियोंका निरन्तर सामना करते हुए भी मजदूर आज पहिलेसे मजबूत हैं और उनकी संस्थाएँ एकदेशीय नहीं वरन् अन्ताराष्ट्रिय हैं। मजदूरोंकी संघटित शक्ति क्या कर सकती है इसका उदाहरण रूस है और उससे प्रत्येक देशका श्रमिक समुदाय प्रोत्साहन प्राप्त करता है।

अस्तु, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है यूरोपके व्यवसाइयों के हाथ एक प्रकारसे अनायास ही बहुत-सा रुपया लगा जिसको पूँजी बनाकर इन्होंने अपने व्यवसायको खूब बढ़ाया। कोयला और लोहा यूरोपके कई प्रदेशोंमें होता है, ब्रिटेनमें तो खूब ही होता है। इससे मशीनों द्वारा व्यवसायको बढ़ानेमें कोई कठिनाई नहीं हुई।

परन्तु इस पूँजीशाही प्रगतिके मार्गमें कई अड़चनें हैं। यह अड़चनें ऐसी हैं कि इनको दूर करनेका कोई उपाय नहीं देख पड़ता। यह पूँजीशाहीके साथ छायाके समान लगी हुई हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्त करके ही छोड़ेंगी। इसीलिए इनको पूँजीवादके स्वगत उच्छेदक* कहते हैं। यह पूँजीवाद और पूँजीशाहीका उच्छेद करते हैं परन्तु मेहँदीकी लालीकी भाँति पूँजीवादसे पृथक् नहीं किये जा सकते। हम यहाँ संक्षेपमें इनमेंसे कुछकी आलोचना करेंगे।

प्रत्येक पूँजीपति यही चाहता है कि मैं वस्तुओंको तैयार करता जाऊँ और दूसरे लोग मुझसे मोल लेते जायँ। मशीनसे थोड़ा माल तैयार करनेसे कोई लाभ नहीं होता। मशीन तो थोक तैयार करनेके लिए है। परन्तु एक ही पूँजीपति तो है नहीं, न एक ही कारखानेदार है। ऐसे कई व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय अर्थात् कम्पनियाँ होती हैं। पहले पहले तो बाजार बड़ा होता है, मालकी माँग अधिक होती है और सबको पर्य्याप्त मुनाफा होता है। पर मशीनें तो सबके पास हैं और सभी अधिकसे अधिक माल तैयार कर रहे हैं, नहीं तो मशीन बेकार रहे और घाटा पड़े। परिणाम यह होता है कि माल बहुत तैयार हो जाता है। इस अवस्थामें दो ही बातें सम्भव हैं। यदि मालकी मात्रा कम की जाय तब उतना मुनाफा हो सकता है, नहीं तो मूल्य कम मिलेगा। पूँजीपति परोपकार बुद्धिसे तो व्यवसाय करता नहीं। उसका उद्देश्य रुपया कमाना है, लोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करना नहीं। अतः अपने मुनाफेके लिए वह तैयार मालको नष्ट कर देता है। कई बार कहवा और सेब समुद्रमें फेंक दिये गये, गेहूँ भट्ठोंमें डालकर जलाया गया। यह

---

* Inner Contradctions.

इसलिए नहीं कि पृथ्वीपर कोई भूखा न था वरन् इसलिए कि माल कम होगा तो उसका दाम अधिक मिलेगा। अमेरिकामें रुईके खेत जला दिये गये या बे-बोये छोड़ दिये गये। इसका यह कारण नहीं था कि अब नंगे नहीं रहे और रुईकी आवश्यकता नहीं है वरन् इसलिए कि रुई कम पैदा होगी तो सूतका भाव चढ़ेगा और पूँजीवालोंको कपड़ेका अधिक मूल्य मिलेगा।

परन्तु इन युक्तियोंसे काम नहीं चलता। मालको नष्ट करके जो मुनाफा होता है वह तो सबके लिए एकसा होता है। अतः आपसकी प्रतिस्पर्द्धाके कारण इस बातकी चिन्ता होती है कि कोई ऐसी युक्ति निकाली जाय जिससे खर्च हमारा कम पड़े और मूल्य हम दूसरोंके बराबर लें। ऐसा होनेसे मुनाफा अधिक होगा। प्रत्येक पूँजीपति दूसरे पूँजीपतियोंको जो उसी व्यवसायको करते हैं इस प्रकार गिराना चाहता है। इसका एक उपाय तो यह है कि कच्चा माल सस्ते बाजारमें खरीदा जाय। विभिन्न देशके व्यवसायी इसके लिए जो प्रयत्न करते हैं उसका उल्लेख अगले अध्यायमें होगा। परन्तु एक ही देशके दो व्यवसायी इस प्रकार एक दूसरेको नहीं दबा सकते। यह हो सकता है कि कपड़ेका जापानी कारखानेदार अंग्रेजी कारखानेदारसे सस्ते भावमें रुई पा जाय पर जहाँसे एक जापानी कारखानेदार मोल लेगा वहाँसे दूसरा भी ले सकता है। अतः एक देशके भीतर इस उपायसे काम नहीं निकल सकता। दूसरा उपाय यह है कि श्रमिकोंसे काम अधिक लिया जाय पर यह भी एक देशके भीतर नहीं चल सकता। यह हो सकता है कि एक देशमें मजदूरोंसे दिनमें आठ घण्टे काम लेनेका दस्तूर हो और दूसरे देशमें दस घण्टे काम लेनेका पर किसी भी देशविशेषमें सभी व्यवसायियोंके लिए एक ही नियम लागू होगा, अतः

तीसरे उपायका अवलम्बन करना पड़ता है। इसका लक्ष्य यह है कि काम उतना ही हो पर मजदूर कम लगें। यही उपाय आजकल चल रहा है। इसको बौद्धिक संयमन* कहते हैं। यह दो प्रकारसे किया जाता है। कुछ तो छानबीन करके फालतू आदमी चाहे वह दफ्तरमें हों चाहे मशीनोंपर, पृथक् कर दिये जाते हैं। पर यह बहुत छोटी सी बात है। मूल प्रयत्न यह होता है कि अपने पास ऐसी मशीन हो जिसमें मनुष्य कम लगें। लाखों रुपये खर्च करके मशीनोंमें ऐसा उलट फेर, ऐसी उन्नति, की जाती है कि जहाँ दस मजदूर लगते थे वहाँ पाँच ही लगें। बराबर संयमन जारी है और एक व्यवसायीकी नकल दूसरा करता है; क्योंकि जो इस मैदानमें पीछे रह जायगा उसका माल महँगा पड़ेगा और उसका मुनाफा कम हो जायगा। सभी देशों, सभी व्यवसायोंमें इसकी धूम है।

परन्तु अब एक तमाशा होता है। संयमनके फलस्वरूप लाखों मनुष्य बेकार हो जाते हैं। यह लोग या तो हाथपर हाथ धरकर भूखों मरें या भीख मागें या सरकार प्रजापर टैक्स लगा कर इनका पेट भरे, जैसा कि, उदाहरणके लिए, ब्रिटेनमें होता है। पर इन तीनोंमेंसे कोई भी बात हो, इन लाखों आदमियों-की क्रयशक्ति—माल खरीदनेकी शक्ति—तो नष्ट हो ही जाती है, सारे समाजकी क्रयशक्ति कम हो जाती है, क्योंकि एक बड़ी रकम किसी न किसी रूपमें इन लोगोंके भरण पोषणमें खर्च होती है। यह समस्या पूँजीपतियोंके सामने आये दिन खड़ी रहती है। एक ओर तो माल इतना तैयार हो जाता है कि

---

* Rationalization.

माँग होते हुए भी कम मुनाफेके भयसे उसे सबका सब बेचा नहीं जा सकता, दूसरी ओर लाखों मनुष्योंको बेकार करना पड़ता है और जो लोग ग्राहक हो सकते हैं उनकी क्रयशक्ति कम करनी पड़ती है, यहाँतक कि माल पड़ा रहता है पर आवश्यकता होनेपर भी वह उसे नहीं मोल ले सकते। यह पूँजीवादका एक भीषण स्वगत उच्छेदक है। पूँजीशाहीका इतिहास ऐसे संकटोंके*वर्णनसे भरा पड़ा है। किसी प्रकार लीपापोती करके या किसी युद्धकी सहायतासे पूँजीपति एक सङ्कटको पार नहीं कर पाते कि दूसरा सङ्कट आ उपस्थित होता है। यह समझमें नहीं आता कि पूँजीपतियोंकी पारपरिक होड़के रहते संकटोंकी शृङ्खला कैसे टूट सकती है। यह भी समझमें नहीं आता कि पूँजीशाही पद्धतिके रहते पूँजीपतियोंकी आपसकी होड़ कैसे बन्द हो जायगी। यह प्रतिस्पर्द्धा तो स्वाभाविक ही है। जब मुनाफेके लिए व्यवसाय किया जायगा तो अधिक मुनाफेकी इच्छा रखना बुरा नहीं कहा जा सकता। पर इस सारी कथामें खराबीकी बात यह है कि यह सङ्कट केवल थोड़ेसे पूँजीपतियोंपर नहीं पड़ते। जब लाखों श्रमिक बेकार होते हैं तो उनके कुटुम्बियोंको मिलाकर जनताके एक बड़े अंशको भाँति भाँतिकी विपत्ति सहनी पड़ती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समूचे देशको कई प्रकारकी क्षति उठानी पड़ती है। आर्थिक कष्ट तो होता ही है, स्वास्थ्य गिर जाता है, चारित्र्यपतन होता है, संस्कृतिकी मर्यादा पीछे हट जाती है। अतः यह पूँजीपतियोंका घरेलू प्रश्न नहीं सारे जनसमुदायके हिताहितका प्रश्न है।

---

* Crisis.

एक और अड़चन है। पूँजीवादका व्यष्टिवाद * और राष्ट्र-वादसे † गहरा सम्बन्ध है। व्यष्टिवादसे तो इसलिए सम्बन्ध है कि पूँजीवाद व्यक्तिकी स्वच्छन्दता और स्वार्थ बुद्धिके सहारे टिका हुआ है। प्रत्येक देशमें प्रत्येक पूँजीपति चाहता है कि मैं देशके सारे व्यावसायिक जीवनका एकमात्र अधिष्ठाता बन जाऊँ। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियोंको खा जाते हैं। बड़ोंका मुकाबला छोटे नहीं कर सकते। धीरे धीरे थोड़ेसे हाथोंमें देशका सारा व्यवसाय आ जाता है। थोड़ेसे लोगोंका स्वार्थ बहुतोंके स्वार्थको कुचल देता है। यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। भारतका औद्योगिक जीवन अभी चार दिनका है पर अभीसे थोड़ेसे लोगोंने इसपर कब्जा कर लिया है। कल कारखाने सैकड़ों हैं पर उनपर किसी न किसी प्रकारका नियन्त्रण थोड़ी-सी कम्प-नियोंका है। नामको वह कारखाने स्वतन्त्र हैं पर उनकी पूँजीमें इन बड़ी कम्पनियोंने इतना हिस्सा ले रखा है कि वह सर्वथा इनके पंजेमें हैं। 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के एक अङ्कमें इस विषयपर श्री अशोक मेहताका एक लेख था। उसमें एक तालिका दी थी जिसका छोटा रूप इस प्रकार है—

कम्पनीका नाम	कितने कारखाने उसके नियन्त्रणमें हैं ‡
एण्ड्र्यूल ऐण्ड कम्पनी	५४
डङ्कन ब्रदर्स	२५
मार्टिन ऐण्ड कम्पनी	२६
आक्टेवियस स्टील	२४

* Individualism. † Nationalism.

‡ यह सब पुराने आँकड़े हैं। युद्धकालमें नये आँकड़ोंका मिलना सुकर नहीं है।

कम्पनीका नाम	कितने कारखाने उसके नियन्त्रणमें हैं।
बर्ड ऐण्ड कम्पनी	२०
जिलैण्डर्स आर्बटनाट	१८
बेग डनलप	१७
मैक्ल्यूड ऐण्ड कम्पनी	१७
टाटा संस ऐण्ड कम्पनी	१३
बामर लारी ऐण्ड कम्पनी	८

भारतके लगभग ४०० बड़े कल कारखाने लगभग ३० बड़ी कम्पनियोंके नियन्त्रणमें हैं। इन ३० मेंसे २७की पूँजी १ करोड़से अधिक है और इनमेंसे ६७ की ५ करोड़ से ऊपर है। अकेले टाटा कम्पनीके नियन्त्रणमें लगभग ३० करोड़ रुपयेकी पूँजी है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे महापूँजीधरोंके सामने छोटे व्यवसायी नहीं ठहर सकते। पर इनको इतनेसे परितोष नहीं है। जो यों ही बलवान हैं वह बलवत्तर बन रहे हैं। बड़ी बड़ी कम्पनियाँ एकमें मिल रही हैं। ऐसे सम्मिलनसे जो संस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें 'ट्रस्ट' या 'कम्बाइन' कहते हैं। उदाहरणके लिए बर्न ऐण्ड कम्पनी जिसकी अपनी पूँजी ३ करोड़ १२ लाख है, मार्टिन ऐण्ड कम्पनीसे मिल गयी है। इसका परिणाम यह है कि सभी देशों में थोड़ेसे व्यक्तियों, अर्थात् इन बड़े ट्रस्टोंके सञ्चालकोंके हाथमें देशके सारे औद्योगिक और व्यावसायिक जीवनकी बागडोर चली जाती है। कपड़ा, बिजली, शक्कर, जहाज, रेल, कोयला, महाजनी—ऐसा कोई व्यवसाय नहीं है जो इनके हाथमें न हो। पूँजीशाही प्रत्येक राष्ट्रको व्यावसायिक एकाधिकारकी ओर ले जा रही है।

यह बात यहीं समाप्त नहीं होती। आरम्भमें पूँजीवाद और राष्ट्रवादका भी सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक राष्ट्रके पूँजीपति अपना भला चाहते हैं फलतः उनसे दूसरे राष्ट्रोंके पूँजीपतियोंसे होड़ रहती है। इसका जो परिणाम होता है उसपर अगले अध्यायमें विचार होगा। यह प्रतिद्वन्द्विता अब भी जारी है पर इसके साथ साथ एक दूसरी प्रवृत्ति भी देख पड़ रही है। पूँजीशाही अब राष्ट्रीयताको छोड़कर अन्ताराष्ट्रियताकी ओर झुक रही है। प्रत्येक देशमें तो बड़ी कम्पनियाँ और बड़े ट्रस्ट हैं ही, अब एक देशके ट्रस्ट दूसरे देशके ट्रस्टोंसे मिल रहे हैं। भारतमें व्यवसाय करनेवाली बामर लारी ऐण्ड कम्पनी जिसकी पूँजी १ करोड़ १५ लाख है लन्दनकी अलेग्जेण्डर लारी ऐण्ड कम्पनी द्वारा नियन्त्रित है। ऐण्ड्रयू यूल ऐण्ड कम्पनी जो ५४ कारखानोंपर नियन्त्रण करती है, लन्दनकी यूल कैटो ऐण्ड कम्पनीसे सम्बद्ध है। भला भारत तो परतन्त्र देश है, यहाँ की विदेशी कम्पनियोंका ब्रिटिश कम्पनियोंसे सम्बद्ध होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर यही लीला सर्वत्र व्यापक है। स्वदेश विदेशका विचार छोड़कर बड़े बड़े ट्रस्ट मिल रहे हैं, और अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्टोंकी सृष्टि कर रहे हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त है। आज रूस और दो एक अन्य देशोंको छोड़कर सारी पृथ्वी भरमें मिट्टीके तेलका व्यवसाय स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी और रॉयल डच कम्पनीके हाथमें है। यह दोनों ही अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्ट हैं और छोटी बड़ी कई सौ, स्यात् कई हजार कम्पनियोंका नियन्त्रण करते हैं। अभी तो इनमें आपसमें प्रतिस्पर्द्धा है इसलिए कुछ रक्षा हो रही है पर यदि यह दोनों मिल जायँ तो बेचारे ग्राहकको कौन बचायेगा। गरीब या अमीर जिसके घर एक पैसेका भी मिट्टीका तेल जलता होगा वह इनकी मुट्ठीमें रहेगा। मँह-

माँगा दाव लेंगे । प्राचीन कालमें कभी कभी कोई राजा किसी व्यापारीको अपने राज्यमें किसी वस्तुके बेचनेका एकाधिकार दे दिया करता था पर पूँजीशाहीका दिया हुआ यह एकाधिकार उससे कहीं व्यापक और भयङ्कर है । यह स्मरण रखनेकी बात है कि इन ट्रस्टोंका जन्म चाहे किसी उद्योग-विशेषसे हुआ हो पर इनकी विपुल पूँजी एक ही उद्योगमें बँधी नहीं रह सकती । वह धीरे धीरे सभी व्यवसायोंको अपने घेरेमें लानेका प्रयत्न करेगी और जो उसका मुकाबिला करेंगे उनको कुचल डालेगी । इन महाट्रस्टोंकी बात तो जाने दीजिये, भारतमें एंड्रयू यूल एण्डको इतने प्रकारके व्यवसायोंपर नियन्त्रण करती है—

पटुआ	चाय	कोयला	यातायात	शक्कर	बंक	विभिन्न—कुल जोड़
११	१५	१३	२	१	१	११ = ५४

किसी एक देशके लिए भी यह सोचनेकी बात हो सकती है कि वह कोयला, लोहा, यातायात जैसे मूल उद्योगोंको थोड़ेसे लाभ-लोलुप व्यक्तियोंको सौंपकर अपनेको उनका दास बना देगा। पर यदि थोड़ेसे मनुष्य, जिनका एक मात्र उद्देश्य अपना लाभ है, पृथ्वी भरके मुख्य मुख्य व्यवसायोंपर नियन्त्रण प्राप्त करके अन्ताराष्ट्रिय जगत्को अपना गुलाम बना सकें तो यह तो बड़ी ही शोचनीय अवस्था होगी। लोग इस भयको देख रहे हैं और पूँजीवादके इस विकासको, जिसमें वह व्यष्टिवादसे अन्ताराष्ट्रिय एकाधिकारकी ओर बढ़ रहा है, सशंक दृष्टिसे देख रहे हैं । बड़ी बड़ी सरकारें इन प्रबल ट्रस्टोंसे घबराती हैं । अमेरिकामें किसी किसी राष्ट्रपतिने इनसे टक्कर लेनी चाही पर यह ज्योंके त्यों बने हुए हैं; इनका बल टूटा नहीं । यह भी पूँजीशाही और पूँजीवादका एक स्वगत उच्छेदक है ।

इसका राजनीतिपर विचित्र परिणाम होगा। जबतक पूँजी-शाही राष्ट्रीय सीमाओंके भीतर आबद्ध है, तबतक तो एक राष्ट्रके पूँजीपति अपना प्रभाव लगाकर उस राष्ट्रको अपने स्वार्थके लिए कभी कभी दूसरे राष्ट्रसे लड़ानेका प्रयत्न करते हैं पर अब तो अन्तारा‍ष्ट्रिय गुट अपने स्वार्थके लिए राष्ट्रोंको लड़ा देंगे। इन अन्तारा‍ष्ट्रिय पूँजीपति गुटोंमें सभी देशोंके पूँजीपति होंगे। युद्ध होनेसे तेल, लोहा, हथियार आदिकी बिक्री अधिक होगी, मुनाफा खूब होगा। अपने रुपयेका पूरा जोर लगाकर यह लोग राष्ट्रोंको लड़ायँगे। व्यर्थ लाखों मरें-कटेंगे पर कोई जीते कोई हारे इनको मुनाफा मिलेगा। मुनाफा लेनेवालोंमें विजित और विजेता, दोनों देशोंके पूँजीपति होंगे। बड़ी कम्पनियोंकी ऐसी करतूतोंका इस लड़ाईमें सप्रमाण भण्डाफोड़ हुआ है।

कथा यहीं नहीं समाप्त होती। एक और प्रबल उच्छेदक है जो पूँजीवादकी जड़ खोद रहा है, इसका कटु अनुभव सभी बड़े पूँजीवादी देशोंको हो रहा है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण ब्रिटेन और भारतके सम्बन्धसे मिल सकता है। जैसा कि हमने देखा है भारतके पुराने उद्योग तो प्रायः सब नष्ट हो गये। कुछ कोरी-जुलाहे कपड़ा भले ही तैयार कर लें पर सूत वह भी विदेशी ही लगाते थे। महाजनी और दूकानदारी तो रह गयी पर कोई ऐसा व्यवसाय नहीं रह गया जिससे प्रचुर मात्रामें पण्य उत्पन्न होते। परन्तु ब्रिटेनके कुछ पूँजीपतियोंने देखा कि भारतमें मजदूरी सस्ती है। यदि भारतमें कारखाने खोले जायँ तो ढलाईका खर्च भी बच जाय और माल सस्ता पड़नेसे खूब बिके। अतः कुछ अंग्रेजोंने भारतमें कपड़ेके कारखाने खोले। यह बात ब्रिटेनके कारखानेदारोंको खली। अतः आपसमें सङ्घर्ष शुरू हुआ। एक ही घर, ब्रिटिश पूँजीशाही, में

कलह उत्पन्न हो गया। जो कारखाने भारतमें खुले उनके तथा रेलवे आदिके लिए भारतमें एञ्जिनियर और कल कारखानोंकी देख रेख करने तथा मशीनोंकी मरम्मत और उनके कल-पुर्जोंको बना लेनेके योग्य शिल्पी भी तैयार हो गये। यह सब बातें ब्रिटेनके हितके विरुद्ध थीं। ऐसे ही हित-संघर्षके फलस्वरूप ब्रिटेनके हाथसे अमेरिका निकला था। अमेरिकन उपनिवेशके निवासियोंने जब देखा कि उनकी पितृभूमि ब्रिटेन, अपने आर्थिक स्वार्थके लिए उनको दबाना चाहती है तो वह लड़कर स्वतंत्र ही हो गये।

इधर बीचकी दलालीकी बदौलत बहुतसे भारतीयोंके पास भी रुपया हो गया था। कच्चे माल, जैसे रुई या अन्नको गाँव गाँवसे बटोरकर अंग्रेज व्यापारियोंके हाथों बेचनेवाले भारतीय आढ़तिये ही थे। इसी प्रकार अंग्रेज व्यापारियोंसे तैयार माल जैसे कपड़ा, थोक मोल लेकर गाँव गाँव भेजनेवाले भी भारतीय ही थे। रेल इत्यादिके बड़े अहलकार भले ही अंग्रेज हों पर ठेकेदार भारतीय होते थे। ऐसे लोगोंके पास रुपया जमा हो जाना स्वाभाविक था और यह लोग उसे पूँजीके रूपमें कहीं लगाना चाहते थे। इसका सुयोग मिल गया। ब्रिटेनमें जो कारखाने मशीनोंको बनाते थे उनको ग्राहक चाहिये थे। उनके सारे मालकी खपत ब्रिटेनमें ही तो हो नहीं सकती थी। अतः उन्होंने इन भारतीय रुपयेवालोंके हाथ मशीनें बेचनी शुरू की। फलतः भारतीयोंने भी कपड़ेके कारखाने खोले। अंग्रेज सरकारने जब अंग्रेजोंको भारतमें कपड़ेकी मिलें खोलने दीं तो भारतीयोंको किस मुँहसे रोकती? अनेक कठिनाइयोंका सामना करके भी इस व्यवसायमें पर्याप्त मुनाफा हुआ और कपड़े की मिलोंकी संख्या बढ़ती ही गयी। जिस किसी प्रान्तमें रुई

पैदा होती है या सुभीतेसे पहुँच सकती हैं वहीं सूत कातने या कपड़ा बनानेकी मिलें हैं। इससे ब्रिटेनके वस्त्र व्यवसायको बड़ा धक्का पहुँचा है। पर भारतीयोंने केवल कपड़ेके व्यवसायमें ही हाथ नहीं डाला है। धीरे धीरे चाय, कोयला, दियासलाई, चूड़ी, शीशा ऐसे कई रोजगारोंमें भारतियोंका काफी हाथ है। लोहेमें तो टाटाने एक प्रकारका एकाधिकारसा प्राप्त कर लिया है। अबतक जहाज चलानेवाली कम्पनियाँ भी कई हो गयी होतीं और दूर देशोंतक न सही पर भारतके तटपर एक स्थान से दूसरे स्थानतक यात्रा और माल ले जानेका व्यवसाय तो पूरा ही भारतीय हाथोंमें आ गया होता पर सरकारने ऐसा होने न दिया। फिर भी ज्यों ज्यों भारतके पूँजीपति बलवान् होते जाते हैं त्यों त्यों सरकारको भी उनसे दबना पड़ता है और ब्रिटिश पूँजीपतियोंको जो अबतक भारतको अपनी आखेटभूमि समझते थे इनके साथ समझौता करना पड़ता है। आजकल अंग्रेज और भारतीय व्यवसाइयोंमें फिर बातचीत चल रही है। भारतीय व्यवसायी भारतमें तो अपना माल बेचते ही हैं, थोड़ा बहुत माल विदेशोंमें भी बेचते हैं और इस प्रकार भी अंग्रेज व्यवसायियोंको हानि पहुँचाते हैं।

यह सब इसीलिए हुआ कि पूँजीशाहीके भीतर घुनकी भाँति एक उच्छेदक लगा हुआ है। कपड़ेका व्यवसायी भी पूँजीपति है, मशीन बनानेवाला भी पूँजीपति है। दोनों ब्रिटिश व्यसायकी उन्नति चाहते हैं और अपना मुनाफा चाहते हैं। पर एकका हित दूसरेके हितका विरोधी है। जहाँ मशीन बिकती है वहाँ कपड़ेवालेकी जड़ कटती है पर मशीन वाला बिना मशीन बेचे रह नहीं सकता। अतः पूँजीशाही अपना शत्रु आप ही पैदा करती है। एक भारतमें ही नहीं सारी

पृथ्वी पर पूँजीशाही अपने हाथों अपना शिरच्छेद करती जाती है।

पर पूँजीशाही भिन्न भिन्न प्रकारके माल बेचकर ही अपना गला नहीं घोटती। उसकी पूँजी भी उसके लिए घातक हो जाती है। कारखानेवाले माल तो बेचते ही हैं, बड़े बड़े पूँजीपति विशेषतः महाजन और बैंकर दूसरे देशोंमें अपना रुपया लगाकर वहाँ के ही व्यवसायियोंकी सहायता करते हैं। भारतमें ही अंग्रेजोंका इस प्रकार करोड़ों रुपया लगा हुआ है। दूसरे बहुतसे उदाहरण हैं। चीन, तुर्की, कई देशोंमें ऐसा हुआ है। कल-कारखाने उसी देशवाले खोलते हैं, वही चलाते हैं पर पूँजीका बहुत बड़ा भाग विदेशी लगाते हैं। नामको यह व्यवसाय स्वदेशी होते हैं पर इनके मुनाफेसे बहुतसा रुपया प्रतिवर्ष ब्याजके रूपमें बाहर चला जाता है। अस्तु, यह तो होता है पर इसके साथ ही धीरे धीरे इन देशोंका व्यवसाय सुदृढ़ होता जाता है और यह अपने पाँवपर खड़े होने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यह उन देशोंसे जिनसे पहले माल मँगाते थे, माल मँगाना बन्द कर देते हैं। रुपयेवाले रुपया घरपर रख नहीं सकते इसलिए उसे ऐसे देशोंमें लगाते हैं जिनके पास स्वयं रुपया नहीं है परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने देशके व्यवसायके लिए प्रतियोगी खड़ा कर देते हैं और इस प्रकार अपनी पूँजीके सोतेको सुखानेका भी आप ही आयोजन कर लेते हैं। ब्रिटेन और अमेरिकाको इसका अनुभव है। जहाँ पूँजी लगाते हैं वहाँ किसी न किसी युक्तिसे अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपका राजनीतिक अधिकार रखनेका प्रयत्न किया जाता है ताकि रुपया डूब न जाय पर इसका निश्चय नहीं हो सकता। युद्ध या अन्य किसी राजनीतिक उथलपुथलके

द्वारा ऐसे दबे हुए देश हाथसे निकल जाते हैं और अपने देशके व्यवसायको क्षति तो पहुँचती ही है, रुपया भी डूब जाता है।

यह बातें पूँजीवादके साथ जन्मसे ही लगी हुई हैं। जब मुनाफा होगा तो पूँजी बढ़ेगी और उसे कहीं न कहीं लगाना पड़ेगा। जो देश अपने अधीन हैं उनमें तो अपनी ओरसे भी कल कारखाने खोले जा सकते हैं पर स्वतन्त्र देशोंमें रुपया लगाना ही सुकर होता है। इन दोनोंमेंसे कोई भी बात की जाय, अन्तमें अपना ही नुकसान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीशाही जिधर पाँव बढ़ाती है उधर ही वह अपने गिरनेका आयोजन करती है।

पूँजीशाहीके और भी एकाध दोष विचारणीय हैं। पूँजीवादके अनुसार यह आवश्यक है कि देशकी खानोंपर पूँजीपतियोंका अधिकार रहे। वही खानोंमेंसे कोयला, तेल, लोहा, ताँबा आदि सामग्री निकालें और वही उसे कच्चे रूपमें या उससे दूसरी चीजें बनाकर बेचें। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि खनिज पदार्थ मूली बैंगनकी भाँति प्रतिवर्ष नहीं पैदा होते। जिस देशमें जितना कुछ खनिज है उतना ही है। अतः उसकी रक्षा होनी चाहिये नहीं तो थोड़े दिनोंमें खत्म हो जायगा और बादमें आनेवालोंको कुछ न मिलेगा। पर यह रक्षा पूँजीपति नहीं कर सकता। उसको तो मुनाफा चाहिये, आजसे पचास सौ वर्ष पीछे जो लोग पैदा होंगे वह क्या करेंगे, इससे उसका कोई सरोकार नहीं है। वह चाहेगा कि खानोंको यथासम्भव खाली कर डाले। यह बड़ा भारी भयस्थल है। यह शङ्का काल्पनिक नहीं है। अभी कुछ ही वर्ष हुए अमेरिकामें इसका एक रूप देखा जा चुका है। वहाँ तेलकी कुछ खानें इसलिए

सुरक्षित थीं कि यदि राष्ट्रपर कोई विपत्ति पड़े तो नौ-सेनाके लिए उनमेंसे तेल निकाला जाय। यों उनमेंसे तेल निकालनेका ठेका किसीको नहीं दिया जाता था। पर कुछ पूँजीपतियोंने लाखों रुपया रिश्वतमें खर्च करके उनपर कब्जा प्राप्त कर लिया। अकस्मात् भेद खुल गया और उनके हाथोंसे खानें निकल गयीं। उनमेंसे कुछको जुर्माना देना पड़ा, कुछ सरकारी अहलकारोंको दण्ड मिला, पर इससे पूँजीशाहीका कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ।

यह एक उदाहरण मात्र है पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीशाही कहाँतक जा सकती है। देशहित, सन्ततिहित या इस प्रकारकी कोई बात उसको रोक नहीं सकती। उसको मुनाफा चाहिये।

परन्तु ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह भी स्पष्ट है कि पूँजीशाही बहुत दिन टिक नहीं सकती। उसका जन्म पूँजीवादसे हुआ है परन्तु पूँजीवाद स्वगत उच्छेदकोंसे भरा पड़ा है। उसके विकासके साथ साथ ही इन उच्छेदकोंका विकास हुआ है। जबतक नये नये बाजार और उद्योग-व्यवसायमें पिछड़े हुए देश मिलते गये तबतक तो उच्छेदक किसी न किसी प्रकार दबते गये पर अब ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूँजीशाहीका अन्त करके छोड़ेंगे। पर इनसे लड़नेका प्रयत्न प्राणपणसे किया जा रहा है और इस प्रयत्नमें पूँजीशाही जगतकी सुखशान्तिको ध्वस्त कर रही है।

बारहवाँ अध्याय

साम्राज्यशाही

हिन्दीमें साम्राज्यशाही प्रचलित शब्द नहीं है, साम्राज्यवाद ही प्रायः सुन पड़ता है। परन्तु इसमें भी वही आपत्ति है जो हमने पूँजीवादके सम्बन्धमें दिखलायी थी। 'साम्राज्यवाद'* से यह ध्वनि निकलती है कि यह कोई सिद्धान्त है। वस्तुतः यह कोई विशेष सिद्धान्तकी बात नहीं है, आजकलकी एक वस्तुस्थितिका नाम है। उस वस्तुस्थितिको 'साम्राज्यशाही' † कहना ही अधिक ठीक प्रतीत होता है। हिन्दीमें इस अर्थके एक ही अंग्रेजी पर्य्यायके कारण नामकरणकी कठिनाई उत्पन्न हुई है।

साम्राज्यशाहीकी बहुतसी परिभाषाएँकी गयी हैं। उन सबके यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है। पर उन सबका निचोड़ यह है कि साम्राज्यशाही वह अवस्था है जिसमें पूँजीपति राजशक्तिकी सहायतासे दूसरे देशोंमें आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण करते हैं। इस विषयपर बहुत बड़ा साहित्य मौजूद है। इसमें सबसे प्रामाणिक पुस्तक लेनिनकी 'इम्पीरियलिज्म' है।

साम्राज्य तो पहले भी थे। अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, अकबर सभी सम्राट् थे पर उन दिनोंके साम्राज्य आजकल जैसे न थे। सभी सभ्य और अर्द्धसभ्य देशोंकी आर्थिक स्थिति प्रायः एकसी थी। सामन्त सरदारोंके हाथमें अधिकार था। जब कोई राज्य कुछ बलवान् होता था या वहाँका नरेश महत्वाकांक्षी होता था तो अपनी मान और अधिकार-वृद्धिके लिए

---

* † Imperialism.

पड़ोसके राजोंपर आक्रमण किया जाता था। यदि शक्ति हो तो शरत्कालके आरम्भमें सीमोल्लङ्घन करना राजाका धर्म्म माना जाता था। महत्वाकांक्षी राज किस प्रकार मित्रों और तटस्थोंका चक्र बनाये, इसके लिए राजनीतिके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुतसे नियम बताये गये हैं। जब कोई दृढ़ साम्राज्य स्थापित हो जाता था तो व्यापार व्यवसायकी भी वृद्धि होती थी और विजयी राजको कई प्रकारके लाभ, जिनमें आर्थिक लाभ भी अन्तर्गत हैं, होते थे परन्तु साम्राज्य बढ़ानेके प्रयत्नका मूल प्रेरक विजिगीषा ही होती थी। मध्य एशियासे कई जातियाँ आर्थिक कारणोंसे प्रेरित होकर अपना मूलस्थान छोड़कर दूसरे देशोंमें गयीं और इनमेंसे कइयोंने साम्राज्य भी स्थापित किये पर इनका उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना नहीं था। साम्राज्य तो पीछे स्थापित हुए। जब यह घरसे निकलीं उस समय तो इनको केवल दूसरे घरकी तलाश थी।

आजके साम्राज्य—जैसे ब्रिटिश, फ्रेञ्च, जापानी, इटालियन साम्राज्य—दूसरे ही ढङ्गके हैं। यह कोरी शान शौकतके लिए नहीं स्थापित किये गये हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक है। आज साम्राज्यके पीछे साम्राज्यशाही होती है और साम्राज्यशाही तभी सम्भव होती है जब वैश्य वर्गके हाथमें राजकी लगाम आ जाती है।

हमने ऊपर कहा है कि साम्राज्यशाहीका तात्पर्य यह है कि एक देशके पूँजीपति दूसरे देशके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करें। इस निन्त्रणके कई स्वरूप हैं, जैसे उस देशके उत्पन्न कच्चे माल (अन्न, तेलहन, रुई इत्यादि) को अपने ही हाथ बिकने देना और वह भी सस्ते दामोंपर, उस देशमें अपने ही देशके बने मालको बिकने देना चाहे वह महँगा भी हो, उस

देशके रोजगारमें अपना रुपया लगाना और इस प्रकार ब्याजमें वहाँसे बड़ी रकम वसूल करना, अपने देशकी बढ़ी हुई जन-संख्याको उस देशमें बसा देना और उपजाऊ भूभागोंको अपने जातिवालोंके कब्जेमें देकर वहाँवालोंको मजदूरोंकी परिस्थितिमें गिरा देना।

साम्राज्यशाही पूँजीशाहीका अवश्यम्भावी परिणाम है। जो लोग पूँजी लगाकर मुनाफेके लिए व्यवसाय करते हैं उन्हें बाजार चाहिये ही। केवल अपने देशके बाजारसे तृप्ति नहीं होती क्योंकि आपसकी प्रतियोगितासे भरपेट लाभ किसीको नहीं होता। इसलिए बाहर बाजारकी खोज होती है। यदि सब देश एकसे बलवान् और उन्नत हों तो बाजार सुगमतासे नहीं मिल सकता, इसलिए जो दुर्बल होते हैं उन्हें ही दबानेका प्रयत्न किया जाता है। व्यवसायी अपने प्रयत्नसे ऐसा कर नहीं सकते, इसलिए उनके देशकी सरकारें, जिनपर व्यवसाइयोंका काफी प्रभाव रहता है, इस काममें अग्रसर होती हैं। इसीलिए यह प्रतियोगिता बड़ी भीषण हो जाती है। जब किसी एक देश-पर दो या दोसे अधिक पूँजीवादी देशोंकी आँख गड़ती है, अर्थात् दो या दोसे अधिक देशोंके पूँजीपति उसपर नियन्त्रण करनेके इच्छुक होते हैं तो इस सङ्घर्षका निबटारा तलवार ही कर सकती है। कोई न कोई बहाना ढूँढ़ लिया जाता है। पर पूँजीपति स्वयं तलवार नहीं चलाते। देशभक्तिकी लम्बी चौड़ी बातें सुनायी जाती हैं और देशपर विपत्तिका भय दिखलाया जाता है। इस प्रकारके झूठे प्रचारसे उत्तेजित करके लाखों मजदूर और किसान जिनको किसीसे द्वेष नहीं और न विजयसे कोई लाभ उठाना है, कटवा दिये जाते हैं। सारे देशकी धन-जन शक्ति इन थोड़ेसे अर्थलोलुपोंके स्वार्थपर आहुति कर दी

जाती है। जैसा कि संयुक्त राजके आभ्यन्तर विभागके एक भूतपूर्व मन्त्री श्री फ्रैङ्क्लिन लेनने एक अवसरपर कहा था 'यदि न केवल व्यक्ति वरन् अपनी सरकारोंके द्वारा स्वयं राज आर्थिक प्रतियोगितामें भाग लेंगे और अपनेको महाजनोंकी कोठियों या कारखानोंका रूप दे लेंगे तो फिर व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता से उत्पन्न निरन्तर झगड़ोंके शान्त होनेकी आशा नहीं की जा सकती।'

आर्थिक नियंत्रण करनेके कई साधन हैं। इनमें सबसे सीधा और पुष्ट यह है कि उस देशका शासन अपने हाथमें आ जाय अर्थात् वह अपने राज्यमें मिला लिया जाय। ब्रिटिश साम्राज्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। भारत इसीलिए ब्रिटिश साम्राज्यमें है कि उसका आर्थिक शोषण बे-रोकटोकके हो सके। इसी उद्देश्यसे इटलीने अबीसीनियाकी चिरकालीन स्वाधीनताका अपहरण किया था और जापानने चीनके मंचूरिया प्रान्तको हजम कर अन्य प्रान्तोंपर कब्जा करनेके लिए सात वर्षोंसे युद्ध ठान रखा था। स्वतन्त्र कोरियाको वह इसके पहले ही साफ कर चुका था।

शासन अपने हाथमें आने पर शासित देशकी आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार उलट पुलट कर दी जा सकता है इसका उदाहरण भी भारतसे ही खूब मिल सकता है। सं० १८७१ में अन्तिम मराठा युद्ध समाप्त हुआ और पंजाब छोड़कर सारे भारतमें कम्पनीका शासन सुदृढ़ हो गया। इसके २० वर्षके भीतर ही दोनों देशोंके व्यापार-व्यवसायका क्या स्वरूप हो गया वह देखने योग्य है।

	भारतसे कितने थान सूती कपड़े गये	ब्रिटेनसे कितने थान आये
सं० १८७१	१२,६६,६०८	८,१८,२०८
सं० १८९२	३,५६,०८६	५,१७,७७,२७७

भारतसे ब्रिटेन गये कपड़ेका मूल्य		ब्रिटेनसे आये कपड़ेका मूल्य
सं० १८७२	१,६५,००,०००)	३,९४,५००)
सं० १८८९	१५,००,०००)	६०,००,०००)❀

यह परिवर्त्तन हुआ कैसे ? भारतका जगत्प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसाय किस प्रकार नष्ट किया गया, उसे कोई भारतीय जल्दी भूल नहीं सकता पर यहाँ उस करुणकथाको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही स्मरण रखना पर्य्याप्त है कि ब्रिटेनसे आनेवाले सूती और रेशमी कपड़ेपर ३॥) सैकड़ा और ऊनी कपड़ेपर २) सैकड़ा जकात ली जाती थी पर ब्रिटेनमें भारतके बने हुए सूती कपड़ेपर १०) सैकड़ा, रेशमी कपड़ेपर २०) सैकड़ा और ऊनी कपड़ेपर ३०) सैकड़ा जकात लगती थी।

यह शोषणकी धारा अभी बन्द नहीं हुई है। अपने उद्योगधन्धोंके नष्ट हो जाने पर भारतको हठात् कृषिप्रधान देश बनना पड़ा। पहले वह केवल अपने खाने भरको अन्न उत्पन्न करता था। अब उसे बाहरसे आनेवाले मालका मूल्य चुकाना पड़ता है। इसलिए न केवल अन्न परन्तु अन्य वस्तुएँ भी बाहर भेजनेके लिए उत्पन्न करनी पड़ती हैं। फिर भी आजकल पूरा नहीं पड़ता। पिछले कई वर्षोंमें देशमें जहाँ जो कुछ सोना पड़ा था वह खिंचकर बाहर चला गया तब कहीं जाकर क्रय-विक्रयका हिसाब बराबर हुआ। अन्य देश सोनेका सञ्चय करते हैं पर भारत अपनी अर्थनीतिका आप विधाता नहीं है अतः वह सोना बाहर भेजता है। सोना कितना गया इसका अनुमान इसीसे हो सकता है कि सं० १९८९ में ५८ करोड़का और

❀ यह आंकड़े डा० अहमदकी एग्रैरियन प्राब्लेम इन इन्डियासे लिये गये हैं। यहां सुविधाके लिए एक पोन्ड पन्द्रह रुपयेके बराबर मान लिया गया है।

१९९० में उससे भी बढ़कर ६८ करोड़ ३० लाखका सोना गया। यह कहना अनावश्यक होगा कि इसका बड़ा भाग सीधे ब्रिटेन गया। जरासा कलम फेर देनेमें सरकार करोड़ोंका वारा-न्यारा कर सकती है। भारतीय लोकमतका कहना यह है कि पौंड और रुपयेके विनिमयमें सरकार हस्तक्षेप न करे। पौण्डमें जितना सोना है और रुपयेमें जितना चाँदी है उसके हिसाबसे भाव आप ही ठीक हो जायगा। दो देशोंके सिक्कोंमें ऐसा ही होता है। पर यदि कुछ स्थिर करना ही है तो १ पौण्ड १५) के बराबर माना जाय। सरकारने ब्रिटिश हितोंके रक्षार्थ जबर्दस्ती उसे १३।-) का मान लिया है।

साम्राज्यवादी देश अपनी नीयतको साफ शब्दोंमें नहीं व्यक्त करते। प्रायः यही कहते हैं कि यहाँके निवासी अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिका उपयोग नहीं कर रहे हैं। हम उसको मनुष्यमात्रके हितके लिए उपयोगमें लायेंगे और इन लोगोंकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करेंगे। करनेको दोनों बातें की जाती हैं। जङ्गल कटने लगते हैं, खेती जोरोंसे होने लगती है और खानें खुदने लगती हैं। शिक्षालय, नाट्यशाला, सिनेमाहाल खुल जाते हैं। मूल निवासियोंको नये नये शौक सिखाये जाते हैं ताकि वे अपने स्वामियोंकी बनायी वस्तुओंको मोल लें। इस बातका भी प्रयत्न किया जाता है कि उनके पास चार पैसा रहे ताकि वह बाहरसे आयी वस्तुओंको मोल ले सकें पर इस बातकी पूरी चेष्टा की जाती है कि वह कोई ऐसा व्यवसाय न करें जिससे उनके प्रभुओंको क्षति पहुँच सके।

दूसरे देशको अपने राज्य में मिला लेना तो आर्थिक नियन्त्रणका प्रमुख और प्रत्यक्ष साधन है ही पर कभी ऐसा करना

उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसी अवस्थामें अप्रत्यक्ष साधनोंसे काम लिया जाता है। एक साधन प्रभावक्षेत्रोंका* स्थापित करना है। सं० १९७१ के महायुद्धके पहिलेका फारस इसका अच्छा उदाहरण है। बिना फारस सरकारसे पूछे रूस और ब्रिटेनने आपसमें समझौता करके फारसको दो अधिकारक्षेत्रमें बाँट लिया था। इसका तात्पर्य्य यह था कि उत्तर फारसका आर्थिक शोषण रूस और दक्षिण फारसका ब्रिटेन करे। उत्तरमें रूसने अपने हितोंकी रक्षाके लिए सैनिक रख छोड़े थे दक्षिणमें ब्रिटेनने। दोनों मिलकर फारस सरकारको दबा रहे थे कि अपनी पुलिस और सेनाका सुधार करो। इसका मतलब यह था कि पुलिस और सेना सुशिक्षित हो जाती और उनके अफसर अंग्रेज तथा रूसी होते। नामको राष्ट्रीय होते हुए भी वह इन विदेशियोंके इशारेपर नाचतीं। फारस बेचारेने अपनी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए एक अमेरिकन श्री शुस्टरको बुलाया पर यह बात अंग्रेज और रूस सरकारोंको पसन्द न आयी। शुस्टरको लौट जाना पड़ा। उनकी लिखी 'द स्ट्रैङ्गलिङ्ग आव पर्शिया' (फारसकी गलाघुँटाई) तत्कालीन अवस्थापर अच्छा प्रकाश डालती है। फारसको इन्हीं दोनों सरकारोंसे ऋण लेनेके लिए विवश किया जा रहा था। इन्हींके रुपयेसे रेल चलती। तेलकी खानोंका ठेका बड़ी ही सस्ती शर्तोंपर एक अंग्रेज कम्पनीको देदिया गया। इस प्रकार जकड़ जानेपर स्वतन्त्र कहलाता हुआ भी फारस इन दोनोंके हाथोंसे कदापि न निकल पाता। परन्तु माहायुद्धने उसे अवसर दे दिया। अंग्रेज और रूस दोनों लड़ाईमें लग गये। युद्धके बाद रूसकी नयी समाजवादी सरकारने स्पष्ट कह दिया कि हम साम्राज्यशाहीके

---

* Spheres of Influence.

विरुद्ध हैं अतः फारसमें हमारा कोई प्रभाव क्षेत्र नहीं है। अब अंग्रेजोंके लिए कोई बहाना नहीं रह गया। इनको भी हटना पड़ा। फारसके प्राण बच गये पर इस समय वह फिर संकटमें है। उसके तेलकी लालचसे रूस, ब्रिटेन और अमेरिका विशेष कर रूस, उसे सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे हैं।

तीसरा उपाय संरक्षण* स्थापित करना है। संरक्षणका अर्थ यह है कि संरक्षित राज अपने आभ्यन्तर शासनमें तो स्वतन्त्र है किन्तु परराजोंसे उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह उसके संरक्षकके हाथमें रहता है। यह भीतरी शासनकी स्वाधीनता भी कागजी वस्तु है। इसमें अनेक प्रकारकी रुकावटें होती हैं। उसको संरक्षककी इच्छाके अनुसार सारा शासन चलाना पड़ता है। मिस्रमें इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। पिछले महायुद्धके छिड़नेके समयतक मिस्र नामको तुर्क साम्राज्यका अङ्ग था। उसके नरेशकी उपाधि खदीव थी। युद्ध छिड़ने पर अंग्रेजोंके कहनेसे मिस्रने अपनेको स्वतन्त्र घोषित किया और तत्काल ही अंग्रेजोंने उसे अपने संरक्षणमें ले लिया। नामको प्रत्येक विभागके ऊपर एक मिस्री मन्त्री होता था पर उसके साथ अंग्रेज परामर्शदाता लगे रहते थे। इनकी सलाह माननी पड़ती थी। पुलिस और सेनाके अफसर अंग्रेज थे और राज्यमें कई जगह अंग्रेजी सेनाकी छावनियाँ थीं। बहुतसे व्यवसाय अंग्रेजोंके हाथमें थे और सरकार अंग्रेजी ऋणसे लदी थी।

संरक्षित राजोंकी दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। कभी कभी

* Protectorate.

तो वह संरक्षकके चंगुलसे निकल आते हैं। मिस्रके कुछ ऐसे ही लक्षण देख पड़ते हैं। परन्तु बहुधा वह संरक्षकके कण्ठके नीचे ही उतर कर रहते हैं। जापानियोंने पहले कोरियाको चीनके प्रभुत्वसे निकालकर स्वतन्त्र राज कहा, फिर अपने संरक्षणमें लिया और अन्तमें उसे जापानी साम्राज्यका अङ्ग बनाकर ही छोड़ा।

कभी कभी संरक्षण भी नहीं स्थापित होता। जिस दुर्बल राजपर कुदृष्टि पड़ जाती है, उसको दबाकर यह अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है कि हम तुम्हारे आय व्ययका निरीक्षण किया करेंगे। संयुक्तराज इस विद्यामें बड़ा निपुण है। उसके एक भूतपूर्व राष्ट्रपति मनरोने एक बार यह घोषणा की कि संयुक्तराज अमेरिका बाहरके किसी भी राजको किसी अमेरिकन राजके भीतरी शासनमें हस्तक्षेप न करने देगा, न अमेरिकामें भूमि प्राप्त करने देगा। इसको मनरो सिद्धान्त कहते हैं। कोई भी स्वतन्त्रराज इसको माननेके लिए बाध्य नहीं है पर आज पचासों वर्षसे सब इसे मानते आये हैं। इसकी आड़में संयुक्त राजको बहुत कुछ मनमानी करनेका अवसर मिल जाता है। उसका कहना यह है कि हम स्वाधीनताके प्रेमी हैं। अमेरिका जाइये तो पूर्वीय समुद्रतटपर स्वातन्त्र्यकी अधिष्ठात्री देवीकी विशालकाय मूर्ति दूरसे दिखलाई देती है। इसीके साथ इन लोगोंका यह भी दावा है कि हम दूसरोंकी स्वाधीनतामें भी हस्तक्षेप नहीं करते पर यह सब कहनेकी बातें हैं। इसी मनरो सिद्धान्तके सहारे संयुक्तराजकी साम्राज्यशाही खुलकर खेलती है। अमेरिकन महाद्वीपमें बहुतसे छोटे छोटे राज हैं। उनमें आपसमें युद्ध भी होते रहते हैं तथा अन्य कारणोंसे भी

रुपयेकी आवश्यकता पड़ जाती है। कभी कभी वह यूरोपियन महाजनोंसे भी रुपया लेते हैं। बस संयुक्तराज ऐसे ही अवसरकी ताकमें रहता है। वह कहता है कि तुम ऋण तो ले रहे हो पर इसे चुका नहीं सकते। मनरो सिद्धान्तके अनुसार हम यूरोपियन महाजनोंको तुम्हारे यहाँ हस्तक्षेप करने देंगे नहीं। अतः यह आवश्यक है कि हम तुम्हारा घर संभाल दें। वह बेचारा बोल नहीं सकता। आप उसकी आर्थिक अवस्थाके निरीक्षक और अमात्य बन जाते हैं। आय यों बढ़ायी जाय, व्यय यों कम किया जाय, महाजनको इतनी किस्त दी जाय, सब तय किया जाता है। इसके लिए उसको संयुक्त राजसे ऋण लेना पड़ता है और ऋण चुकानेके लिए अपनी आयका कोई विभाग जैसे रेल या जङ्गल या जकात कई वर्षके लिए सौंप देना होता है। इस सबकी देख भालके लिए संयुक्तराज वहाँ थोड़ी-सी सेना और एक दो जहाज रखता है। नामको स्वतन्त्रतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता पर आर्थिक और उसके द्वारा राजनीतिक जीवन दूसरेके हाथमें चला जाता है। अमेरिकन साम्राज्यशाहीने सं० १९५५ से १९७४ के भीतर किसी न किसी बहाने लगभग ९०,००० वर्ग कोस भूमिपर अधिकार प्राप्त किया है जिसपर २ करोड़के लगभग मनुष्य बसे हुए हैं। जहाँ इटली जैसे देश खुलकर दूसरे देशोंको गुलाम बनाना चाहते थे वहाँ अमेरिका सूक्ष्म उपायोंसे काम लेता है। उसकी नीति यह है कि साँप मर जाय पर लाठी न टूटे। वह अपने शोषितोंकी कागजी स्वतन्त्रता बनाये रखकर अपनी आत्माको शान्त कर लेता है। ऐसी अवस्थामें स्वतन्त्रताका क्या अर्थ होता है यह एक सरकारी कागजसे प्रकट होता है जिसको संयुक्तराजकी सरकारने तय्यार

किया था। उसपर लिखा था 'गोप्य, केवल सरकारी कामके लिए' पर किसी प्रकार उसको नियरिंग और फ्रीमैनने अपनी 'डॉलर डिसोमैसी'में उद्धृत किया है। इस कागजके अनुसार ऐसे रक्षित राजोंके साथ की गयी सन्धियोंमें जहाँ 'स्वतन्त्रता' का शब्द आता है उसका अर्थ यह नहीं है कि 'उनको अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेका पूरा अधिकार है वरन इतना ही कि उनपर कोई ऐसी रुकावट नहीं है जिससे कि उनका अन्ताराष्ट्रिय अस्तित्व मिट जाय और सैद्धान्तिक कानूनी दृष्टिसे उनका स्वभाग्यनिर्णयका अधिकार छिन जाय'। अतः ऐसी अवस्थामें स्वतन्त्रता 'सैद्धान्तिक और कानूनी वस्तु है, व्यवहारमें बरतनेके लिए नहीं'।

कभी कभी आर्थिक निरीक्षणका रूप भी नहीं दिया जाता क्योंकि इसमें भी निरीक्षित राजकी स्वाधीनतामें प्रत्यक्ष अन्तर पड़ता है और यह बात उसको खलती रहती है। ऐसे राज जिनका राज्य-विस्तार या नाम बड़ा है इस प्रकार खुलकर अपनी स्वाधीनताको रुकवाना पसन्द नहीं करते पर युद्धसे थककर या किसी बलवान् पड़ोसीसे अपनी रक्षा करनेके लिए उन्हें रुपयेकी आवश्यकता पड़ती है। जो राज नये नये स्वाधीन होते हैं उनको अपने विकासके लिए भी धनकी आवश्यकता होती है। पूँजीशाही देश इसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। यदि अवसर लग गया तो उससे बराबरीकी सन्धि करते हैं ताकि उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे और उसको यथेष्ट ऋण देते हैं। साथ ही यह शर्त भी करा लेते हैं कि कमसे कम इतने रुपयेका अमुक अमुक प्रकारका माल प्रतिवर्ष हमारे देशसे मोल लिया जायगा, हमारे मालपर इतनेसे अधिक जकात न ली जायगी, इत्यादि।

इस प्रकार ऋण देनेवाले देशके महाजनों और व्यवसाइयों दोनोंको लाभ होता है और दीर्घ कालके लिए एक शिकार हाथ लग जाता है।

कभी कभी किसी देशके पूँजीपति किसी ऐसे देशमें धीरे धीरे आप ही प्रवेश करने लगते हैं जिसमें प्राकृतिक सम्पत्ति, जैसे जङ्गल या कृषियोग्य भूमि या खान, बहुत है पर काममें नहीं लायी जा रही है। वह धीरे धीरे इस सम्पत्तिपर कब्जा प्राप्त कर लेते हैं। कुछ आप मोल ले लेते हैं, कुछ वहींके कुछ निवासियोंको रुपया देकर उनके नामसे ले लेते हैं। इस प्रकार देशके आर्थिक जीवनपर क्रमशः उनका अधिकार हो जाता है। उनकी सरकार उनकी पीठपर रहती है पर जबतक शोषित देश चुप रहता है तबतक आप भी कुछ नहीं बोलती। एशियामें कई जगह ऐसा ही किया गया। चीनके साथ ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्तराज और जापान सभी ऐसा करना चाहते थे और हैं। परन्तु यदि वह देश अपने जीवनको आप सँभालना और शोषणका अन्त करना चाहे तो फिर शोषक पूँजीपतियोंकी सरकार सामने आती है और साम्राज्यशाहीका नग्न रूप देख पड़ जाता है। जापान और चीनके निरन्तर सङ्घर्षका यह भी एक रहस्य है। मेक्सिको संयुक्तराजके दक्षिण पड़ता है। उसके आर्थिक जीवनको इसी प्रकार संयुक्तराजके पूँजीपतियोंने अपने हाथमें कर रखा था। मेक्सिकोके राजनीतिक दलोंके मिथ-कलहके कारण न कोई बलवती सरकार होने पाती थी, न कोई रोक टोक करता था। पर जब कराञ्जा मेक्सिकोके राष्ट्रपति हुए तो उन्होंने देशको सँभाला। उसका शासनविधान भी बदला गया। इस नये विधानकी २७ वीं धारा कहती है—

(क) कोई विदेशी कम्पनी या व्यक्ति बिना अपने देशकी

नागरिकताका त्याग किये और मेक्सिकोका नागरिक बने मेक्सिकोमें किसी खान, तेलके कुएँ, भूमि या मकानको हासिल न कर सकेगा या यदि ऐसी सम्पत्ति उसके कब्जेमें हो तो उसे न रखने पायगा।

(घ) किसी भी दशामें कोई विदेशी व्यक्ति या कम्पनी अपने देशकी सीमासे ३० कोसके और समुद्र तटसे १५ कोसके भीतर भूमि या जलपर स्वाम्य हासिल न कर सकेगी और यदि ऐसी भूमि या जलपर कब्जा होगा तो वह उसे रखने न पायेगी। (यह धारा इसलिए रखी गयी कि यह विदेशी लोग देशपर आक्रमण करनेवाली जल या स्थल सेनाकी सहायता न कर सकें।)

(च) सं० १९३३ के बाद प्राकृतिक सम्पत्तिपर कब्जा हासिल करनेके सम्बन्धमें जितने ठेके हुए हैं उन सबपर वर्तमान सरकार पुनः विचार करेगी और उसको यह अधिकार दिया जाता है कि उचित समझे तो उन्हें रद कर दे।

इस प्रकारकी धाराओंसे अमेरिकन साम्राज्यशाहीकी भारी क्षति हुई। सरकार पूँजीपतियोंकी ओरसे खड़ी हो गयी। सैनिक प्रदर्शन हुआ। खुलकर कोई युद्ध नहीं हुआ पर भीतर भीतर अबतक तनाव जारी है।

साम्राज्यशाहीके पास बहुतसे हथकण्डे हैं। एक ओर स्वाधीनोंको दास या अर्द्धदास बनाया जाता है, दूसरी ओर दासोंको स्वतन्त्र बनानेका नाटक किया जाता है। चीन और जापान दोनों ही राष्ट्रसङ्घके सदस्य थे पर जापानने बिना किसी भी न्याय्य कारणके चीनका ईशानकोणस्थ मंचूरिया प्रान्त हस्तगत कर लिया। इस खुली लूटके सामने किसीने चीनकी सहायता न की। परन्तु मंचूरियापर कब्जा करके जापानने एक

नया स्वांग रचाया। उसने उसको 'स्वतन्त्र' कर दिया। उसका नाम मञ्चुकुओ पड़ गया और चीनके निकाले सम्राट् उसके सम्राट बना दिये गये। इस 'स्वतन्त्र' देशसे जापानने सन्धियाँ कीं। मञ्चुकुओकी सेनाके अफसर जापानी थे और उसका सारा नियन्त्रण जापान करता था। शासनके सभी विभागोंमें मञ्चू मन्त्रियोंके साथ जापानी अमात्य लगे हुए थे जिनका परामर्श आज्ञाकी शक्ति रखता था। देशके सभी उर्वर भागोंमें जापानी बस गये हैं और खानोंके ठेके जापानियोंके हाथमें हैं। मञ्चुकुओका समस्त आर्थिक और राजनीतिक जीवन जापानके हाथमें था फिर भी वह स्वतन्त्र कहलाता है। इसमें जापानको कई लाभ थे। एक तो शासनका खर्च अपने ऊपर नहीं आता था। दूसरे, जापानी साम्राज्यशाहीकी तृष्णा अभी तृप्त नहीं हुई थी। मंचूरियाकी दक्षिणी सीमापर चीनी अधिकारियोंसे जो झगड़े होते थे उनमें मञ्चुकुओको आगे कर देता था और अपने नामसे जहाँतक हो सके झगड़े बचाता था, यद्यपि बादमें अवसर देखकर वह खुल्लमखुल्ला उलझ ही पड़ा। सबसे बड़ी बात यह थी कि मंचुकुओके ठीक उत्तर रूस है। सीमापर जापान और रूसके हित टकराते और झगड़े आये दिन खड़े रहते थे। उधर भी मंचुकुओकी सरकार आगे कर दी जाती थी।

यह कहना अनावश्यक है कि इस प्रकारका नियंत्रण शोषित देशके लिए बुरा है। यदि कुछ राष्ट्र मिलकर निष्पक्ष और मित्रभावसे किसी पिछड़े राष्ट्रके अभ्युदयमें सहायता देना चाहें तो और बात है, पर ऐसा होता नहीं। कोई न कोई बलवान् राष्ट्र किसी दुर्बलके कंधोंपर ही सवार होता है। यह हो सकता है कि दस डाकुओंके हाथों लुटनेसे एक डाकूके हाथ लुटना श्रेयस्कर हो। इस नीतिसे एक बलवान् राष्ट्रके पल्ले बँधे दुर्बल

राष्ट्र भाग्यवान् माने जा सकते हैं पर इसका मूल्य उनको बहुत देना पड़ता है। उनका व्यक्तित्व मिट जाता है और यदि उनका प्रभु या संरक्षक किसी युद्धमें फँस गया तो उनको भी व्यर्थ उसके साथ पिसना पड़ता है।

पर इन बातोंसे बढ़कर यह बात है कि साम्राज्यशाहीका भविष्य अंधकार पूर्ण है और उसके साथ ही पृथ्वीका भविष्य भी भयावह है। पहिले तो अफ्रिकाका बहुतसा भाग यूरोपवालोंके सौभाग्यसे खाली पड़ा था। खालीका अर्थ यह नहीं है कि वह जनशून्य था वरन् इतना ही कि वहाँके निवासी बर्बर थे अर्थात् यूरोपवालोंका सामना करनेमें असमर्थ थे। इसलिए जब जिसको अवसर मिला उसने अफ्रिकाका उतना भाग दबा लिया। एशिया महाद्वीपकी अवस्था ऐसी न थी। यहाँके अधिकांश देश दुर्बल भले ही पड़ते हों पर बर्बर नहीं थे। अफ्रीकामें यूरोपियन बस सकते थे। वहाँ उन्होंने उपनिवेश बसाये। एशियामें बसना सम्भव नहीं था। यहाँके देश अर्द्ध-उपनिवेश रह गये। शोषण एशिया और अफ्रीका दोनोंका हुआ पर प्रकारमें भेद था।

अब यह बात इतनी सुकर नहीं है। पृथ्वी रबड़की भाँति खींचकर बढ़ायी नहीं जा सकती। अब या तो ऐसे देश रह गये हैं जो अपनी रक्षा कर सकते हैं अर्थात् जिनका शोषण दूसरे जल्दी कर नहीं सकते या ऐसे देश हैं जो किसी न किसी प्रबल राजके द्वारा शोषित हो रहे हैं। अफ्रीका प्रायः सारा बँट चुका है। एशियामें भी कोई कोना बचा नहीं देख पड़ता।

एक और कठिनाई है। कई देश जो अबतक शोषित थे, धीरे धीरे सँभल रहे हैं। राजनीतिक परिस्थितियोंकी सहायतासे से उनको अपने पाँवपर खड़े होनेका अवसर मिल रहा है। जो राजनीतिकी दृष्टिसे स्वतंत्र नहीं हैं, उनमें भी राष्ट्रीय चेतना जाग

रही है। स्वयं साम्राज्यशाहीने अपने निर्दय शोषणसे उनको जगाया है पर अब उनका शोषण कठिन होता जाता है। भारतमें अंग्रेजोंको इसका अनुभव होने लगा है। पर ज्यों ज्यों शोषणका क्षेत्र संकुचित होता जाता है त्यों त्यों साम्राज्यवादियोंकी लिप्सा बढ़ती जाती है। आपसकी प्रतियोगिता और तीव्र होती जाती है। ऐसा माना जाता है कि बलवान् राज, अर्थात् वह राज जिनकी पूँजीशाही विकसित है, दो वर्गोंमें विभक्त हैं। कुछ तृप्त * हैं और शेष अतृप्त † हैं। तृप्त वह हैं जिनके पास पर्याप्त उपनिवेश हैं, अतृप्त वह हैं जिनके पास उपनिवेशोंकी कमी है। तृप्त राजोंका उत्कृष्टतम उदाहरण ब्रिटेन है; इटली, जापान और जर्मनी, वर्तमान युद्धके पहिले अतृप्तोंमें अग्रगण्य थे। पर यह विभाग स्थायी नहीं हो सकता। पहिले तो तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती। ब्रिटेनके पूँजीपतियोंके द्वार बन्द होते जा रहे हैं। कई बाजार उसके हाथसे निकल गये इसलिए मुँहसे नहीं नहीं कहते हुए भी वह सदैव अतृप्त रहता है। आज जो राज इतने पिछड़े हुए हैं कि उनकी गिनती अतृप्तोंमें भी नहीं हो सकती वह कल उन्नत हो सकते हैं। उनकी जनसंख्या बढ़ सकती है, उद्योग-व्यवसाय बढ़ सकता है। फिर उन्हें भी उपनिवेशोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लगेगी। अतः वस्तुतः तृप्त तो कोई नहीं है पर जिनके पास बहुत उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश हैं वह अवश्य यह चाहते हैं कि अब यह होड़ बन्द हो जाय क्योंकि उनको यह डर है कि उनका वशवर्ती भू भाग कहीं

---

* Satiated Powers. † Un-satiated Powers. इनको कभी कभी Haves और Have-nots भी कहते हैं।

हाथसे निकल न जाय। दूसरी ओर अतृप्तोंकी संख्या बढ़ती जाती है।

पहिले तो गोरी जातियाँ रंगीन जातियोंके देशोंको ही अपना दैव निर्मित शिकार समझती थीं पर अब तो उनको अगत्या एक दूसरेपर भी वक्रदृष्टि डालनी पड़ती है। लड़ाईके बाद जर्मनीको पगु करके उससे युद्धका हर्जाना लेनेके लिए जो आयोजन किया गया था* वह शोषणका नग्नरूप था। उसका निचोड़ यह था (क) जर्मनी तम्बाकू, शक्कर, शराब और जकातकी आयसे १ अरब २५ करोड़ स्वर्ण मार्क प्रति वर्ष दिया करे। (ख) इसके अतिरिक्त रेलों, यातायातके अन्य साधनों तथा व्यवसाय-व्यापारकी आयसे २ अरब ५० करोड़ स्वर्ण मार्क दिया जाय। यह रकम जो (ख) के अन्तर्गत है सं० १९८५ तकके लिए थी। इसके बाद यदि जर्मनीकी आय बढ़े तो उसी अनुपातसे यह रकम भी बढ़ायी जाय। जैसे यदि किसी वर्ष जर्मनीकी आय १९८४ की आयसे २०% बढ़ जाती तो उस साल उसको २५० करोड़+२५० का २०% देना पड़ता। तमाशा यह है कि इतनी बड़ी बड़ी रकमें तो माँगी गयीं पर कोई अवधि नहीं रखी गयी कि जर्मनी कबतक देता रहे।

यह महात्वाकाङ्क्षाएँ कैसे पूरी होंगी? इसका एक उपाय—और वही सबसे सीधा है—युद्ध है। प्रत्येक राज युद्धकी तैयारीमें लगा रहता है। जिस रुपयेसे लोकहितके हजारों काम होते वह रण सामग्रीपर बहाया जाता है। पचीस वर्षोंमें दो महायुद्ध लड़े जा चुके और तीसरे की तय्यारी है। विजयी राजोंमेंसे न कोई अपना साम्राज्य छोड़ रहा है, न कोई सेना कम कर रहा है।

---

* Dawes' Plan.

यह गृहदाह कैसे बच सकता है ? इटली-अबीसीनिया युद्धके समय ब्रिटिश सरकारके परराष्ट्र सचिव सर सैमुएल होरने एक उपाय उपस्थित किया था। उनका कहना था कि बाजारों और कच्चे मालके उत्पत्तिस्थानोंका आपसमें न्यायपूर्ण बँटवारा किया जाय। यह बात सुननेमें अच्छी लगती है पर इसका अर्थ क्या है ? इटलीकी ओरसे तत्काल ही इसका खोखलापन दिखला दिया गया। न्यायपूर्ण बँटवारेका तरीका तो यह है कि आवश्यकताके अनुसार सबको उपनिवेश दिये जायँ या सब उपनिवेशोंमें सबका समान अधिकार हो। परन्तु किसकी कितनी आवश्यकता है इसका निर्णय कैसे होगा ? फिर जिनके पास उपनिवेश है यदि वह उन्हें दूसरोंको दे देंगे या सब उपनिवेशोंमें सबको समान अधिकार होगा तो फिर उपनिवेश रखनेका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। उपनिवेश तो व्यावसायिक एकाधिकारके लिए होते हैं। यदि एकाधिकार न होगा तो पूँजीपतियोंकी तुष्टि कैसे होगी ? अतः जैसा कि इटलीकी सरकारकी ओरसे कहा गया था, न्यायपूर्ण बँटवारेसे सर सैमुएल होरका इतना ही तात्पर्य हो सकता था कि जिनके पास इस समय उपनिवेश हैं वह जिनके पास नहीं हैं उनके हाथ कच्चा माल बेचा करें और अपने बाजारोंमें उनको भी कुछ माल बेचने दें। पर ऐसा तो अब भी न्यूनाधिक होता ही है। इससे अतृप्तोंकी तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपनिवेशोंके प्रभु जब चाहेंगे कच्चा माल रोक देंगे और बाजार बन्दकर देंगे।

इन सब उपायोंमें एक और बड़ा दोष है परन्तु साम्राज्यवादी सरकारें स्वभावतः उसकी ओर ध्यान नहीं देतीं। इनके सफल होनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पृथ्वीपर कुछ ऐसे देश सदैव बने रहें जो अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिका स्वतः

उपयोग न करें, जिनके निवासी राजनीति दृष्ट्या परतन्त्र और अर्थनीति दृष्ट्या शोषित बने रहनेको सदैव तैयार रहें, जो भेड़ बकरियोंकी भाँति निःसङ्कोच अपने स्वामी बदला करें। गोरी जातियाँ समझती हैं कि रङ्गीन जातियाँ इसीलिए बनायी गयी है। वह ऐसा नहीं मानतीं कि रङ्गीनोंको आत्मनिर्णयका अधिकार है। सन फ्रांसिस्कोमें विश्वसुरक्षाकी जो योजना बनी है उसमें न तो उपनिवेशों को मुक्त करनेकी बात है न उनके निवासियोंका स्वतन्त्र होनेका अधिकार स्वीकार किया गया है। पर अब समय बदल रहा है। रङ्गीन जातियोंकी राष्ट्रीय भावनाएँ जाग चुकी हैं। उनमें अपनी वर्तमान अवस्थाके प्रति घोर असन्तोष है और वह सशस्त्र या निःशस्त्र उपायोंसे अपने खोये हुए मनुष्यत्वको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि साम्राज्यशाही सरकारें इन्हें दबाकर रखना चाहेंगी तो यह भी लड़ेंगी। परिणाम चाहे कुछ हो, पर व्यापक सङ्घर्ष होगा और न किसीका व्यापार व्यवसाय पनप सकेगा, न वह शान्ति जो सबको अभिष्ट है, स्थापित हो सकेगी।

इसका एकमात्र उपाय यही प्रतीत होता है कि साम्राज्य-शाहीका ही अन्त कर दिया जाय। जबतक देशोंमें एक दूसरेको दबाने और एक दूसरेके आर्थिक जीवनपर नियंत्रण करनेकी अभिलाषा रहेगी तबतक शान्ति नहीं हो सकती। परन्तु साम्राज्यशाहीका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो पूँजीशाहीकी सन्तान है। जबतक पूँजीशाही निरङ्कुश है तब तक साम्राज्यशाहीको सांकुश करनेका प्रयास व्यर्थ है।

तेरहवाँ अध्याय

निजी सम्पत्ति

हम पहलेके अध्यायोंमें लिख आये हैं कि समाजवादी जब आजकलके जगत्‌की दुरवस्थाका निदान करने चलता है तो उसे इसके मूलमें दो तीन मुख्य रोग मिलते हैं। इनमें हमने वर्ग-संघर्ष और उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वका जिक्र किया है। उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वका ही परिणाम पूँजी-शाही है और पूँजीशाहीका अन्ताराष्ट्रिय परिणाम साम्राज्यशाही है। इसीलिए इन दोनों विषयोंपर विचार करना आवश्यक था। अब थोड़ासा विचार निजी सम्पत्तिके सम्बन्धमें भी करना जरूरी है क्योंकि वस्तुतः उसका सम्बन्ध भी उत्पादनके साधनों पर निजी स्वत्वसे ही है।

लोगोंमें ऐसी धारणा फैली हुई है कि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी हैं। लोग समझते हैं कि यदि समाजवादियों के हाथमें अधिकार आ जाय तो वह धनवानोंकी सारी सम्पत्ति छीनकर निर्धनोंमें बाँट देंगे और किसीके पास किसी दूसरेसे अधिक सम्पत्ति न रहने देंगे। इसी कारण साम्यवाद-सबको बराबर धन बाँटनेवाला वाद-नाम पड़ा था। पहले तो इन दोनों धारणाओं में विरोध है। यदि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी हैं तो वह बराबरका बँटवारा भी न करेंगे। दूसरे, इस बँटवारेसे कोई लाभ नहीं हो सकता। चार दिनमें फिर कोई धनिक, कोई निर्धन हो जायगा। फिर, समाजवादका उद्देश्य थोड़ेसे लोगोंको गिराना नहीं है, वह सबको उठाना चाहता है। यह उद्देश्य एक बार धनिकोंको लूटनेसे सिद्ध न होगा। एक कहानी है कि एक बार बैरन राथ्सचाइल्डके पास, जो अपने समयमें पृथ्वीके

सबसे अमीर आदमियोंमें थे, दो व्यक्ति आये। वह अपनेको समाजवादी कहते थे। उन्होंने कहना आरम्भ किया कि तुमको इतना धन जमाकर रखनेका कोई अधिकार नहीं है। यह सम्पत्ति गरीबोंको लूटकर एकत्र की गयी है और मनुष्यमात्रमें बँट जानी चाहिये। राथ्सचाइल्ड चुपचाप सुनते जाते थे और कागजपर कुछ गणना करते जाते थे। जब उनकी गणना समाप्त हुई और यह दोनों आगन्तुक भी बोलकर थक चुके तो उन्होंने दोनोंके सामने दो दो पैसे रख दिये। वह बोले यह क्या? राथ्स-चाइल्डने उत्तर दिया—'मैं अभी यह हिसाब लगा रहा था कि यदि मेरी सारी सम्पत्ति पृथ्वीके मनुष्योंमें बाँट दी जाय तो प्रत्येकके हिस्सेमें कितना आयगा। गणनासे दो पैसा आता है। आप अपना भाग ले जाइये, शेष लोग आवेंगे तो उन्हें भी दे दूँगा।' वह लोग कुढ़कर उठ गये। कहानी सच्ची हो या झूठी पर ऐसा बँटवारा समाजवादी बँटवारा न होगा।

निजी सम्पत्तिमें जो वस्तुएँ परिगणित हैं उनकी सूची बड़ी लम्बी है। घर, अन्न, वस्त्र, बाग, सवारी, बैल, भेड़, दूकान, रुपया, कारखाना, जहाज, रेल, सभी निजी सम्पत्ति हो सकती हैं। परन्तु यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि किस किस प्रकारकी वस्तुओंको निजी सम्पत्तिमें गिनना चाहिये। यह देशकाल भेदसे बदलती रहती है। कभी मनुष्योंको गुलाम रखकर उनको सम्पत्ति मानते थे। अपनी स्त्री और बच्चोंको भी सम्पत्ति माननेकी प्रथा थी। प्रथा हो या न हो बहुतसे पुरुष स्त्रियोंको सम्पत्तिकी दृष्टिसे देखते हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें कन्या-दानका जो विधान है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लड़की पिताकी सम्पत्ति मानी जाती थी। पिताकी सम्पत्तिपर सामान्यतः हिन्दुओं या ईसाइयोंमें लड़कीका स्वत्व नहीं होता,

मुसलमानोंमें होता है। रूसमें कल कारखानोंको व्यक्तियोंकी निजी सम्पत्ति नहीं मानते। उससे यह स्पष्ट है कि सम्पत्तिके सम्बन्धमें कोई अकाट्य दैवी या प्राकृतिक नियम नहीं है। जिस जगह और जिस समय जैसा लोकमत होता है और तत्कालीन कानून जिसको स्वीकार कर लेता है वही वस्तु निजी सम्पत्ति हो सकती है। अतः प्रत्येक जनसमूह इस प्रश्नपर स्वतन्त्र विचार करनेका अधिकार रखता है और मौलिक सिद्धान्तोंके आधारपर तथा लोकहितकी दृष्टिसे यह निश्चित कर सकता है कि किन वस्तुओंको निजी सम्पत्तिमें गिना जाय। जो लोग निजी सम्पत्तिकी पवित्रताकी दुहाई देते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि निजी सम्पत्तिका आधार राजकी स्वीकृति है। जैसा कि हाब्सने कहा था 'अधिकार उस माँगको कहते हैं जिसको राज स्वीकार करता है।' यदि आजकलके सभ्य राजोंने पहलेकी अपेक्षा बहुत सी वस्तुओंको निजी सम्पत्तिकी सूचीसे निकाल दिया है तो भविस्यत्के राजभी ऐसा कर सकते हैं।

जो वस्तुएँ निजी सम्पत्तिमें गिनि जाती हैं उनकी तालिका-पर दृष्टि डालनेसे प्रतीत होता है कि वह दो प्रकारकी हैं। कुछ तो ऐसी हैं जो उपभोगकी सामग्री हैं, शेष ऐसी हैं जिनसे अर्थो-पार्जन अर्थात् उत्पादनमें सहायता मिलती है। घर, अन्न, वस्त्र भोग्य वस्तुएँ हैं; खेत, कल-कारखाने, रुपया उत्पादनके साधन हैं यद्यपि रुपया भोग्य-प्राप्तिका भी साधन है।

जहाँतक भोग्य वस्तुओंका सम्बन्ध है समाजवादियोंका और लोगोंसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। अन्न, वस्त्र, पढ़नेकी पुस्तकें, गाने-बजानेकी सामग्री, पलंग, बिस्तरा, कुर्सी, चौकी, मेज, लम्प इत्यादिको निजी सम्पत्ति माना जा सकता

है। बाइसिकिल, मोटर, घोड़ेको भी निजी सम्पत्ति मानना चाहिये। घरके सम्बन्धमें कुछ मतभेद है। कुछ लोगोंकी सम्मति है कि मकान सार्वजनिक सम्पत्ति रहे। पर इन सब भोग्य वस्तुओंके सम्बन्धमें भी एक आवश्यक बात ध्यान देने योग्य है। भोगकी भी मात्रा होती है। किसीको इतना बड़ा मकान रखनेका अधिकार नहीं हो सकता जिसका वह उचित उपभोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई अनुचित मात्रामें अन्न वस्त्रादिका भी संग्रह नहीं कर सकता। क्या अनुचित है और क्या उचित इसका निर्णय वही कर सकता है जो सबसे तटस्थ और सबके ऊपर हो अर्थात् राज। अतः यद्यपि भोग्य वस्तुएँ निजी सम्पत्ति हो सकती हैं पर इस प्रकारकी सम्पत्तिपर भी राजका नियन्त्रण रहना परमावश्यक है। इसलिए समाजवादियोंमें एक कहावत प्रचलित है जबतक सबको रोटी न मिल ले तबतक किसीको मालपुआ नहीं मिल सकता। राजको यह देखना पड़ेगा कि ऐसा न हो कि कुछ लोगोंके पास भोग्य वस्तुओं का भण्डार जमा हो जाय और दूसरे लोग नंगे, भूखे सड़कोंपर मारे मारे फिरें। जबतक ऐसी सामग्री कम है तबतक सबको ही थोड़ा थोड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। युद्धकालमें असमाजवादी सरकारें भी विवश होकर परिसीमन* करती हैं। उनको यह तय कर देना पड़ता है कोई व्यक्ति इतनेसे अधिक अन्न या शक्कर या घी नहीं रख सकता। इस आज्ञाका उल्लङ्घन करने पर कठोर दण्ड दिया जाता है। इस 'रासन' पद्धतिका हम लोगोंको प्रत्यक्ष अनुभव है। परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि शान्तिकालमें भी इसका नियन्त्रण किया जाय। रूसकी

---

* Rationing

सरकार कुछ साल पहले रोटीका परिसीमन करती थी पर अब इसकी आवश्यकता नहीं रही, लोग जितना चाहें रख सकते हैं। अधिकांश सभ्य देशोंमें इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। जिसके पास पैसा हो वह चाहे जितना बड़ा भण्डार जमा कर सकता है, चाहे उसी समय दूसरे लोग उन वस्तुओंके लिए व्याकुल हो रहे हों। आजकल जो अशान्ति छायी हुई है उसका एक बड़ा कारण यही है। लोग दूसरेकी अपार धनराशिको सन्तोषपूर्वक देख सकते हैं पर अपने पास आवश्यक भोग्य सामग्रीका अभाव असह्य हो उठता है।

अब उस सामग्रीको लीजिये जो उत्पादनकी साधक हो सकती है। इसको निजी सम्पत्ति माननेसे जो हानि हो रही है उसका पर्य्याप्त वर्णन पिछले कई अध्यायोंमें आ चुका है। भूमि, बङ्क, रेल, पुतलीघरको निजी सम्पत्ति माननेसे ही पूँजीवाद और साम्राज्यवाद या पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीका समुदय हुआ है। अतः यदि आगेके लिए इस विपत्तिसे बचना है तो उत्पादन, वितरण और विनिमयके मुख्य साधनोंको सार्वजनिक सम्पत्ति ही मानना ठीक है। कोई कृषक चाहे तो फूल-तरकारी बेच सकता है, कोई कारीगर चाहे तो अपने हाथसे चीजें बनाकर बेचे पर कारखाना न बनाने पाये। श्रम अपना हो, दूसरेका नहीं।

तीसरी वस्तु जो निजी सम्पत्ति होती है, रुपया है। रुपया भोग्य-वस्तुओंका प्रापक भी है और पूँजी के रूपमें उत्पादनका भी साधक है। जहाँतक रुपयेसे भोग्य-वस्तुओंको प्राप्त करनेका काम लिया जाता है वहाँतक उसको निजी सम्पत्ति माननेमें कोई हानि नहीं है पर उसको पूँजीके रूपमें नहीं लगने दिया जा सकता।

इस प्रश्नपर एक और दृष्टिसे विचार करना चाहिये। किसीके पास सम्पत्ति कहाँसे आती है? इसके दो ही मुख्य द्वार हैं। या तो मनुष्य कमाकर उसे प्राप्त करता है या अपने पूर्वजोंसे पाता है। परन्तु 'कमाने'का क्या अर्थ है? जो मनुष्य अपने शरीर या मस्तिकसे श्रम करता है वह कमानेवाला कहा जा सकता है पर ऐसी दशामें तो यह होना चाहिये कि जो जितना ही श्रम करे उसके पास उतनी ही सम्पत्ति हो। इसी प्रकार यह होना चाहिये कि जो जितना ही मितव्ययी हो उसके पास उतनी ही सम्पत्ति अधिक हो पर ऐसा होता नहीं। श्रम करके किफायतसे व्यय करनेवालोंके पास बहुत कम सम्पत्ति होती है, श्रम न करनेवाले, जो दोनों हाथों रुपया लुटा सकते हैं, बहुधा सम्पन्न होते हैं। क्या किसी बड़ी कम्पनीका मैनेजिंग डाइरेक्टर या मैनेजिंग एजेन्ट बहुत श्रम करता है? वह जो रुपया जमा करता है वह किस बातका पुरस्कार है? क्या ऐसा माना जा सकता है कि वह बुद्धिसे श्रम करता है? यदि ऐसा है तो यह मानना होगा कि उसकी बुद्धि बड़ी ही तीव्र होती है, पर क्या डाइरेक्टरकी बुद्धि गणितके अध्यापककी बुद्धिसे तीव्र होती है? यदि नहीं तो गणितके अध्यापकको उतना रुपया क्यों नहीं मिलता? यह सब प्रश्न विचारणीय हैं। विचार करनेसे हम इसी परिणामपर पहुँच सकते हैं कि जो बड़ी आमदनियाँ हैं, जिनके आधारपर बड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र की जाती हैं, वह श्रम मात्रका पुरस्कार नहीं है। पूँजीशाही पद्धति, दूसरोंके श्रमसे अनुचित लाभ उठाना, परहितका हनन करना, महाभारतके शब्दोंमें 'पर मर्मको छेदन करना' ही ऐसी आमदनियों और सम्पत्तियोंके जमा होनेको संभव बनाता है। जो लोग सम्पत्ति जमा करते हैं उनको सारे राष्ट्रसे सहायता मिलती है। राज

उनके व्यापार व्यवसायकी सुविधाके लिए सड़क बनवाता है, रेल चलाता है, पुलिस और सेना रखता है। उनके हितके साधक कानून बनाये जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी ओरसे दूसरे राजोंसे लड़ाईतक की जाती है। यह भी जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं, निश्चित है कि यह सम्पत्ति सहस्रों मनुष्योंके शरीरों और मस्तिकोंके श्रमका फल है। अतः कोई एक व्यक्ति इसका स्वामी नहीं माना जा सकता। जहाँ उत्पादनके साधन सार्वजनिक सम्पत्ति होंगे वहाँ तो ऐसी बड़ी आमदनी और सम्पत्ति जमा हो ही नहीं सकती, पर जहाँ ऐसा न हो वहाँ भी पूँजीपतियोंकी आयका बहुत बड़ा भाग टैक्सके रूपमें राजकोषमें जाना चाहिये ताकि राजने उसके संग्रहमें जो सहायता दी है, उसकी क्षतिपूर्ति हो जाय और शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा आदिपर खर्च होकर यह रुपया उन सहस्रों मनुष्योंके पासतक पहुँच जाय जिन्होंने उसको वस्तुतः पैदा किया था। इस नियन्त्रणके साथ लोगोंको अपनी कमायी हुई सम्पत्तिको रखने और भोगनेका अधिकार हो सकता है।

अब पैतृक सम्पत्तिपर विचार कीजिये। आजकल जब कि यह निश्चय नहीं है कि कौन कमा सकेगा और कौन बेकार भिखारी बनकर घूमेगा, यह स्वाभाविकसी बात है कि लोग अपने लड़के बच्चोंके लिए सम्पत्ति छोड़ना चाहें। इसमें कोई सिद्धान्तकी बात नहीं है। लड़कोंका पिताकी सम्पत्तिपर कोई प्राकृतिक हक नहीं है, जो श्रम करे वह सम्पत्तिका उपभोग करे यह बात समझमें आ सकती है। पर बिना श्रम किये ही किसीको भोग-सामग्री मिल जाना तो अनुचित है। यदि किसी व्यक्ति विशेपका पुत्र होनेसे एक मनुष्य सम्पत्ति भोगनेका अधिकारी हो सकता है तो दूसरा मनुष्य मन्त्रीका पुत्र होनेसे मन्त्री, सेनापतिका पुत्र होनेसे सेनापति,

कविका पुत्र होनेसे कवि या गणितके पण्डितका पुत्र होनेसे गणितका पण्डित हो सकता है। पर ऐसा कोई नहीं मानता। सम्पन्नकी सम्पत्तिपर उसके पुत्रका अधिकार भी इसलिये निराधार है। वस्तुतः मरने पर सम्पत्ति सार्वजनिक हो जानी चाहिये। यदि सबको काम देने और भरण पोषणका भार राज अपने ऊपर ले ले तो पिताकी सम्पत्ति पुत्रको मिलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सम्पन्न पिताकी सन्तान होनेसे उसको यों ही कई प्रकारका फायदा पहुँच चुका होगा। पर जबतक राज इतना दायित्व अपनेपर नहीं लेता तबतक पैतृक सम्पत्तिकी प्रथा भी रहेगी। फिर भी नियन्त्रण करना होगा। जितनी सम्पत्ति कोई व्यक्ति छोड़ जाय वह सबकी सब उसके लड़कोंको मिले यह कोई आवश्यक बात नहीं है। यूरोपकी असमाजवादी सरकारें भी इस बातको मानती है। कई देशोंमें मृत्यु कर* या उत्तराधिकार कर† लिया जाता है। जब कोई मरता है तो उसके उत्तराधिकारियोंको उसकी छोड़ी हुई सम्पत्तिपर एक विशेष टैक्स देना पड़ता है। सम्पत्ति जितनी ही अधिक होती है, टैक्सकी दर भी उतनी ही ऊँची होती है। इस नियन्त्रणके साथ पैतृक सम्पत्तिका भी उपभोग किया जा सकता है। रूसमें ही इस समय समाजवादी शासनका प्रयोग हो रहा है। वहाँ इन बन्धेजोंके साथ निजी सम्पत्ति भोगनेकी व्यवस्था है।

हमने सम्पत्तिके दो भेद किये हैं भोग्य और उत्पादक। कुछ लोग भोग्यको वैयक्तिक[1] और उत्पादकको निजी[2] सम्पत्ति कहते हैं। उनकी शब्द योजनाके अनुसार वैयक्तिक सम्पत्ति उचित और निजी सम्पत्ति अनुचित है।

---

* Death duties. † Succession tax. 1 Personal. 2 Private.

सम्पत्तिके सम्बन्धमें समाजवादियोंका जो मन्तव्य है वह ऊपर कही हुई बातोंसे स्पष्ट हो जाता है। उनका विश्वास है कि उत्पादक सम्पत्ति वस्तुतः सामाजिक सम्पत्ति है अर्थात् उसके उत्पादनमें सारे समाजका हाथ रहा है। अतः वह चाहते हैं कि ऐसी सम्पत्ति सार्वजनिक रहे। इसके साथ ही वह चाहते हैं कि भोग्य सम्पत्तिकी खूब वृद्धि हो। किसी मनुष्यको भोजन, वस्त्र, घरका अभाव न हो, सबका जीवन सुखमय हो, सबको विद्योपार्जन, ललितकलाऽस्वाद, अपनी रुचिके अनुसार दर्शन, विज्ञान, राजनीतिके गूढ़ प्रश्नोंपर विचार करनेकी फुर्सत प्राप्त हो। पर यह तभी हो सकता है जब उत्पादक सामग्री सार्वजनिक हो और सबको लाभ पहुँचाये। आज ऐसा नहीं है। इसीलिए इतनी अशान्ति है। जो नंगे, भूखे, अनिकेतन हैं वह धनिकोंकी अट्टालिकाओं और धन धान्यपूर्ण भण्डारोंको सतृष्ण एवं सक्रोध दृष्टियोंसे देखते हैं। उनकी तृष्णा स्वाभाविक और क्रोध न्याय्य है। जब तक यह वैषम्य रहेगा तबतक शान्ति नहीं हो सकती। ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके ही तो संस्कृतके किसी कविने कहा है—

अशनं वसनं वासो, येषाञ्चैवाव्यवस्थितम्।
मगधेन समा काशी, गङ्गाऽप्यङ्गार-वाहिनी॥

(जिसके भोजन, वस्त्र और निवासकी व्यवस्था नहीं है उसके लिए काशी मगधके समान है और गङ्गामें शीतल जलके स्थानमें अङ्गारोंकी धारा बहती है)।

हम ऊपर कह आये हैं कि समाजवादी इस बातके विरोधी नहीं हैं कि भोग्य वस्तुएँ लोगोंकी वैयक्तिक सम्पत्ति बनें। यह बात व्यवहारकी दृष्टिसे तो ठीक है पर सिद्धान्तसे नहीं। अभी तो बहुत दिनोंतक ऐसा ही होगा कि समाजवादी देशोंमें भी

लोग भोग्य वस्तुओंका संग्रह करेंगे। लोग काम करेंगे, उसके लिए पारिश्रमिक मिलेगा, उससे सम्पत्ति इकट्ठी होगी। पर यह बीचकी अवस्था है जब समाजवादी पद्धति सर्वत्र पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो पायी होगी। आगे चलकर जब यह व्यवस्था प्रौढ़ हो जायगी तब लोग स्वतः अपनी शक्ति और योग्यता भर श्रम करेंगे। इसके लिए उनपर दबाव डालनेकी आवश्यकता न होगी। इस श्रमके फलस्वरूप सभी भोग्य वस्तुओंकी राशियाँ एकत्र हो जायँगी। उनका परिमाण इतना होगा कि सबके लिए पर्याप्त हो। कोई मनुष्य मजदूरी न चाहेगा। अपने काम भर भोग्य सामग्री सार्वजनिक भण्डारसे उठा ले जायगा। सबके लिए सामग्री पर्याप्त होगी और सभी लोग लोकहितके भावसे प्रेरित होंगे, इसलिए यह आशंका न रहेगी कि कोई ऐसी वस्तु ले जायगा जिसकी उसको आवश्यकता न हो या अपनी आवश्यकतासे अधिक उठा ले जायगा। संग्रह करनेके लिए कोई प्रलोभन न होगा क्योंकि संग्रह करना अनावश्यक होगा। उस समय न किसी प्रकारके दबाव डालनेकी जरूरत होगी न कानून बनानेकी। सम्पत्ति संग्रहकी प्रथा आपसे आप ही धीरे धीरे मिट जायगी। सार्वजनिक सम्पत्ति किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति न होगी पर उत्पादक हो या भोग्य वह सबकी सम्पत्ति होगी। उसी समय समाजवादका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त फलीभूत होगा—प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी योग्यताके अनुसार; प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार।

चौदहवाँ अध्याय

राजका स्वरूप

राजसत्ताके सम्बन्धमें पिछले अध्यायोंमें भी थोड़ा बहुत जिक्र आया है किन्तु यहाँ इस विषयपर किञ्चित् विस्तारसे विचार करना आवश्यक है। बहुतसे लोगोंमें यह धारणा है कि समाजवादी राजसत्ताके विरोधी हैं। यदि उनके हाथमें अधिकार आया तो न राज* रह जायगा, न सरकार रह जायगी। प्रत्येक मनुष्य स्वच्छन्द हो जायगा। जिसके जीमें जो आयेगा करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसीके जानमालकी रक्षाका भरोसा न होगा।

बहुत-सी धारणाओंकी भाँति यह खयाल भी निर्मूल है। ऐसी स्वच्छन्दताका परिणाम यह होगा कि सभ्यता तथा संस्कृति धूलिमें मिल जायगी और पृथ्वी हिंस्र पशुओंसे संकुल वनस्थली हो जायगी। समाजवादी यह नहीं चाहता इसलिए वह राज-सत्ताको मिटादेनेकी बात इस तरह नहीं करता। अराजकता-वाद† के आचार्य प्रिंस क्रोपाट्किन आदि भी इस प्रकारकी जंगली उच्छृंखलताके पक्षपाती नहीं थे।

परन्तु यह सत्य है कि जिस प्रकारके राज आजकल हैं, चाहे उनमें किसी नरेश या अधिनायकके हाथमें अधिकार हो या किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभाके, उनसे समाजवादी सन्तुष्ट नहीं है। वह उस सिद्धान्तको नहीं मानता जिसके आधारपर यह राज चल रहे हैं। वह जितना ही भयावह और हानिकर

---

* The State † Anarchism.

वर्गयुद्ध, पूँजीवाद तथा साम्राज्यशाहीको समझता है उतना ही बुरा वर्तमान राज-व्यवस्थाको समझता है। उसका विश्वास है कि आजकलके राजोंका अस्तित्व शान्तिका प्रबल विरोधी है। राजनीति-शास्त्रके बहुतसे पण्डितोंका यह कहना है कि मनुष्यके विकासके लिए राज होना आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी राजका नागरिक नहीं है, उसके बहुतसे नैतिक और आध्यात्मिक गुण मृत्यु पर्यन्त आलीन रहते हैं। बिना नागरिकताके कर्तव्यों और अधिकारों का अनुभव किये मनुष्य अपूर्ण रहता है। समाजवादी ऐसा नहीं मानता। उसका विश्वास है कि वर्तमान राजसत्ता, जो आजकी नहीं वरन् हजारों वर्षसे चली आ रही है, मनुष्यके विकासको रोकने और उसे अपूर्ण रखनेका प्रबल साधन है। वह उसे मिटाना चाहता है पर उसके स्थान पर दूसरे भवनका निर्माण भी करना चाहता है।

राजकी अनेक परिभाषाएँ हैं। उनमेंसे एक यह है कि सरकार और प्रजाके रूपमें सङ्घटित राष्ट्रको राज कहते हैं। इसके व्यावहारिक अर्थ तो निकल आता है पर राजका पूरा पूरा स्वरूप प्रकट नहीं होता। कुछ विद्वानोंका यह कहना है कि इसके सिवाय और कुछ स्वरूप है भी नहीं। उनके मतमें किसी देश-विशेषके निवासियोंकी उस संस्थाका नाम राज है जिसके द्वारा उनकी सम्मिलित शक्तिका राजनीतिक उपयोग हो सके। साधारण बोलचालमें भी लोग ऐसा ही समझते हैं। राजका अर्थ सरकार होता है। परिभाषामें भले ही सरकार और जनताका संयुक्त नाम राज हो पर लोग ऐसा ही मानते हैं कि प्रजासे पृथक् और उसके ऊपर जो सत्ता है, उसका ही नाम राज या सरकार है।

दूसरी ओर वह विद्वान् हैं जिन्होंने इस विषयका दार्शनिक दृष्टिसे गम्भीर अध्ययन किया है। वह राज शब्दको बहुत व्यापक अर्थमें लेते हैं। बर्नर्ड बोजांकेट अपनी 'फिलॉसाफिकल थियरी ग्राव दि स्टेट'में लिखते हैं "राज केवल राजनीतिक संस्था नहीं है वरन् वह उन सब छोटी बड़ी संस्थाओंकी समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। इसमें परिवार, व्यापार, सम्प्रदाय, विश्वविद्यालय सभी अन्तर्भूत हैं। राज ही वह वस्तु है जो इन सभोंको सजीव और सार्थक बनाता है।" प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल जो बाजांकेटके दार्शनिक गुरु थे, राजकी प्रशंसासे गद्यकाव्यकी रचना करने लग जाते हैं। उनके अनुसार मनुष्यको राजके द्वारा ही आध्यात्मिक सत्यता प्राप्त होती है। वह कहते हैं 'विश्वात्मा पृथ्वीपर अपने स्वरूपका ज्ञानपूर्वक अनुभव राजके रूपमें करता है। राजकी सत्ता जगतमें ईश्वरकी गति है।'

यह तो राजका स्वरूप हुआ। राजसत्ता पृथ्वीपर है कबसे ? कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आदिकालमें किसी प्रकारका राज न था। सब लोग स्वच्छन्द रहते थे। पर जब बलवानों और बलहीनोंका सङ्घर्ष बढ़ा तो लोगोंने सम्मिलित होकर इस संस्थाको जन्म दिया ताकि यह सबके ऊपर रहे और निष्पक्ष होकर न्याय करे अर्थात् सबके हकोंकी रक्षा करे। राज लोगोंके आपसके समझौतेका फल है। काम चलानेके लिए लोगोंने अपनी स्वच्छन्दताका कुछ अंश राजशक्तिके रूपमें राजको सौंप दिया। इसके विरुद्ध दूसरे लोगोंका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है। आदि या अनादिकालसे ही मनुष्य-समुदाय राजके रूपमें संघटित है।

राजकी शक्तिका आधार क्या है ? समझौता तो जब हुआ तब हुआ पर इस समय लोग राजका नियंत्रण क्यों मानते हैं ? क्या मनुष्य इस दैवी संस्थाका गुलाम है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि मनुष्य गुलाम नहीं है पर उसकी स्वतन्त्रता इसी बातमें व्यक्त होती है कि वह राजका समर्थन करता है। यह समर्थन स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। हम राजका समर्थन इसलिए करते हैं कि हमारी इच्छा वही होती है जो राजकी इच्छा होती है। पर ऐसा अनुभव तो सदैव नहीं होता। बहुतसे अवसरोंपर तो ऐसा प्रतीत होता है कि राजकी इच्छा हमारी निजी इच्छाके एकदम विरुद्ध है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि ऐसी प्रतीति इसलिए होती है कि हमको अपनी वास्तविक इच्छाका* सदैव अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि हमारी वास्तविक इच्छापर क्षण क्षणमें राग द्वेष, आवेश आदिका पर्दा पड़ जाया करता है। फिर उसके जाननेकी विधि क्या है ? इसका उत्तर बोजांकेट यों देते हैं—'अपनी वास्तविक इच्छाको ठीक ठीक जाननेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षण विशेषकी इच्छाका संशोधन अपने अन्य क्षणोंकी इच्छाओंके द्वारा करें। पर हमारी इच्छा अन्य लोगोंकी इच्छासे टकराती है अतः हमको अपनी इच्छाका संशोधित रूप तभी प्राप्त हो सकता है कि जब हम उसका जोड़ दूसरोंकी इच्छाओंके साथ बैठा सकें। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरोंकी क्षणिक इच्छाओंका संशोधन उनकी अन्य क्षणोंकी इच्छाओं द्वारा कर लें।' यह सारी प्रक्रिया तर्कशास्त्रके अनुकूल होगी पर इस प्रकारके संशोधनोंके बाद हमारी इच्छाका जो रूप हमारे सामने आयेगा हम उसको पहिचान ही न सकेंगे। बोजांकेटके अनुसार

---

* Real Will.

यही रूप जो पहिचाना नहीं जा सकता हमारी वास्तविक इच्छा-का स्वरूप होगा। यह वास्तविक इच्छा एक व्यक्तिकी नहीं, सभी मनुष्योंकी, जो पागल नहीं है, इच्छा होगी। इसी बातको उसने मेटाफिज़िकल थियरी आव दि स्टेटमें संक्षेपमें यों लिखा है 'हम नैतिक दृष्ट्या उसी समय स्वतन्त्र होते हैं, जब हमारे काम हमारी वास्तविक इच्छाके अनुसार होते हैं, हमारी वास्तविक इच्छा जन-सामान्यकी इच्छा† है और जन-सामान्यकी इच्छा पूर्णरूपेण राजसत्तामें मूर्त होती है।'

यह बातें बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण और बुद्धिवर्द्धक हैं। पहले तो इनको समझना कठिन है, शब्दयोजनाको पार करके अर्थतक पहुँच जाना सबका काम नहीं है। अर्थ गम्भीर है और उसको अपनानेमें बुद्धि चकरा जाती है। पर समझ लेनेके बाद मनुष्यको यह आश्चर्य होता है कि यह किस लोककी बातें हैं। राजसत्ता द्वारा विश्वात्मा जगतमें अपनी अनुभूति करता है। राजकी सत्ता जगतमें ईश्वरकी गति है। यह बातें किस राजके सम्बन्धमें फलीभूत होती हैं। हम यह मान सकते हैं कि परि-भाषामें व्यापक शब्दोंका प्रयोग होता है। शास्त्रका नियम है कि परिभाषामें अव्याप्ति दोष नहीं आना चाहिये। यदि हमको मनुष्यकी परिभाषा करनी हो तो हम किसी विशेष रङ्ग या लम्बाईका उल्लेख नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्य कई रङ्गों और लम्बाइयोंके होते हैं। पर इसके साथ ही यह भी शास्त्रीय नियम है कि परिभाषामें असम्भव दोष नहीं आना चाहिये अर्थात कोई ऐसा लक्षण नहीं बताना चाहिये जो किसी व्यक्तिमें न पाया जाय। यह कह देनेसे कि मनुष्यको सींग होती है असम्भव दोष आ जायगा। ऊपर विद्वानोंने राजकी जो कुछ

† General Will.

गाथा गायी है उसमें असम्भव दोषका प्राचुर्य है। जहाँतक इतिहासकी गति है, अतीतकाल या वर्तमानकालके किसी भी राजको देखकर ऐसा कहते नहीं बनता। कमसे कम उस भावमें तो इन शब्दोंका प्रयोग करना कठिन है जो इनके रचयिताओं का था। राजमें उत्पीड़न, वर्गसङ्घर्ष, दारिद्रयके साथ साथ संस्कृति, सभ्यता उन्नति भी देख पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि सुख दुखः, भला बुरा सभी विश्वात्माका स्वरूप है, सभी ईश्वरकी गति है पर इसको ज्ञानपूर्वक स्वानुभव नहीं कह सकते। यदि हो भी तो इससे किसी व्यथित हृदयको शान्ति नहीं मिल सकती। इससे इतना भी तो नहीं निकलता कि यदि सारी पृथ्वीपर एक राज हो जाय तो दैवी गति बदल जायगी और उत्पीड़नका अन्त हो जायगा। फिर भी प्रबल राज इस परिभाषाको बहुत पसन्द करते हैं। इससे उनको दार्शनिक आधार मिल जाता है। राजको जीवनके सभी अङ्गोंमें हस्तक्षेप करनेका बहाना मिल जाता है और जो व्यक्ति राजकी इच्छाको, जो किसी भी समय विशेषमें वस्तुतः सरकार अर्थात् ऊपरके दो चार या एक व्यक्तिकी इच्छा होती है, पसन्द नहीं करता उससे यह कहा जा सकता है कि यही तुम्हारी भी वास्तविक इच्छा है पर तुम अपने अज्ञानवश इसे पहचानते नहीं हो। ऐसा कहकर राज सबका मुँह बन्द कर सकता है और अपने राज्यके भीतर उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् और निरङ्कुश हो सकता है जैसा कि इस जगत्में ईश्वर माना जाता है। स्यात् इसीको ज्ञानपूर्वक स्वरूपका अनुभव कहते हैं। इस सर्वशक्तिमत्ताको ही प्रभुत्व* कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक स्वतन्त्र राज पूर्णप्रभु होता है। वस्तुतः कोई राज पूर्णप्रभु नहीं होता क्योंकि यदि

* Sovereignty.

और कुछ नहीं तो दूसरे स्वतन्त्र राजोंका अस्तित्व पूर्ण प्रभुत्वका बाधक होता है और फिर राज्यके भीतर भी प्रायः सदैव कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो राजेच्छाको अपनी इच्छा मानकर चुप बैठनेको तैयार नहीं होते। फिर भी प्रत्येक राज अपने सामने यही आदर्श रखता है।

समाजवादी अपनेको इस दार्शनिक जङ्गलमें खोना नहीं चाहता। वह बौद्धिक व्यायाम करनेके पहले वर्तमान राजोंके स्वरूपका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषणके परिणामका इतिहासके प्रकाशमें अध्ययन करता है। इस अध्ययनका जो नतीजा निकलता है उसको सामने रखकर वह राजकी प्रशस्ति गानेमें अपनेको असमर्थ पाता है। राजकी इच्छाको अपनी या जनसामान्यकी वास्तविक इच्छा मानना तो दूर रहा उसको ऐसा प्रतीत होता है कि राजेच्छा बहुधा जनसामान्यकी इच्छाके विरुद्ध चलती है और राजकी शक्तिका आधार जनता द्वारा समर्थन नहीं प्रत्युत बल है। वह राजके अस्तित्वको अपने आध्यात्मिक विकासका एकमात्र साधन न पाकर विकासके मार्गमें कण्टकवत् देखने लगता है। यहाँ हम संक्षेपमें समाजवादके आचार्य्योंका मत राजके सम्बन्धमें देना उचित समझते हैं।

पहले तो यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि राज पृथ्वीके आदिकालसे या यों कहिये कि पृथ्वीपर मनुष्यके आनेके समयसे चला आता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है। यह तो ठीकही है कि आरम्भकालसे ही मनुष्य छोटी बड़ी टुकड़ियोंमें रहते होंगे। मनुष्य जैसा प्राणी जिसको न दाँतका अवलम्ब है न पञ्जेका, किसी अन्य उपायसे बनैले पशुओंसे अपनी रक्षाकर नहीं सकता था। यह भी निर्विवाद है कि जहाँ दो व्यक्ति एक साथ रहते हैं वहाँ भी आपसमें बरतनेके लिए कुछ नियम बन

जाते हैं अतः उस प्राचीन कालके मानव समुदायोंमें भी आपसके व्यवहारके लिए कुछ न कुछ नियम अवश्य रहे होंगे। पर न तो ऐसे समुदायोंको राज कह सकते हैं, न उन नियमोंको कानूनका नाम दिया जा सकता है। पशु-पक्षियोंके भी समुदाय होते हैं पर उनको कोई राज नहीं कहता। आत्मरक्षाकी सहज प्रवृत्ति समुदायके राजनीतिक जीवनकी रक्षा करती है। भैसों और गायोंके झुण्डपर जब किसी बनैले हिंस्र पशुके आक्रमणकी आशङ्का होती है तो बछड़ों और गायोंको बीचमें करके सब नर घेरा बाँधकर खड़े हो जाते हैं ताकि शत्रु जिधरसे आये उसे सींगोंका सामना करना पड़े। घोड़े और गधे पिछली टाँगोंको बाहर करके खड़े होते हैं ताकि शत्रुको लात मार सकें। आरम्भमें मनुष्यके जीवनमें इससे अधिक राजनीतिका समावेश नहीं था। सार्वजनिक शत्रुओंका सामना करनेके लिए सहज प्रवृत्ति सबको खड़ा कर देती थी। कोई न कोई नेता भी रहता होगा। भेड़ियोंके गोलमें भी जो भेड़िया अधिक बलवान और चतुर होता है वह स्वतः नेता बन जाता है और दूसरे उसके पीछे पीछे चलते हैं। पर इसमें न कोई संघटन है न नेताके दैवी आधिपत्य माननेकी बात है, न उसकी आज्ञाको अनिवार्यतया मानना है। प्राचीन मनुष्य समाजमें भी ऐसा ही रहा होगा। पशु-पक्षीयोंमें भी आपसमें बरतनेके नियम होते हैं और जो उन नियमोंको तोड़ता है उसे सब मिलकर दण्ड देते हैं। यों कह सकते हैं की उस पशु या पक्षीसमुदायका लोकमत नियमके उल्लङ्घन करनेवालेको दण्ड देता है। यह नियम समुदायके अनुभवके आधारपर आपही बन गये हैं अर्थात् इनके पालनसे समुदाय सुव्यवस्थित और चिरजीवी रह सकता है अतः यह समुदायके प्रायः प्रत्येक प्राणीकी मनःप्रवृत्तिके

अविच्छेद्य अङ्ग हैं। परन्तु कानूनमें यह बात नहीं होती। कानूनकी परिभाषा यह है कि वह ऐसी आज्ञा होती है जिसके साथ दण्ड लगा होता है। 'चोरी मत करो, अन्यथा अमुक अमुक दण्ड पाओगे' यह कानूनका रूप है। पशु समाजमें ऐसे कानून नहीं होते, प्राचीन मनुष्य समाजमें भी न रहे होंगे, क्योंकि कानूनके लिए कोई बनानेवाला, नियामक, आज्ञा देनेवाला चाहिये। ऐसा नियामक न पशु समाजमें है, न पुराने मनुष्य समाजमें था। यह नहीं कह सकते कि कानून उन प्राकृतिक नियमोंके समान हैं जिनसे समुदायकी रक्षा होती है, इसलिए वह सबके हृदयमें आपही उत्पन्न हो जाते हैं। 'चोरी न करो' तो स्यात् ऐसा नियम माना जाता पर 'सड़कपर अपने बायें हाथ चलो' मनुष्य समुदायके लिए प्राकृतिक नियम नहीं है। यह तो किसी नियामकका ही बनाया हुआ है।

यह अवस्था कबतक चली गयी यह नहीं कहा जा सकता पर बुद्धिप्रधान मनुष्य पशुपक्षियोंकी भाँति सदा एक ही अवस्थामें तो रह नहीं सकता। उसने कच्चे मांसकी जगह पका भोजन खाना सीखा, खेती करना सीखा, पशु पाले, मकान बनाये, पृथ्वीके गर्भसे खनिजोंको निकालना और उनको गलाना तथा ढालना सीखा। मनुष्य समुदायका स्वरूप जटिल और जटिलतर होता गया। श्रमविभाग हुआ। कुछ लोग एक काम, कुछ दूसरे काममें लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहिले सब बराबर थे, वहाँ अब सम्पत्ति-वैपम्य हो गया। किसीके पास अधिक सम्पत्ति थी, किसीके पास कम। स्वभावतः वह लोग अधिक सम्पन्न थे जिनके पास भूमि थी। उनकी बराबरी यदि कर सकते थे तो वही लोग कर सकते थे जो भूलोकका स्वर्लोकसे सम्बन्ध जोड़ सकते थे। यह पुरोहित सर्वश्रेष्ठ

थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि समुदायमें आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हुआ। इनके साथ हैसियत, दर्जेमें भी वैषम्य हुआ। यह ऊँचा है, यह नीचा है ऐसा भाव दृढ़ होने लगा। जहाँ पहिले कोई बलवान् व्यक्ति कभी कभी अपनेसे दुर्बलोंको कुछ तङ्ग कर लेता होगा वहाँ अब बलवानोंका वर्ग बन गया और इस वर्गने दूसरोंको उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। अब नेतृत्व भेड़ियों या प्राचीन मनुष्योंकी भाँति अपनी चतुरता या अपने बाहुबलके आधारपर नहीं मिलता था वरन् अपने वर्गके आधार पर। यही संस्कृत ग्रंथोंमें प्रशस्त 'अभिजन बल' है। इधर उत्पीड़कोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए दूसरोंको भी फिक्र हुई। यदि यह वर्गयुद्ध यों ही अव्यवस्थित रूपसे चला जाता तो उत्पीड़ितोंका तो संहार हो ही जाता, इसके बाद उत्पीड़क भी खत्म हो जाते और समुदाय ही न रह जाता। ऐसी परिस्थितिमें राजका जन्म हुआ है।

पुराणोंमें राजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो कथा दी है वह भी इसी बातका समर्थन करती है। ऐसा लिखा है कि पहिले कोई राजा न था। लोग आपसमें मिलकर रहते थे। परन्तु कुछ दिनोंके बाद यह अवस्था बदली। बलवान लोग दुर्बलोंको 'मात्स्यन्यायेन' खाने लगे अर्थात् उसी प्रकार खाने लगे जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं। यह रूपक ध्यान देने योग्य है। शोषक और शोषितमें यही मात्स्य-न्याय बरता जाता है। युक्त प्रान्तके कई बड़े जमीनदार कृषकोंको अपना 'आहार' कहते सुने गये हैं। अस्तु, इस परिस्थितिमें त्रस्त होकर सबने मनुसे प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनिये। इस प्रकार प्रथम राजकी सृष्टि हुई।

परन्तु राजने उत्पन्न होकर किया क्या? वह वस्तुतः थी क्या? ऊपरजो कुछ लिखा गया है उससे तो यही धारणा होती है कि राज उत्पीड़ित और उत्पीड़क दोनोंसे पृथक् और दोनोंके ऊपर एक ऐसी सत्ता थी जो दोनोंमें न्याय करनेके लिए स्थापित हुई थी। मनु न तो बड़ी मछली थे, न छोटी मछली। उनका काम दोनों प्रकारकी मछलियोंके बीच न्यायका पड़ला बराबर रखना था। न्यायका अर्थ भी यही होसकता है कि सबको अपना अपना हक प्राप्त हो। आजकल भी राजोंका यही दावा है कि वह निर्बल और सबल, उत्पीड़क और उत्पीड़ित, के बीच न्याय करते हैं। इसी दावेके आधारपर वह जन साधारणसे निरपेक्ष राजभक्ति तलब करते हैं और बहुधा पा भी जाते हैं। पर एक बात विचारणीय है। क्या सचमुच राज इस प्रकारका न्याय करता है? यदि न्यायका अर्थ सबको अपना अपना हक दिलवाना है तो राज उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनोंको अपना अपना हक दिलवाता होगा। परन्तु उत्पीड़कका हक कैसा होता है? जो लुट रहा हो उसकातो हक मारा जारहा है अतः उसकी रक्षा होनी चाहिये पर लूटनेवाले डाकूका कौनसा हक है जो उसको दिलवाया जायगा? अतः यदि राज न्यायपर तुला था तो उसके लिए एक मात्र यही मार्ग था कि वह उत्पीड़ितोंका, छोटी मछलियोंका साथ देता। पर यदि राजने ऐसा किया होता तो बड़ी मछलियाँ बच ही न जातीं। इक्का दुक्का दुष्प्रकृति मनुष्य रह सकता था। वह चाहे कितना भी चतुर या बुद्धिमान् क्यों न होता पर उसके लिए तो लोकमत पर्य्याप्त था। उससे तो लोग उसी प्रकार निपट लेते जैसे पशु समुदाय अपनेमेंसे दुष्ट प्रकृतिवालोंसे निपट लेता है। आज भी यदि कोई बदमाश खुले बाजारमें किसी स्त्रीको छेड़ता है या किसी

बच्चेका जेवर उतारना चाहता है तो राजकी सहायताके बिना ही लोग उसे ठीक कर देते हैं। परन्तु हम पिछले अध्यायोंमें देख आये हैं कि उत्पीड़क या शोषक तो अब भी संघटित वर्गोंमें विद्यमान हैं, पहले भी, जहाँतक इतिहाससे पता चलता है, विद्यमान थे। राजके रहते हुए इस प्रकारके वर्गोंके अस्तित्वके दो ही अर्थ हो सकते हैं—या तो राजका दावा झूठा है, उसने निष्पक्ष होकर उत्पीड़ितोंके हककी रक्षा करनेका प्रयत्न ही नहीं किया या परिस्थिति ऐसी है कि राज अपने वर्तमान स्वरूपसे इस प्रकारका प्रयत्न कर ही नहीं सकता या करके सफल नहीं हो सकता। दोनों ही अवस्थाओंमें यह विचारणीय प्रश्न होगा कि आया मनुष्यके लिए राजका भार ढोना श्रेयस्कर है या नहीं।

वस्तुस्थिति यह है कि आजतक न तो राजने इस प्रकारका न्याय करना अपना कर्तव्य समझा, न इसके लिए प्रयत्न किया, यद्यपि लोगोंके सामने बराबर इसकी दोहाई दी जाती थी और है। राज वस्तुतः वर्गसङ्घर्षको, मात्स्यन्यायको, मिटानेके लिए नहीं वरन् उसको सुव्यवस्थित करनेके लिए स्थापित हुआ। व्यवस्थाके अभावमें जैसा कि मैंने पहले कहा है, उत्पीड़क भी न रह जाते। आवश्यकता इस बातकी थी कि बड़ी मछलियोंको आहार मिलता रहे, इसलिए छोटी मछलियाँ संख्यामें भी काफी हों और मोटी ताजी भी हों। इसके साथ ही यह भी देखना था कि वह इतनी बलवान् न हो जायँ कि बड़ी मछलियोंका मुकाबिला करने लग जायँ। सबसे बड़ी बात यह थी कि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि वह अपनी अवस्थासे सन्तुष्ट रहें ताकि नित्य प्रत्यक्ष रूपसे खून खराबा न करना पड़े। यह सब काम राजके द्वारा हो गया। यह प्रबन्ध कुछ कुछ उसी ढङ्गका था जो एक पुरानी कहानीमें सुना गया है। किसी जङ्गलमें एक

सिंह था जो वहाँके पशुओंको बराबर मारा करता था। इससे उनकी संख्या बहुत क्षीण हो चली। अन्तमें यह समझौता हुआ कि सिंह आप कष्ट न करे, पशुगण पञ्चायत करके नित्य अपनेमें से एकको उसके पास भेज दिया करें। सिंहका भी बिना परिश्रमके पेट भरता रहे, पशुओंका भी अनावश्यक संहार न हो। इतना ही नहीं, उनको यह सन्तोष भी रहा होगा कि हमपर कोई दबाव नहीं है, यह न्यायपूर्ण बराबरीका समझौता है और हम अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जिसको चाहते हैं चुनकर भेज देते हैं। सम्भवतः जिसकी बारी होती होगी वह भी अपनेको समझा लिया करता होगा कि यद्यपि इस समय मैं मरनेसे घबरा रहा हूँ पर मेरी वास्तविक इच्छा, जिसका मुझे खुद पता नहीं है, यही है कि मैं आज सिंहके हाथसे मारा जाऊँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि राज वस्तुतः शोषकवर्गके अधिकारोंकी रक्षाका साधन है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह अधिकार उन्होंने आप अपनेको दे लिया है। राजके भीतर जो कानून चलते हैं वह शोषक वर्गके बनाये होते हैं और उनका उद्देश्य इस वर्गके आधिपत्यको अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। राजकी इच्छा वस्तुतः जनताकी वास्तविक इच्छा नहीं है। इस जनता शब्दसे जनसाधारण अर्थात् यदि देशके सब निवासी नहीं तो उनमें से बहुत बड़े भागका बोध होता है। पर बहुत बड़ा भाग तो उन्हीं लोगोंका है जो उत्पीड़ित या शोषित हैं। एक ओर राजकी, अर्थात् मुट्ठीभर उत्पीड़कोंकी, वास्तविक इच्छा, दूसरी ओर जनताकी, अर्थात् बहुसंख्यक उत्पीड़ितोंकी वास्तविक इच्छा—यह दोनों इच्छाएँ कदापि एक नहीं हो सकतीं, क्योंकि इन दोनों वर्गोंके हित पृथक् पृथक् हैं।

यह कहा जा सकता है कि विदेशी आक्रमणके सामने सबके

हित एक हो जाते हैं। इसमें सन्देह है। यदि शत्रु ऐसा हुआ जो मजहबके नामपर लोगोंके जीवनमें हस्तक्षेप करता है तब तो सम्भव है कि सबकी इच्छाएँ पूर्णतया एक हो जायँ अन्यथा ग़रीब जनताको अल्पकालीन लूटपाटका भले ही भय हो पर उसके लिए 'कोउ नृप होय हमैं का हानी, चेरि छाँड़ि न कहाउब रानी' वाली बात चरितार्थ है। इनके विपरीत जो अधिकार-युक्त शोषक वर्ग हैं उसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न हो जाता है, क्योंकि उसका अधिकार सदाके लिए छिन जानेका डर रहता है, अतः वह सचमुच प्राणपणसे लड़ता है। अन्य लोगोंकी देशभक्ति बहुत ही कच्ची होती है। राजपुतानेके इतिहासपर हिन्दुओंको बड़ा गर्व है। यह गर्व अनुचित नहीं है पर इस इतिहासमें राजपूतोंको छोड़कर दूसरे हिन्दुओंकी देशभक्तिकी कथा कम ही मिलती है। सारा रोना यह है अपने-अपने राज्यमें शिशोंदियों, कछवाहों, राठौरों, झालोंकी हुकूमत बनी रहे।

जिन देशोंमें लोकतन्त्र शासन है उनमें राजेच्छा और जनताकी इच्छामें कोई भेद नहीं प्रतीत होता, क्योंकि राजका परि-चालन सबकी रायसे होता प्रतीत होता है। पर यह भी एक धोखेकी टट्टी है। जहाँ भिन्न-भिन्न वर्गोंमें इतनी आर्थिक विषमता हो वहाँ लोकतन्त्र एक विडम्बना मात्र है। जैसा कि डेलाइल बर्न्सने डेमाक्रेसीमें कहा है 'दरिद्रता लोकतन्त्रको असम्भव और स्वयं सभ्यताको दूषित बना देती है। दरिद्रतासे तात्पर्य है भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चित्तकी शान्तिकी उस कमीसे जिसके कारण मानव-जीवन सम्भव नहीं हो सकता। ·······जो मनुष्य भूख या सर्दीसे तड़प रहा है और बराबर इस चिन्तामें जल रहा है कि उसको और उसके बच्चोंको रोटियाँ

मिलेंगी या नहीं वह इस अवस्थामें ही नहीं है कि अपने प्रतिनिधियोंको चुन सके······· फिर भी चुनाव तो होते हैं। फलतः ऐसे ही लोग प्रायः चुने जाते हैं जिनको शोषक वर्ग बहुत नापसन्द नहीं करता। 'स्वतन्त्र' जनता अपने स्वतन्त्र वोटोंके द्वारा अपने स्वामियोंकी इच्छाका ही समर्थन करती है। पर हाँ, लोकतन्त्रके द्वारा उसको धोखा देना सुकर होता है। यदि उसके मालिक अपने हितके लिए कोई युद्ध छेड़ देते हैं तो भी जनता उसे अपना युद्ध समझकर उनकी ओरसे लड़ती है और प्राण देती है पर इससे हित-सङ्घर्ष या वर्ग-सङ्घर्ष समाप्त नहीं होता। शासकवर्ग जनताको मरनेका अधिकार दे सकता है पर शोषणसे मुक्त होनेका नहीं।'

यह कहना भी गलत है कि जनता राजका समर्थन करती है और यह समर्थन राजशक्तिका आधार है। वस्तुतः राजशक्तिका आधार बल है जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति सेना और पुलिस है। सारे देशकी जनतासे पैसा वसूल किया जाता है और इस पैसेसे सेना तथा पुलिस रखकर उसी जनताको दबाया जाता है। धोखा यह दिया जाता है कि यह चीजें जनताकी रक्षाके लिए हैं। सचमुच यदि रक्षाकी ही बात होती तो थोड़ीसी स्थायी और वेतनभोगी सेनाके बदले समस्त जनता आत्मरक्षाके लिए तैयार की जाती। जिस प्रकार शत्रुके आक्रमणके सामने आत्मरक्षाकी प्रवृत्ति पशु-समुदायोंको तैयार कर देती है, उसी प्रकार सारा समुदाय एक होकर खड़ा हो जाता। मनुष्य न तो सींग मारता है न लात चलाता है अतः लोगोंके हाथमें समयानुकूल शस्त्रास्त्र होते पर सिद्धान्त वही होता। ऐसा न करके प्राचीन कालसे ही राजने जनताको आत्मरक्षाकी जिम्मेदारीसे मुक्त कर दिया। शोषक वर्ग के व्यक्ति और उनके खास साथी ही शस्त्रा-

चलाना जानते थे और यदि आवश्यकता पड़ गयी तो अपनी हुकूमत बनाये रखनेके लिए विदेशियोंसे भी लड़ लेते थे। अन्यथा अपने सङ्गठन और शस्त्राभ्यासके जोरसे सामान्य प्रजाको दबाये रहते थे। लोग हिन्दू वर्ण-व्यवस्थाकी प्रशंसा करनेमें इस बातका बड़े अभिमानसे जिक्र करते हैं कि राष्ट्रकी रक्षाका भार क्षत्रियोंने अपने ऊपर ले लिया था पर यह भूल जाते हैं कि इसका परिणाम यह हुआ कि शेष जनता ऐसी निकम्मी बना दी गयी कि उसे अपनी रक्षा करना भूल ही नहीं गया, रक्षा करनेका भाव भी जाता रहा। औरोंकी बात तो जाने दीजिये, वैश्य तो क्षत्रियोंकी ही भाँति आर्य्य थे पर वह भी शस्त्र चलानेसे इतनी दूर जा पड़े कि 'बणिक पुत्र जाने कहा, गढ़ लेवेकी बात' एक प्रसिद्ध कहावत हो गयी। आजकलकी सेनाओं और पुलिसका वही स्थान है जो पहले सामन्त-सरदारों या क्षत्रिय वर्गोंका था। ज्यों ज्यों वर्गसंघर्ष तीव्र होता जाता है त्यों त्यों सेना और पुलिसका यह रूप और स्पष्ट होता जाता है। यदि सेना बाहरी आक्रमणसे रक्षा करनेके लिए ही है तो उसे भीतरी प्रक्षोभोंका दमन करनेमें हाथ न डालना चाहिये। समाजवादी, असमाजवादी, पूँजीपति, मजदूर कोई भी वर्ग आपसमें आधिपत्यके लिए लड़ते हों, सेनाको तटस्थ रहना चाहिये पर ऐसा होता नहीं। पुलिस भी केवल चोर डाकुओंसे रक्षा करनेके लिए नहीं होती। यदि समाजकी व्यवस्था ठीक हो तो ऐसे लोग बहुत कम हों। लोकमत उनसे निपट ले और पुलिसकी आवश्यकता ही न पड़े। एक ओर आजकी व्यवस्था बेकारों और भुक्खड़ोंकी सृष्टि करती है, दूसरी ओर उनका पुलिस द्वारा दमन करती है। शोषक वर्गकी ओरसे मजदूरों और किसानोंपर तो डण्डे और गोलियाँ चलते

देखा गया है पर धनिक वर्ग चाहे जो करे उसपर पुलिसका प्रहार नहीं होता।

इस बातको कितना भी छिपाया जाय पर लोकात्मा इसको खूब समझती है। जो दल समाज के संघटनको बदलना चाहता है, उसका पहला प्रयत्न यह होता है कि राजयन्त्र अपने हाथमें आजाय अर्थात् सरकारपर कब्जा हो जाय। यह इसलिए नहीं होता कि चोर-डाकुओंको दबाने या विदेशी शत्रुओंसे लड़ने में सुविधा हो वरन् इसलिए कि पुलिस और सेना घरेलू विरोधियोंको दबाकर पंगु बनानेके साधन हैं। जो वर्ग जिस समय आर्थिक और राजनीतिक महत्ता रखता है वह इनका उपयोग करके अपने अधिकारोंकी रक्षा करता है। जब कोई दूसरा वर्ग प्रधान बनना चाहता है तो स्वभावतः वह भी इस साधनसे काम लेना चाहता है। किसी समय सरदार-सामन्तोंका जमाना था। उनसे लड़कर मध्यम वर्गने अधिकार प्राप्त किया पर अधिकार प्राप्त करके अपने पुराने नारोंको भूल गया। वह भी सेना और पुलिससे ठीक उसी ढंगका काम ले रहा है जैसा कि उससे पहले क्षत्रियवर्ग लेता था। अब दूसरे वर्गने सिर उठाना आरम्भ किया है। श्रमिक और कृषक चाहते हैं कि राजका सूत्र अर्थात् विरोधियोंके दमनके साधनोंपर अधिकार उनके हाथमें आ जाय।

जब राज वर्गविशेषके हितोंकी रक्षाका साधन है तो वह सब वर्गोंके ऊपर और सबसे पृथक् अर्थात् तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हो सकता। इसका प्रयत्न अवश्य होता है। छोटे से छोटे अहलकारको भी ऐसा दर्जा दिया जाता है कि वह समाजसे ऊपर हो जाता है। दरबार, अदालत, कचहरीमें उठने बैठने, बोलनेके ऐसे ऐसे नियम बनाये जाते हैं कि लोगोंपर आतङ्क छाया

रहता है और इन जगहोंमें आने-जानेवालोंको ऐसा अनुभव होता है जैसे उन्हें किसी प्रत्यक्ष देवके मन्दिरमें पाँव रखनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा हो। इन युक्तियोंके प्रयोगसे राज लोगोंके चित्तपर शासन करता है और उसको अपने नख और दाँत अर्थात् पुलिस और सेनासे प्रतिदिनका काम लेनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

यह स्मरण रहे कि ऊपर जो कुछ कहा गया है किसी एक राजके लिए नहीं वरन् राजमात्रके लिए लागू है। भारतके छोटे-छोटे राजोंसे लेकर बड़े से बड़े साम्राज्योंतक का यही चित्र है। इसलिए एक वचनमें प्रयुक्त राज शब्द इन सबके लिए आया है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राजसत्ताका अन्त

जैसा कि हम पिछले अध्यायमें देख चुके हैं राज वह संस्था है जिसके द्वारा अधिकारप्राप्त वर्ग दूसरे वर्गोंपर अपना अधिकार कायम रखता है। सेना और पुलिसके द्वारा यह संस्था काम करती है। यदि कोई विरोधी सिर उठाता है तो वह इसके बलसे दबा दिया जाता है। अधिकारयुक्त वर्गका तीसरा शस्त्र कानून है। कानून वर्गसंघर्षकी वीभत्सताको यथासम्भव छिपाता है। उसका काम यह है कि शोषित वर्गके जीवनको नित्यप्रति ऐसे बन्धनोंसे जकड़ रखे कि सेनासे काम न लेना पड़े। हर सरकार कानून और अमनकी दुहाई देती है। इसका तात्पर्य्य यही है कि वस्तुस्थितिमें कोई गहरा परिवर्त्तन न हो। हुकूमत करता है,

वह हुकूमत करता रहे, जो दास है वह दास बना रहे। इसके बिना थोड़े से मनुष्य बहुतसे मनुष्योंको दबाकर रख नहींसकते

राजका यह स्वरूप ऐसे शब्दाडम्बरसे छिपाया जाताहै। कि साधारण मनुष्य सचमुच उसको एक निष्पक्ष संस्था समझता है और उससे निरपेक्ष न्यायकी आशा रखता है। पर जब उत्पादनके साधनोंका रूप बदलता है और उन साधनोंसे काम लेनेवाला दूसरा वर्ग ऊपर उठना चाहता है तो उसे राजके सच्चे स्वरूपका बहुत ही शीघ्र बोध हो जाता है। उसको यह विदित हो जाता है कि राज वस्तुतः उस वर्गकी एक प्रकारकी कार्य्यकारिणी समिति है जिसके हाथमें अबतक आर्थिक और राजनीतिक अधिकार रहा है। नया वर्ग अपने लिए सुविधाएँ चाहता है पर पुराना वर्ग अपनी अर्थात् राजकी सारी शक्तिसे इन सुविधाओंको रोकता है क्योंकि वह समझता है कि यदि नया वर्ग सम्पन्न हुआ तो वह सारे अधिकार अपने हाथमें ले लेगा। इस प्रकार वर्गसङ्घर्ष जो अबतक मन्द और आलीन था, तीव्र और प्रकट हो उठता है। नये नये उठनेवाले वर्गको यह बात साफ देख पड़ती है कि यदि उसे आगे बढ़ना है तो फिर राजपर कब्जा करना चाहिये, विदेशियोंसे लड़नेके लिए नहीं अपने घरेलू प्रतियोगियोंसे लड़नेके लिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' राज पर कब्जा करनेका अर्थ है सेना और पुलिसपर कब्जा करना अर्थात् इनसे काम ले सकना। इसका दूसरा अर्थ है कानून बनानेकी शक्ति प्राप्त करना। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी लालसाने ही मध्यमवर्गको सामन्त-सरदारोंके हाथसे राजयन्त्र छीननेपर विवश किया। राजशक्तिको हाथमें लेते ही मध्यम-वर्ग सामन्तोंकी कुर्सीपर जा बैठा था। जो अबतक शोषित था वह स्वयं शोषक बन गया। जिस प्रकार पहले थोड़ेसे क्षत्रियवर्गीय

अपनेसे अधिक संख्या वालोंपर हुकूमत करते थे, उसी प्रकार पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीके द्वारा थोड़ेसे मध्यमवर्गीय करोड़ों मनुष्योंपर हुकूमत कर रहे हैं अर्थात् करोड़ों मनुष्योंका शोषण कर रहे हैं।

ऐसी दशामें राजके प्रति समाजवादीका क्या रुख हो सकता है? यह तो हम देख चुके हैं कि वह वर्गसङ्घर्षको बहुत बुरी चीज समझता है। हम यह भी देख चुके हैं कि वह उत्पादनके साधनोंपर व्यक्तियोंके निजी स्वत्वको बुरी चीज मानता है और पृथ्वीपर फैली हुई अशान्तिका प्रधान कारण समझता है। उसकी रायमें जबतक यह वैयक्तिक स्वत्व रहेगा तबतक पृथ्वीपर पूँजीशाही, साम्राज्यशाही, वर्गसङ्घर्ष और अन्ताराष्ट्रिय युद्ध आजकी भाँति बने रहेंगे और आकाश-पुष्पकी भाँति शान्तिका अभाव रहेगा। वह यह भी देखता है कि सम्प्रति राज पूँजी-पतियोंके हाथमें है और उस वर्गको दबानेमें अपनी सारी शक्ति लगा रहा है जो पूँजीपतियोंके हाथसे उत्पीड़ित और शोषित होनेसे ऊबकर अब सिर उठाना चाहता है। यह वर्ग श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग है। यह बातें एक ओर ही पाठ पढ़ाती हैं। यदि समाजवादी सचमुच पूँजीशाहीको मिटाना चाहता है तो उसको वही काम करना होगा जो इसके पहले पूँजीपतियोंने किया था। उसको राजपर कब्जा करना होगा। राजकी लगाम उसके हाथ में आते ही सरकार उसकी होगी, सेना और पुलिस उसकी आज्ञाओंका पालन करेगी, वह अपनी इच्छाके अनुकूल कानून बनवा सकेगा।

ऊपर मैंने लिखा है कि समाजवादीको राजपर कब्जा करना होगा। वस्तुतः यह निरर्थक-सा वाक्य है। समाजवाद एक सिद्धान्त है। उसको माननेवालोंका कोई विशेष आर्थिक वर्ग

नहीं होता। मेरा असली तात्पर्य यह था कि जो आजकलका प्रताड़ित वर्ग है, अर्थात् शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग, उसको राजकी बाग सँभालनी होगी। जबतक राजशक्ति अपनी नहीं होती तबतक पूँजीशाहीका का बाल बाँका नहीं हो सकता, समाजवाद केवल पुस्तकोंके पन्नोंमें ही धरा रह जायगा। आर्थिक और सामाजिक अभ्यु-दयकी इच्छाने ही शोषितोंको सिखलाया है कि उन्हें हुकूमत करनी होगी। मूसाकी बाबत कहा जाता है कि वह आग ढूँढ़ने गये थे, पैगम्बर हो गये। इसी प्रकार वर्गोंका अभ्युत्थान होता है।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि राजपर कब्जा कैसे होता है। साधारण तौर पर तो यह देखनेमें आता है कि सुव्यवस्थित देशोंमें एकके बाद दूसरा राष्ट्रपति आता है, एककी जगह दूसरा मन्त्रिमण्डल लेता है। इसीको एककी जगह दूसरी सरकारका आना कहते हैं। परन्तु विचार करनेसे यह देख पड़ता है कि व्यक्ति भले ही बदलते रहें पर राजकी नीतिमें कोई तात्विक परिवर्त्तन नहीं होता। इसका कारण यह है कि शासनकी डोर एक ही वर्गके हाथमें होती है। आज पूँजीपति वर्ग प्रधान है। बड़े बड़े पूँजीपति अपनी कोठी छोड़कर सर-कारी दफ्तरोंमें नहीं बैठते। यह काम तो वह अपनी कठपुत-लियों अर्थात् नरेशों, राष्ट्रपतियों और मन्त्रियोंको सौंप देते हैं पर इतना बराबर ध्यान रखते हैं कि कोई राजनीतिक दल उसका नुकसान न करने पावे। ब्रिटेनके मजदूरदलका इतिहास इस बातका साक्षी है। इस दलके नेता अपनेको समाजवादी कहते हैं पर उनका विश्वास है कि एक दिन वोटोंके बलपर वह राज शक्तिके स्वामी बन जायँगे। अबतक तो वह मुँहकी

खाते रहे हैं। पूँजीपति वर्ग उनको पार्लिमेण्टमें आने देगा, मन्त्री भी बनने देगा क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकार सरकारी कुर्सियोंपर बैठनेवाले पुरानी पद्धतिको बहुत नहीं बदल सकते। पर वह जब देखेगा कि यह लोग सचमुच पूँजीशाहीसे टक्कर लेना चाहते हैं तो इनके पाँव न जमने देगा। १९८१ वि० में मजदूर दलका बहुमत था पर वह कुछ न कर पाया। पाँच वर्ष बाद उसका फिर बहुमत हुआ परन्तु फिर निकाला गया। यह सब जानते हैं कि यदि आज ब्रिटेन में कोई सरकार पूँजीशाहीके छत्तेमें सचमुच हाथ डाल दे तो वह बुरी तरह घायल होगी। पूँजीपति अपनी स्थितिकी रक्षाके लिए सब कुछ कर डालेंगे। भयंकर गृहयुद्ध छिड़ जायगा। इस युद्धका क्या रूप होगा वह स्पेनमें अभी हालमें ही देख पड़ा है। यह बात किसीको अच्छी लगे या न लगे पर इसमें पूँजीपतियोंका कोई दोष नहीं है। उन्होंने सामन्तवर्गसे लड़कर यह पद प्राप्त किया है। उनके सारे हित इसके साथ बँधे हुए हैं। अपने स्वत्वोंके लिए न लड़ना आत्महत्या करनेके समान होगा। यह ठीक है कि पूँजीशाही कई ऐसे कानूनों को बनने देती है जिनसे कुछ देरके लिए उसके मुनाफेमें कमी हो जाती है और मजदूरोंकी सुविधाएँ बढ़ जाती हैं पर यह उसकी युद्धकला है। कुशल सेनानी पीछे हटकर भी विजय प्राप्त करता है। छोटे छोटे सुधारोंकी दूसरी बात है पर पूँजीशाही धीरे धीरे अपना गला आप न घोटेगी और न किसी भी पार्लामेण्ट या व्यवस्थापिका सभाको ऐसा करने देगी।

अतः वैध उपायोंसे, व्यवस्थापक सभाके वोटोंसे, राजपर वह कब्जा प्राप्त नहीं हो सकता जो समाजवादीको अभीष्ट है। इसीलिए समाजवादी बराबर कहते हैं कि राजपर कब्जा क्रांति द्वारा हो सकता है। इतिहास भी उनके कथनका समर्थन

करता है। ब्रिटेन और फ्रान्समें क्रान्तिके द्वारा ही मध्यम वर्गने सामन्त वर्गको हटाकर राजपर कब्जा किया। रूसमें श्रमिक वर्गको क्रान्ति द्वारा ही अधिकार मिला। जर्मनी और इटलीमें अपने अधिकारको पुनः स्थापित करनेके लिए पूँजीशाहीको क्रान्ति करनी पड़ी।

क्रान्ति अवैध, कानूनके विरुद्ध, होती है। सफल क्रान्तिके बाद क्रान्तिकारियोंकी इच्छा ही कानूनका रूप धारण करती है पर जबतक राजयन्त्र, या यों कहिये कि उसके प्रत्यक्ष चिन्ह सेना और पुलिस, पर कब्जा नहीं हो जाता तबतक वह गैरकानूनी है। क्रान्तिका अर्थ केवल सरकार बदलना नहीं वरन् राजके साँचेको बदलना है; बलका मुकाबिला बलसे करना है; एक वर्गके आधिपत्यको हटाकर दूसरे वर्गके आधिपत्यको स्थापित करना है। इसीलिए यदि क्रान्ति सफल हो गयी तो जो नयी सरकार बनती है वह उन कामोंको कर सकती है जो वोटोंके द्वारा चुनी गयी सरकार नहीं कर सकती। वोटके बलपर खड़ी सरकार वस्तुस्थितको बराबर बदल नहीं सकती। वह उन जिम्मेदारियोंसे बहुत कुछ बँधी हुई है जो उसके पहलेकी सरकारें छोड़ गयी है। जिन कानूनोंकी छायामें वह चुनी गयी उनको वह एकदम तोड़ नहीं सकती। जो लोग वोटरोंके कन्धोंपर बैठकर राजके विधाता बने हैं उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी नहीं हो सकती कि वह अतीतको एकदम मिटाकर नये वर्तमान और भविष्यका निर्माण करें। परन्तु क्रान्तिकारी इन बन्धनोंसे मुक्त होता है। उसकी मनोवृत्ति उग्र न होती तो वह क्रान्तिके भयावह और कण्टकाकीर्ण मार्गपर पाँव ही न रखता। जब वह कानूनके विरुद्ध चलकर शक्तिसम्पन्न हुआ है तो उसे उस कानूनका कोई व्यामोह नहीं हो सकता। उसको मिटा

देनेमें उसे कोई हिचक न होगी। उसको कोई अधिकार सौंपता नहीं, वह आप लेता है। पिछले अधिकारी दूसरे वर्गके थे, वह दूसरे वर्गका है अतः उनकी छोड़ी हुई जिम्मेदारियाँ उसको बाँध नहीं सकतीं। न वह उनके लिये हुए ऋणको देनेके लिए वाध्य है न उनके द्वारा की गयी सन्धियोंका मानना उसके लिए अनिवार्य्य है। व्यवहारमें सम्भवतः वह इनमेंसे बहुतसी जिम्मेदारियोंको अपनी इच्छासे ओढ़ लेगा पर सिद्धान्ततः उसके हाथ-पाँव उन्मुक्त हैं।

पर क्रान्ति हो कैसे? इसका अबतक तो इतिहासने एक ही उत्तर दिया है। क्रान्ति जहाँ जहाँ हुई है सशस्त्रा ही हुई है। ब्रिटेन, फ्रान्स और रूसको इसी उपायसे सफलता मिली। जहाँ जहाँ क्रान्ति सफल हुई है वहाँ या तो विशेष परिस्थितिके कारण आरम्भसे ही क्रान्तिकारियोंका भौतिक बल अधिक था या वह शीघ्र ही राजके भौतिक बल अर्थात् सेना, पुलिस, खजाना और युद्धसामग्रीको अपनी ओर मिला सके। परन्तु बलका जवाब बलसे ही दिया गया, तोप और तलवारने तोप और तलवारसे लोहा लिया। इस बातको देखकर कुछ लोग यह कहते हैं कि समाजवादको हिंसासे पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि समाजवादी व्यवस्था हिंसात्मक क्रान्तिके बिना स्थापित नहीं हो सकती। यह उनका समाजवादके विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग है।

पर यह आक्षेप न्याय्य नहीं है। इसमें उतना ही तथ्य है जितना इस आक्षेपमें कि स्वाधीनता हिंसात्मक, अथच त्याज्य, है। हमारे पास पृथ्वीका हजारों वर्षका इतिहास है पर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी राष्ट्रने सशस्त्र, हिंसात्मक, युद्धके बिना अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता फिरसे प्राप्त की हो। हमारे देखते देखते पिछले ४-५ वर्षोंमें शस्त्रके

बलसे, जेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, नार्वे की स्वाधीनता छिनी और शस्त्रकी सहायता से ही फिर वापस मिला। परन्तु हिंसासाध्य होनेसे क्या स्वधीनताकी उपादेयतामें कमी आगयी? इसी प्रकार समाजवादका विचार करते समय क्रान्तिके साधनोंका जिक्र छेड़ना अनुचित है और विषयान्तर करना है। मूल प्रश्न यह है कि समाजवाद स्वतः अच्छी चीज है या नहीं, उसका दार्शनिक आधार कैसा है, उसने मनुष्य समुदायकी अवस्थाके रोगोंका जो निदान किया है वह काल्पनिक है या साधार और जो लक्ष्य वह अपने सामने रखता है वह मनुष्योंके लिए कल्याणकारी है या नहीं। साधनका प्रश्न गौण है। यदि स्वाधीनता अच्छी चीज है तो पराधीनको स्वाधीन बननेका प्रयत्न करनेका हक है। पिंजड़ेमें बन्द चिड़ियाको यह सुनाना कि दूसरी चिड़ियोंकी भाँति स्वच्छन्द उड़नेका तो तुमको नैसर्गिक हक है पर तुम इस जन्मसिद्ध हकको मेरे बताये हुए उपायसे ही प्राप्त करो, उसकी हँसी उड़ाना है; चिड़िया अपने कैद करनेवालोंकी राय माननेको बाध्य नहीं की जा सकती। वह अपने पिंजड़ेके जिस तारको जहाँसे कमजोर देखेगी उसको वहींसे तोड़कर बाहर निकल जायगी। अन्तार्राष्ट्रिय विधान इस बातको स्वीकार करता है।

यह तो सिद्धान्तकी बात हुई पर व्यवहार-दृष्ट्या ऐसा कोई समझदार नहीं है जो अहिंसाको हिंसासे अच्छा न समझता हो। हिंसासे क्रूरता पृथक् नहीं की जा सकती और शस्त्र प्रयोगमें गेहूँके साथ घुनके पिस जानेकी सदैव सम्भावना रहेगी। इसलिए जहाँ हिंसा अहिंसाके मुकाबिलेका प्रश्न होगा वहाँ सभी अहिंसाको पसन्द करेंगे। समाजवादके आचार्य्योंके सामने यूरोपमें जो परिस्थिति थी उसमें उनको हिंसात्मक उपायोंसे ही

सफलताकी आशा हो सकती थी। मार्क्स, एंगेल्स या लेनिनके सामने कोई दूसरा मार्ग न था। पर वह लोग नरमेधके पुरोहित नहीं थे। उनको हिंसामें कोई खास रस नहीं था, इसलिए उन्होंने हिंसाका उपदेश कभी नहीं किया है। स्वयं लेनिनने 'दि स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' में लिखा है "मध्यम वर्गीय राजके स्थानमें सर्वहारा राज साधारणतः हिंसात्मक क्रान्तिके द्वारा ही स्थापित हो सकता है।" इसका स्पष्ट तात्पर्य्य यह है कि असाधारण परिस्थितिमें वह अहिंसात्मक क्रान्तिकी सम्भावना भी स्वीकार करते थे। कौनसी परिस्थिति साधारण है और कौनसी असाधारण इसका कोई तात्विक विवेचन नहीं हो सकता, यह देशकालपर निर्भर है।

पर इस समय तो यह प्रश्न और भी अनावश्यक है। महात्मा गान्धीने अहिंसाको राजनीतिमें स्थान दिया है। उनका ऐसा विश्वास है कि अन्ताराष्ट्रिय ग्रन्थियाँ भी इसके द्वारा सुलझायी जा सकती हैं। भारतमें और भारतके बाहर बहुतसे मनुष्य उनके अनुयायी हैं। अहिंसात्मक क्रान्ति कैसे होगी यह तो किसीको भी ठीक ठीक नहीं मालूम है क्योंकि अभी तो अहिंसात्मक युद्धशैलीका शैशवकाल है। पर यदि पैंतीस करोड़की आबादीवाले भारत जैसे विशाल देशका अहिंसात्मक उपायोंसे स्वाधीन होना सम्भव है तो अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा समाजवादी व्यवस्थाका कायम होना भी सम्भव है। यह कोई नहीं कहता कि हिंसा मनुष्य समुदायके लिए आदर्श है।

पर जैसा कि हमने ऊपर कहा है इस गौण विषयपर शास्त्रार्थ उठाना उचित नहीं। यह तो मूल विषयसे ध्यान हटाकर विषयान्तरकी ओर ले जानेकी एक चतुरतापूर्ण युक्ति

है और समाजवादको बदनाम करनेका उपाय है। इसमें उलझना व्यर्थ है।

अस्तु, मान लिया जाय कि सफल क्रान्तिके द्वारा अद्यावधि-शोषित, श्रमिक और कृषकवर्गने राजपर कब्जा प्राप्त कर लिया। फिर क्या होगा ? जो उत्तर पहले मुँहको आता है वह तो यही है कि इस बार भी वही होगा जो अबतक होता आया है अर्थात् अपने क्रान्तिकालीन नारोंको भूलकर यह वर्ग भी राजसे अपने सङ्कुचित वर्ग-हितोंके साधनका काम लेगा। भेद इतना है कि अबतक यह शोषित था, अब यह शोषक होगा और दूसरे वर्ग शोषित होंगे।

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। पहले तो इस वर्ग के कोई सङ्कुचित वर्गहित हैं ही नहीं। यह तो शोषणसे व्यथित होकर उठा था अतः इसका एक ही उद्देश्य है और वह है शोषणको मिटा देना। जिन समाजवादी सिद्धान्तोंकी प्रेरणाने इसको प्राणित किया है उनका भी यही परिणाम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह वर्ग इस समय सबसे नीचा है। इसमें वह लोग हैं जो उत्पादनकी किसी सामग्रीके स्वामी नहीं हैं। इनकी जीविका दूसरोंकी कृपापर निर्भर है। अतः अब यह किसको सतायेगा ? इसके उत्तर में स्यात् यह कहा जायगा कि जो आज-कल शोषक हैं वही भविष्यमें शोषित हो जायँगे। पर ऐसा नहीं हो सकता। इस समय शोषकोंकी संख्या थोड़ी है परन्तु शोषितोंकी संख्या बहुत बड़ी है। मुट्ठीभर पूँजीपति प्रायः सारी जनताको कामधेनु बनाकर दुह रहे हैं। क्रान्तिके बाद तो यही जनता अधिकारमें होगी पर यह आजके पूँजीपतियोंका शोषण नहीं कर सकती। थोड़ेसे आदमी बहुतोंका शोषण कर सकते हैं, बहुत से आदमी थोड़ोंका शोषण नहीं कर सकते। दो चार शेर

मिलकर जङ्गलके और पशुओंका शोषण कर सकते हैं पर यदि सारे पशु मिल जायँ और शेरोंको वशमें करके उनका शोषण करना चाहें तो नहीं कर सकते। दो दिनमें शेर खत्म हो जायँगे। थोड़ोंके आहार बहुत हो सकते हैं, बहुतोंके लिए यह सम्भव नहीं कि थोड़ोंको आहार बनाकर कुछ दिनतक अपना पेट भरें। अतः मजदूर और कृषक वर्गके हाथमें राजशक्ति आ जानेपर शोषण बन्द हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि राज शोषणका साधन न रह जायगा। पर अबतक तो यही उसका प्रधान लक्षण है कि वर्गसङ्घर्षमय इस जगत्में राज एक वर्गको दूसरेका शोषण करनेमें सहायता देता है। अब यह पहली बात न होगी। सेना, पुलिस और कानून बनानेका अधिकार होते हुए भी इनका उपयोग पुराने ढङ्गपर न होगा। राजके पुराने रूपका अन्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रमिकों और कृषकोंके हाथमें अधिकार आनेपर यह संस्था जो आजसे हजारों वर्ष पहले शोषणको सुव्यवस्थित, चिरायु और सफल बनानेके लिए स्थापित हुई थी और जो आजतक इस कामको करती आयी है स्थानच्युत हो जायगी। अपने असली स्वरूपको खोकर राज, राज न रह जायगा। पर उसका ढाँचा बहुत दिनोंतक रहेगा। समाजवादी न तो फौज या पुलिसको बर्खास्त कर देंगे, न कानून बनवाना छोड़ देंगे। उनके सामने अभी तो बहुत काम पड़ा होगा जिसमें इन साधनोंसे सहायता मिलेगी।

समाजवादियोंका उद्देश्य वर्गसङ्घर्षको मिटाकर वर्गहीन समाजको जन्म देना है। वह यह भी चाहते हैं कि मनुष्य द्वारा मनुष्यका शोषण न हो। पर यह बात सङ्कल्पमात्रसे न होगी। कृषकों और श्रमिकोंके हाथमें शासन आ जाने मात्रसे भी न होगी।

जो लोग अबतक शोषणकी बदौलत पलते रहे हैं वह एकदम चुप नहीं बैठ सकते। यदि सम्भव हुआ तो वह विदेशियोंको अपनी सहायताके लिए ले आयँगे। फ्रेंच क्रान्तिके बाद फ्रांसके राज-वंश और सरदारोंकी ओरसे ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये थे। हालमें रूसी क्रान्तिके बाद रूसको चार वर्ष-तक रूसी विद्रोहियों और उनके विदेशी हिमायतियोंका मुकाबिला करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त देशके भीतर भी नये अधिकारियोंको पदे-पदे पुराने स्वार्थोंसे लड़ना होगा। उनके हर काममें अड़चन डाली जायगी। हर प्रकार के ऐसे प्रयत्न किये जायँगे जिनसे उनके शासनकी व्यवस्था बिगड़ जाय, उनके प्रयोग असफल हों, प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो। उनके साथ बात बातमें असहयोग किया जायगा। उनकी अनुभवहीनतासे हर प्रकारका अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा की जायगी। बिना इस प्रकारके कुयत्नोंको असफल बनाये क्रान्ति विफल हो जायगी। रूसकी क्रान्तिकारी सरकारको वह सब दिक्कतें भुगतनी पड़ी थीं। यदि नये शासक दृढ़प्रतिज्ञ हैं तो वह इस विपत्त-सागरको भी पार कर जायँगे और क्षुद्र स्वार्थियोंको मुँहकी खानी पड़ेगी। उनकी सारी कोशिशें विफल होंगी और वर्गभेद मिटकर रहेगा। इस काममें नये शासकोंको राजके ढाँचेसे अर्थात् सेना, पुलिस और कानूनसे बड़ी सहायता मिलेगी। जो शस्त्र शोषणको कायम रखनेके लिए निकाला गया था वह यदि अच्छे हाथोंमें पड़ जाय तो उससे शोषणका अन्त करनेका काम लिया जा सकता है। इसलिए समाजवादी श्रमिक और कृषक राजके ढाँचेको एकदम बिगाड़ न देंगे।

इस ढाँचेकी सहायतासे उनको अपना मूल उद्देश्य अर्थात् समाजवादी व्यवस्था और वर्गहीन समाजका संस्थापन, सिद्ध करना होगा। पुराने शोषकवर्गके विरोधकी कमर टूट जाने पर जो लोग उस वर्गमें थे या उससे सम्बन्ध रखते थे वह भी श्रमकी महत्ताको स्वीकार कर लेंगे और अपनी शक्ति तथा योग्यताके अनुसार काममें लग जायँगे। ऐसा होने पर समाजका वर्गभेद, अथवा वर्गसंघर्ष, मिट जायगा। दूसरी ओर उत्पादनके साधनोंपर समुदायका अधिकार हो जायगा। जो युवक और युवती इस नये युगमें शिक्षा पाकर प्रौढ़ जीवनमें कदम रखेंगे, उनके लिए रुपया जोड़ना और रुपयेके लिए काम करना एक अस्वाभाविक-सी बात प्रतीत होगी। वह लोकहितको सामने रखकर काम करेंगे और समाजकी समृद्धिमें शरीक होना अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझेंगे। इस परिस्थितिमें समाजवादी व्यवस्था आप ही स्थापित हो चलेगी। पर यह समझ रखना चाहिये कि अकेला कोई एक देश पूर्णरूपेण समाजवादी पद्धति नहीं चला सकता। अस्तु, जिस दिन यह व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो जायगी उस दिन राज अनावश्यक हो जायगा। न कानून बनानेकी आवश्यकता रह जायगी, न सेनाकी, न पुलिसकी। राजका ढाँचा व्यर्थका भार होगा और आप ही टूट जायगा। एंगेल्सके शब्दोंमें, राज मुरझाकर झड़ जायगा। वह दिन आज नहीं है पर आ सकता है और प्रत्येक समाजवादी ऐसी आशा करता है कि आयेगा। उस समय भी कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो सामूहिक जीवनको खराब करता चाहे। लोकमत उसको सुधारने और यदि जरूरत हो तो दण्ड देनेके लिए काफी होगा। समुदायकी आत्मरक्षा-प्रवृत्ति वेतनभोगी सेनाओंकी अपेक्षा रक्षाका अच्छा आयोजन कर सकती है क्योंकि

यह रक्षा किसी एक वर्गके हितोंकी रक्षा नहीं वरन् सबकी रक्षा होगी।

इस सम्बन्धमें एंगेल्सके नीचे लिखे वाक्य इस सारे कथनका निचोड़ समझा देते हैं—'सर्वहारा वर्ग राजशक्तिपर कब्जा करता है और उत्पीड़नके साधनोंको राजसम्पत्तिमें बदल देता है पर ऐसा कर लेने पर वह खुद सर्वहारा नहीं रह जाता, सारे वर्गभेद और वर्गविरोध खत्म हो जाते हैं और राजरूपसे राजका भी अस्तित्व खत्म हो जाता है। पुराने समाजको, जिसका जीवन वर्गसंघर्षमें बीतता था, राजकी अर्थात् शोषकवर्गके संघटनकी आवश्यकता थी ताकि उत्पादनकी तत्कालीन अवस्था कायम रहे; अतः उसको राजकी विशेष जरूरत इसलिए थी कि शोषित-वर्ग (जो समय समयपर गुलाम, जमीनके साथ बँधा किसान या मजदूरका रूप धारण करता रहता है) बलात् दबाया जा सके। ऊपरसे तो राज सारे समाजका प्रतिनिधि था। जब राज सचमुच सारे समाजका प्रतिनिधि हो जायगा तो वह अनावश्यक हो जायगा। जब कोई ऐसा वर्ग नहीं रह जाता जिसको दबाना हो, जब वर्ग-आधिपत्य और पहलेकी उत्पादन-सम्बन्धी कुव्यवस्थासे उत्पन्न वैयक्तिक जीवनके लिए संघर्षके साथ साथ आपसके झगड़े और अत्याचार खत्म हो जायँगे तो ऐसी कोई चीजही न रह जायगी जिसका शमन करना हो और विशेष दमनकारी शक्ति अर्थात् राजकी जरूरत न रहेगी। जो पहिला काम सारे समाजके प्रतिनिधिके रूपमें राज करता है—अर्थात् सारे समाजके नामपर उत्पादनके साधनोंपर कब्जा करना—वही राजकी हैसियतसे उसका अन्तिम स्वतन्त्र काम है। क्रमशः सामाजिक सम्बन्धके विभिन्न क्षेत्रोंमें राजका हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर आप ही विलीन हो जाता

है। व्यक्तियोंपर शासन करनेके स्थानमें वस्तुओंकी व्यवस्था और उत्पादनकी क्रियाओंका सञ्चालन रह जाता है। राजको कोई खतम नहीं करता वह खुद मुरझाकर झड़ जाता है। ❋

❋ ऊपरके अवतरणमें जो एंगेल्सके 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राजकी उत्पत्ति'से लिया गया है उस शोषित वर्गके लिए जो भविष्यमें समाजवादी व्यवस्था कायम करेगा 'सर्वहारा' शब्दका प्रयोग किया है। हमने इस अध्याय और पिछले अध्यायमें इस वर्गको श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग कहा है। वस्तुतः दोनों नामोंमें कोई तात्विक विरोध नहीं है पर एक भेद है जिसे समझ लेना आवश्यक है। श्रमिक तो सर्वहारा है क्योंकि सिवाय अपने शरीर और मस्तिष्कके उसके पास उत्पादनका कोई दूसरा साधन नहीं है। पर कृषक बड़ा व्यापक नाम है। ऐसे लोग भी कृषक कहलाते हैं जिनके कब्जेमें सैकड़ों बीघे जमीन होती है। यह लोग मजदूरोंसे खेती कराते हैं और दूसरोंको खेतीके लिए अपनी जमीन देते हैं। इनको कृषक इसीलिए कहते हैं कि यह खुद जमीनके मालिक नहीं हैं वरन् किसी जमीनदारको कुछ लगान देते हैं। ऐसे लोग खुद शोषकवर्गमें हैं। असली कृषक तो वह है जो किसी अर्थमें जमीनका मालिक नहीं कहा जा सकता, जो अपनी जीविकाके लिए दूसरोंकी कृपापर आश्रित है। ऐसे कृषककी अवस्था मजदूरके ही बराबर है और इस प्रकारके शोषित श्रमिक और कृषक ही सर्वहारा हैं। वर्गसंघर्ष और वर्गआधिपत्यके यह पुराने शिकार ही वर्गहीन समाजकी सृष्टि कर सकते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—प्रथम सोपान

इस पुस्तकके तीसरे अध्यायमें एक प्रश्न पूछा गया था। वह प्रश्न संक्षेपमें यह था कि जगत्में इतनी अशान्ति, इतना दुःख, क्यों है। हमने चौथे अध्यायमें इस प्रश्नके कुछ उत्तरोंपर विचार किया और यह दिखलाया कि वह अपर्याप्त हैं। उसके बाद इस समस्यापर समाजवादीके दृष्टिकोणसे गौर किया गया और उन दो तीन मुख्य बातोंके स्वरूपका निरूपण किया गया जो समाजवादीकी रायमें सारी बुराईकी जड़ हैं। प्रसङ्गतः हमने यह भी दिखलाया है कि इन दो तीन बातोंकी सन्तति बढ़कर कितनी व्यापक और भयावह हो गयी। जैसा कि पिछले अध्यायोंसे ज्ञात होता है, जबतक उत्पादनके मुख्य साधनों-पर व्यक्तियोंका स्वाम्य रहेगा तबतक अर्थमूलक वर्ग रहेंगे और वर्गसङ्घर्ष जारी रहेगा। इसके ही फलस्वरूप पूँजीशाही और उसकी प्रसूति साम्राज्यशाही कायम रहेगी और वर्ग-आधिपत्यका साधन राज भी कायम रहेगा। इन सबके कायम रहनेका एकमात्र अर्थ है आपसमें अन्धी प्रतियोगिता, व्यक्ति-व्यक्तिमें, वर्ग-वर्गमें, राष्ट्र-राष्ट्रमें, कलह, शोषण, राजनीतिक और आर्थिक दासता और विषमता, क्रोध और विद्रोह तथा दमन; हिंसा और प्रतिहिंसा, दूसरे शब्दोंमें, दुख और अशान्ति। इस निरन्तर दुःख और अशान्तिके कारण ही मानवसमुदाय जङ्गली पशुओंका समुदाय हो रहा है और सच्चे समाजका स्वरूप धारण नहीं कर सकता; इसके कारण यह आशङ्का है कि कहीं सहस्रों या लाखों वर्षोंकी उपार्जित संस्कृति एवं सभ्यताका ही लोप न हो जाय।

इस अध्यायमें हम यह देखना चाहते हैं कि समाजवादी इस अवस्थामें कैसे सुधार करना चाहता है। कुछ हदतक तो उसके कार्य्यक्रम और कार्य्यशैलीका संकेत पिछले अध्यायोंमें भी आ चुका है, क्योंकि जिस बातको वह दोष समझता है स्वभावतः उसको दूर करनेका प्रयत्न करेगा। यह भी मानना ही चाहिये कि इन बुराइयोंके दूर हो जाने पर जो व्यवस्था रह जायगी वह शुद्ध समाजवादी व्यवस्था होगी। यह अनुमान ठीक है, फिर भी किञ्चित् विस्तारके साथ इस प्रश्नपर विचार करना श्रेयस्कर होगा। समाजवादियोंसे बहुधा लोग यह सवाल करते हैं। रूसमें जो प्रबन्ध है वह इस सवालका जवाब है। देश-कालकी दृष्टिसे इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन होता रहेगा।

समाजवादीके लिए पहली जरूरत यह है कि वह राजपर अधिकार प्राप्त करे। सम्भव है यह अधिकार वैधानिक उपायोंसे ही प्राप्त हो जाय परन्तु अबतक यह अधिकार-परिवर्त्तन क्रान्ति द्वारा ही होता रहा है। समाजवादी क्रान्तिका यह अर्थ होगा कि राजनीतिक अधिकार उस वर्गके हाथमें आ जाय जो आज शोषित है। इस क्रान्तिकी पद्धति क्या होगी, यह हिंसात्मक होगी या अहिंसात्मक; यह हमारे लिए अप्रासङ्गिक है। पर यह आवश्यक है कि राजनीतिक अधिकार समाजवादियोंके हाथमें आये। केवल इतना ही काफी नहीं है कि जिन लोगोंका राज-यन्त्रपर कब्जा हो वह समाजवादी विचार रखते हों परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि यह समाजवादी अद्यावधि शोषित वर्गके हों अर्थात् मजदूर और किसान, एक शब्दमें सर्वहारा या तत्सम अर्थात् निम्न मध्यमवर्गके हों। इसका तात्पर्य्य यह है कि यदि समाजवादी अधिकारियोंको इस दलितवर्गकी सक्रिय सहानुभूतिके

द्वारा अधिकारकी प्राप्ति हुई होगी तब तो वह समाजवादी व्यवस्थाकी ओर निर्भयताके साथ बढ़ सकेंगे, अन्यथा यदि वह दूसरे, अर्थात् आजकलके साधिकार, वर्गोंकी सहायतासे शासनकी गद्दीपर बैठेंगे तो उनको पदे पदे समझौतेकी नीति बरतनी पड़ेगी और अपनी समाजवादी कार्य्यशैलीको पीछे रखकर अपने हिमायतियोंका हितसाधन करना पड़ेगा। उनके हाथों बहुतसे उपयोगी सुधार हो जायँगे पर सुधारमात्रके लिए क्रान्तियाँ नहीं होतीं।

इसका एक और अर्थ निकलता है, वह भी समझ लेना चाहिये। यदि समाजवादियोंकी परिस्थिति ऐसी ही रही जैसी कि लोकतन्त्र देशोंमें विभिन्न राजनीतिक दलोंकी होती है अर्थात् यह कि कभी पार्लिमेण्टमें बहुमत होगया तो दो चार वर्षतक मन्त्रिमण्डलमें आ गये, अल्पमत हुआ तो पदसे पृथक हो गये तो भी वह कुछ नहीं कर सकते। ऐसे राजनीतिक दलोंको सदैव यह डर लगा रहता है कि यदि हमने कोई व्यापक उलट-फेर किया तो हमारे बाद जिस दलका बहुमत होगा वह हमारा किया धरा सब उलट देगा, अतः वह डरकर ही आगे बढ़ते हैं। न तो उनसे अतीतसे नाता तोड़ते बनता है, न अनागतकी ओर लम्बे डग डाल सकते हैं। ऐसे लोग भी साधारण सुधारक होकर ही रह जाते हैं। यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होनी है तो यह आवश्यक है कि समाजवादी देशके एक नहीं, एकमात्र राजनैतिक दल हों। यह निश्चय होना चाहिये कि यह जो कुछ करेंगे उसमें स्थायित्व होगा और उनको दूसरे दलोंके साथ समझौता करके अपनी कार्य्यपद्धतिमें परिवर्त्तन करनेकी जरूरत नहीं है। यह स्थायित्व तभी हो सकता है जब साधारण पार्लिमेण्टरी ढङ्ग कुछ कालके लिए स्थगितसा हो

गया हो और समाजवादियोंके हाथमें क्रांतिके द्वारा अधिकार आया हो।

इस जगह एक आक्षेपपर विचार करना आवश्यक है। कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि समाजवादमें कुछ तथ्य है तो समाजवादी कहीं छोटेसे क्षेत्रमें उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता सिद्ध करें। भारतमें बहुधा यह सुना जाता है कि गान्धीवाद और समाजवादका इस समय मुकाबिला है। इन दोनोंमें गान्धीवाद तो नित्य व्यवहारमें बरता जा सकता है पर समाजवादकी परीक्षा नहीं होती, इसलिए उसके पीछे पड़ना अपनेको एक सन्दिग्ध चीजके हाथों बेच देना है। कांग्रेसके महामान्य नेता सरदार वल्लभ भाई पटेलने कहीं सुन लिया कि भारतीय कांग्रेस समाजवादी दलके प्रथम मन्त्री श्री जयप्रकाश नारायणकी यह राय है कि कृषिमें ट्रैक्टर जैसे यन्त्रोंका उपयोग होना चाहिये। उन्होंने कई बार कहा कि समाजवादी किसी क्षेत्रमें ट्रैक्टरसे खेती करके दिखलाते क्यों नहीं। ऐसे आक्षेप कभी तो अज्ञानवश सचाईके साथ किये जाते हैं, कभी मजाक उड़ानेके लिए। पर इनसे साधारण जनतामें बुद्धिभेद उत्पन्न हो जाता है और समाजके नये विद्यार्थी भी क्षुब्ध हो जाते हैं। इसीलिए इनपर दृष्टिपात करना जरूरी है।

यूरोपमें कई बार छोटेसे क्षेत्रमें समाजवादी प्रयोग करनेका प्रयत्न किया गया। समाजवादी बस्तियाँ तक बसायी गयी। पर यह सब प्रयोग असफल रहे। आज रूसमें ही ऐसा प्रयत्न सफल हो रहा है। कारण स्पष्ट है। जबतक सारे देशमें समाजवादी वातावरण न हो तबतक कोई एक कल-कारखाना समाजवादी ढङ्गसे नहीं चल सकता। जो मिल मालिक ऐसा करने चलेगा उसका दो दिनमें दिवाला निकल जायगा। बिना

सरकारी सहायताके सम्मिलित खेती भी नहीं हो सकती। यह तो हो सकता है कि मुनाफेकी कुछ रकम मजदूरोंमें बाँट दी जाय या खेत-कारखानेके चलानेमें कुछ उनकी भी राय ली जाय पर इतनेसे समाजवादकी पुष्टि नहीं होती। जिस पद्धतिके अनुसार मालगुजारी ली जाती है, आमदनीका टैक्स लिया जाता है, बङ्कों या महाजनोंसे ऋण मिलता है बाजारोंमें माल बिकता है, उसके बिरुद्ध चलकर कोई व्यवसायी सफल नहीं हो सकता। अतः बिना शासनके आसनपर आरूढ़ हुए समाजवादी प्रयोग नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी समाजवादीको यह चुनौती देता है कि तुम समाजवादकी व्यावहारिकता छोटे क्षेत्रमें दिखला दो तो उसका यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता।

गान्धीवाद और समाजवादका सवाल उठाना भी निरर्थक है। गान्धीवाद या तो साधन है या साध्य। यदि वह साधन है तो यह तप, इन्द्रियनिग्रह, उदारता आदिका नाम है। इन चीजोंके स्वरूपके विषयमें थोड़ा बहुत मतभेद भले ही हो पर समाजवादियोंको इनसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। इतना ही नहीं सफल समाजवादी भी तपस्वी होता है। समाजवादके आचार्य कार्लमार्क्स तपश्चर्य्या और त्यागकी मूर्ति थे। यह बातें किसी सम्प्रदाय विशेषकी निजी सम्पत्ति नहीं है। यदि गान्धीवाद किसी प्रकारका साधन है तो उससे कोई और वस्तु प्राप्त होती होगी। योग-दर्शनमें पतञ्जलिने यम-नियमोंको साधन ही माना है और उनका परिणाम "द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"—पुरुषका कैवल्य—माना है। इस दृष्टिसे समाजवादी व्यवस्थाके साधन—कृषकों और श्रमिकोंका संघटन, समाजवादी विचारोंका प्रचार, राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन इत्यादि—सर्वथा

व्यवहार्य्य है। यदि एक व्यक्ति यह कह सकता है कि तप, अहिंसा, सत्य आदिकी प्रतिष्ठा प्राप्त होनेसे मोक्ष होता है तो दूसरा व्यक्ति भी यह कह सकता है कि समाजवादी आन्दोलनके चरमावस्थातक पहुँच जाने पर मनुष्योंको सुख, समृद्धि और शान्तिका अनुभव होगा। हाँ, दोनोंमें एक प्रत्यक्ष भेद है। एकका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है अतः उसका फल जल्दी देख पड़ जाता है, दूसरेका सम्बन्ध राष्ट्रोंसे है, अतः उसका फल दीर्घकाल में देख पड़ता है।

वस्तुतः समाजवादकी व्यावहारिकताका सबूत माँगना वैसा ही है जैसे स्वाधीनताकी व्यावहारिकताका प्रमाण माँगना। न समाजवादका प्रयोग छोटेसे क्षेत्रमें हो सकता है, न स्वाधीनताका दोनोंके लिए कठिन परिश्रम करना होता है और यह परिश्रम दीर्घकालतक जारी रखना होता है। बिना राजयन्त्रपर कब्जा किये दोनोंसे एकका भी आस्वाद नहीं हो सकता। इस-लिए इस प्रकारके कुतर्क उठने पर किसी भी समाजवादीको विचलित होनेका कोई कारण नहीं है। उसे विश्वास रखना चाहिये कि जिस दिन उसके हाथमें शासनका सूत्र आयेगा, उसी दिन वह समाजवादकी व्यवहार्य्यता सिद्ध करनेमें समर्थ होगा।

अस्तु, अधिकार प्राप्त करके समाजवादी कल-कारखानों, बङ्कों, रेलों, जहाजों, खानों और जङ्गलोंको सार्वजनिक सम्पत्ति बना देंगे, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसा कारखाना चल सके जिसमें कई व्यक्ति मजदूरकी हैसियतसे काम करें और एक या थोड़ेसे व्यक्ति मुनाफा लें। जो लोग माल तैयार करनेवाले और ग्राहकके बीचमें बड़ी बड़ी आढ़तें खोलकर मुनाफा करते हैं, उनका स्थान सार्वजनिक

दूकानें या ग्राहकोंकी सहयोग समितियाँ लेंगी। खेतीकी अवस्था भी आज जैसी नहीं रह सकती। शोषण तो खत्म हो ही जायगा। न तो जमीनदारी प्रथा रह जायगी, न काश्तकार ही अपनी भूमि दूसरोंको लगान पर उठा सकेंगे। छोटी छोटी टुकड़ियोंकी खेती लाभदायक नहीं हो सकती। चकबन्दीकी कोशिश हो सकती है पर इससे भी अच्छी चीज सम्मिलित कृषि है अर्थात् गाँवके सब कृषकोंकी भूमिकी एक साथ खेती हो। सबकी जिम्मेदारीपर बीज, खाद इत्यादिके लिए ऋण भी सुगमतासे मिल सकता है, मशीनें भी खरीदी जा सकती हैं या राजकी ओरसे मिल सकती हैं, पैदावारकी बिक्रीका भी अच्छा प्रबन्ध हो सकता है। सब खर्च काटकर जो मुनाफा बचेगा उसमें सबका हिस्सा लग जायगा। निजी सम्पत्तिका भी कुछ न कुछ पुनर्वितरण होगा। मकानोंका ही उदाहरण लीजिये। ऐसे भी लोग हैं जिनके मकानोंमें इतनी जगह है कि सारे घरके लोग कितना भी फैलकर रहें उसका उपयोग नहीं कर सकते। एक एक मकानके चारों ओर बागके रूपमें इतनी भूमि घिरी पड़ी है जिसमें एक एक छोटासा गाँव बस सकता है। यह अनुचित है कि इतनी जमीन एक परिवारके कब्जेमें रहे और हजारों परिवारोंके सिरपर श्रावण-भाद्रकी वर्षामें एक छप्पर तक न हो। ऐसे मकानोंमें सैकड़ों परिवार बसाये जा सकते हैं और जायँगे। पण्योंका परिसीमन भी करना होगा। नया प्रबन्ध होगा। अनुभवकी कमी होगी। पुराने अनुभवी लोगोंकी ओरके, जो पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठा रहे थे, असहयोग होगा; इसलिए आरम्भमें पण्योंकी पैदावार भी कम होगी, जो चीजें मिलेंगी वह सम्भवतः बहुत अच्छी भी न होंगी। पर ऐसा करना होगा कि सबकी जरूरतकी चीजें, जैसे अन्न-वस्त्र,

सबको मिल सके और कोई उनको व्यर्थ जमा न कर सके। एक बहुत बड़ी दिक्कत यह होगी कि नयी व्यवस्थाके स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेके कारण साधारण जनता इच्छा रहते हुए भी पूरी सहायता न कर सकेगी।

मैंने इन बातोंको बहुत संक्षेपमें इसलिए लिखा है कि इन ब्योरेकी बातोंका विस्तारसे वर्णन करना इस पुस्तकका विषय नहीं है। प्रत्येक देशके समाजवादी शासकोंको अपने देशकी परिस्थितिके अनुसार काम करना होगा। सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक होगा। सबकी कोशिश यह होगी कि उत्पादन, वितरण और बिनिमयके मुख्य साधनोंपर सार्वजनिक अधिकार हो और शोषण बन्द हो ताकि वर्गसंघर्ष खत्म हो जाय और सारे देशमें अपनी मेहनतसे कमाकर खानेवाले ही देख पड़ें अर्थात् वर्गभेद मिट जाय। इस लक्ष्यको सामने रखकर चलनेमें भिन्न भिन्न देशोंमें किञ्चित् भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करना पड़ता है। रूसको,* जहाँ बड़ी बड़ी जमीन्दारियाँ थीं, प्रजा अशिक्षित और रूढ़ियोंसे दबी हुई थी और पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठानेवालोंने असहयोगका कोई उपाय छोड़ नहीं रखा, इस पद्धतिके अनुसरणका अवसर मिला। रूस सरकारकी पंचवर्षी योजनाओंकी नकल आज जैसे असमाजवादी सरकारें भी करने लगी हैं। इन योजनाओंमें उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई यह बात उसके शत्रुओंको भी स्वीकार करनी पड़ती है। अन्न, तेल, कोयला, लोहा, वस्त्र,

* हमने सुविधाके लिये रूस लिख दिया है। अब पुराने रूसी सम्राज्यका नाम यू० यस० यस० आर० (यूनियन सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स—पञ्चायती समाजवादी प्रजातन्त्रोंका संघ) है।

लकड़ी सभी आवश्यक चीजोंकी उपज कई गुना बढ़ गयी, मकान बराबर बनते गये, रूस बाहरके बाजारोंमें माल भेजने लगा। शिक्षाका प्रचार इतना बढ़ गया कि एक पुश्तके बाद अशिक्षित मनुष्य न देख पड़ेगा। विज्ञान, साहित्य, सङ्गीतमें जबर्दस्त उन्नति हुई है। रोजगार मुनाफेके लिए नहीं होता इसलिए मजदूरोंको थका मारनेकी कोशिश नहीं है। रूस ही ऐसा सभ्य देश है जिसमें बेकारीकी कोई समस्या नहीं है। कोई दूसरा देश उसकी ठीक ठीक नकल नहीं कर सकता। पूँजीपतियों और जमीनदारोंकी ताकत, प्रजाकी शिक्षा, कृषि और व्यवसायकी उन्नति आदिके कारण पृथक् देशोंकी परिस्थितियाँ पृथक् होंगी।

इस व्यवस्थाको कायम करनेमें रूसको बहुतसी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा पर उसके शासक अपने पथसे न हटे। सामाजिक और आर्थिक उन्नतिके साथ साथ वह सैनिक शक्तिका भी सञ्चय करते गये क्योंकि उनको ज्ञात था कि एक न एक दिन उनको अपने राष्ट्रकी प्राणरक्षाके लिए बलवान शत्रुओंसे लड़ना होगा। हिटलरने तो अपनी पुस्तक माइन काम्फमें स्पष्ट ही लिख दिया था कि रूसके पश्चिमी प्रान्त यूक्रेनपर जर्मनीको कब्जा करना होगा। रूसके शत्रुओंका विश्वास था कि रूसी जनता सरकारका साथ न देगी। महायुद्धने रूसके मित्रों और शत्रुओंको समान रूपसे चकित कर दिया। सेना और जनताके अनन्य साहस, उत्साह और त्यागके सामने सबको सिर झुकाना पड़ता है। हिटलरकी हारका प्रधान श्रेय रूसको ही है।

इस कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि रूस आदर्श है। वह उदाहरण मात्र है। उसकी इतनी विशेषता है कि उसको ही

अबतक समाजवादी प्रयोग करनेका अवसर मिला है। अपनी परिस्थितिके अनुसार उसके शासकों और विचारकोंको जो कुछ उचित समझ पड़ा उन्होंने किया।

अक्सर लोगोंका यह खयाल है कि समाजवादी दस्तकारियोंका विरोधी होता है क्योंकि वह मशीनोंके प्रयोगका पक्षपाती है। ऐसे लोग यह समझते हैं कि समाजवादियोंके हाथमें अधिकार आते ही सब हाथके काम खत्म कर दिये जायँगे। यह खयाल गलत है। समाजवादी न तो मशीनोंके हाथ बिका है, न उसको हाथकी कारीगरीसे शत्रुता है। वह इन चीजोंपर किसी रूढ़िका दास होकर विचार नहीं करता। हाथकी कारीगरी प्राचीन है अथच उसमें कोई विशेष धार्म्मिकता या पूज्यता है, ऐसा वह नहीं मान सकता। मशीन नयी चीज है इसलिए उसका प्रयोग होना ही चाहिये, यह भी कोई अकाट्य नियम नहीं है। सब बातें परिस्थितिपर निर्भर हैं। समाजवादी व्यवस्थामें जब कृषि सम्मिलित ढङ्गसे होगी तब पैदावार बढ़ जायगी पर आदमी कम लगेंगे। इन लोगोंके लिए जीविकाका प्रबन्ध करना होगा। आजका-सा जमाना न होगा कि किसीको जीविका मिले या न मिले इसमें सरकारकी कोई जिम्मेदारी नहीं होती। व्यवसाय लोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए होगा, मुनाफेके लिए नहीं। इसलिए उसकी भी खूब वृद्धि होगी और आदमी भी बहुत खपेंगे क्योंकि आजकलकी भाँति लम्बे घण्टे न होंगे। फिर भी यह बहुत सम्भव है कि ऐसे लोग बच जायँ जो न तो खेतीमें लगे हों न व्यवसायमें। ऐसे लोग यदि हाथकी दस्तकारी करें तो हर तरह प्रोत्साहन मिलना चाहिये। उदाहरणके लिए, भारतमें कपड़ा बिननेकी कारीगरीके लिए अब भी उज्ज्वल भविष्य हो सकता है, हाँ, राजका

यह कर्तव्य है कि जिन दस्तकारियोंमें मनुष्यको अस्वास्थ्यकर परिस्थितिमें बहुत थोड़े पैसोंके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है, उनको उठा देनेका प्रयत्न करे। इसी प्रकार जो व्यवसाय गन्दे हैं उनको यथाशक्ति खत्म करना चाहिये।

पर कई ऐसे काम हैं जो मशीन की अपेक्षा हाथसे ही अच्छे हो सकते हैं। चित्रकारी हाथसे ही होगी, बाजे हाथसे ही बजेंगे। कई प्रकारके धातु या लकड़ीके काम हाथसे बड़े अच्छे बनते हैं। मिट्टी या कागजके खिलौने हाथके ही अच्छे होते हैं। सिलाईकी बारीकियाँ हाथमें ही देख पड़ती हैं। सूत जितना बारीक हाथसे कत सकता है, उतना मशीन नहीं तैयार कर सकती। इन कामोंको रोकना दूर रहा, राज और जनसमुदायसे हर प्रकारका प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि ज्यों-ज्यों लोगोंकी संस्कृतिमें उन्नति होगी और फुरसत बढ़ेगी त्यों त्यों गुणग्राहकता भी बढ़ेगी।

और भी कई व्यवसाय हैं जिनको छोटे व्यवसायी अच्छा चला सकते हैं। अपने बागमें माली या किसान प्रेमसे बड़े सुन्दर फूल और बड़ी अच्छी तरकारियाँ पैदा कर सकता है। अपनी गायके दूधसे ताजा मक्खन निकाल सकता है। इस प्रकारके व्यवसायोंमें कोई रुकावट नहीं पड़ सकती। रूसमें भी इनके लिए अनुमति है।

एक और खयाल बहुत फैला हुआ है। लोग समझते हैं कि समाजवादी पारिवारिक जीवनके शत्रु हैं और उनके हाथमें अधिकार आतेही विवाहकी प्रथा तोड़ दी जायगी और कौटुम्बिक जीवनका अन्त हो जायगा। यह खयाल भी गलत है। इसके फैलानेकी बहुत कुछ जिम्मेदारी उन लोगोंपर है जिन्होंने रूसी क्रान्तिके बाद रूसकी नयी सरकारको बदनाम करनेके लिए

यह खबर उड़ा दी कि उन्होंने स्त्रियोंका राष्ट्रीकरण कर दिया अर्थात् उनको सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया। बहुतसे भोले भाले आदमी इस कुटिल प्रचारके शिकार हुए। इतना अवश्य है कि समाजवादी स्त्रीको पुरुषका गुलाम नहीं मानता और समाजवादी शासनमें न केवल स्त्रियों वरन् बच्चोंके स्वत्वोंका भी लिहाज किया जायगा। आज पुरुष चाहे जो कर सकता है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय दूसरी स्त्रीको धोखा देकर या पैसा देकर उसकी मिट्टी खराब करता है और यदि बच्चा पैदा हुआ तो वह दर-दरका भिखारी होता है। बाप-माँके पापका बोझ उस निरपराधको ढोना पड़ता है। प्राचीनकालके आर्योंने आठ प्रकारके विवाह मानकर सभी प्रकारके बच्चोंको पिताकी सन्तान, अथच जायज, मान लिया था पर आजकल केवल ब्राह्म विवाह कानूनी रह गया है इसलिए पुरुष पिता बनकर भी सन्तानके भरण-पोषणके दायित्वसे बच जाता है। इसका प्रबन्ध तो करना ही होगा। पर इन बातोंका समाजवादसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिशील विचारोंके समाजवादी भी इन दिशाओंमें सुधार चाहते हैं। आज भारतमें असमाजवादियों द्वारा दहेज, तलाक, असवर्ण विवाह आदिके सम्बन्धमें कानून बनानेकी कोशिश हो रही है। समाजवादी न तो विवाह प्रथाको नष्ट करना चाहता है, न पारिवारिक जीवनका अन्त करना चाहता है। हाँ, यह अवश्य है कि बच्चे केवल बाप-माँकी नहीं, वरन् सारे समुदायकी विभूति हैं। उनके भरण-पोषण, शिक्षा आदिका दायित्व सारे समुदायपर है अतः बाप-माँ या अन्य अभिभावक इस विषयमें स्वतन्त्र नहीं छोड़े जा सकते। यदि इस देख-रेखका प्रभाव यह पड़े कि दो चार सौ बरस या और अधिक समयमें पारिवारिक बन्धन धीरे धीरे ढीला

होते होते आप ही राजकी भाँति मुरझाकर झड़ जायँ और परिवार खत्म हो जाय तो इसकी बावत कुछ कहा नहीं जा सकता। समाजवादियोंका रुख रूस सरकारकी कार्यशैलीसे जाना जा सकता है। क्रान्तिके पहले वर्षोंमें पारिवारिक बन्धन कुछ शिथिल पड़ गये थे, अब उनको फिर दृढ़ किया गया है। तलाकोंके कम करने और बच्चोंको गुरुजनका समादर सिखलाने की विशेष कोशिश हुई है।

समाजवादी धर्म्मके प्रति क्या करेंगे इस सम्बन्धमें बहुत लोगोंको चिन्ता है। ऐसे प्रसङ्गमें धर्म्मका अर्थ मजहब या सम्प्रदाय होता है। जहाँतक धर्म्मका अर्थ मनुप्रोक्त धृतिक्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तुसे है वहाँतक कोई चिन्ताकी बात नहीं है। वह तो सचमुच सनातन है पर वैष्णव, शैव, शाक्त, इस्लाम, ईसाईमत, हीनयान आदि सम्प्रदायोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी ? इस सम्बन्धमें इतना निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि समाजवादी राजमें किसीकी उपासनामें बाधा नहीं डाली जायगी पर किसी सम्प्रदायके साथ कोई खास रिआयत भी न होगी। कोई पद किसी सम्प्रदायका अनुयायी होनेके कारण नहीं दिया जा सकता। यह भी तय है कि सम्प्रदायोंकी आड़में जो अनाचार होते हैं या विशाल सम्पत्तियाँ थोड़ेसे व्यक्तियोंके भोगकी सामग्री बन जाती हैं, उनपर रोक होगी। पर इससे किसी सच्चे धर्म्मभीरुको क्षुब्ध न होना चाहिये। समाजवादियोंको यह विश्वास है कि साम्प्रदायिक झगड़ोंका निपटारा तभी हो सकता है जब उनकी तहमें छिपे हुए आर्थिक संघर्षोंका निपटारा हो।

लोगोंको यह चिन्ता इसलिए हुई कि रूसमें ईसाई धर्म्म-संस्थानपर शुरू शुरूमें बड़े जोरसे प्रहार हुआ और सरकारने

अनीश्वरवादका खूब प्रचार कराया। वहाँकी देखादेखी भारतमें भी कुछ तथाकथित समाजवादियोंने अनीश्वरवादका चरचा शुरू किया। यह बात मान-सी ली गयी कि समाजवादीके लिए अनीश्वरवादी और अनीश्वरवादका प्रचारक होना अनिवार्य्य है। यह सच है कि मार्क्सके दार्शनिक विचारोंमें किसी जगदारम्भक सगुण ईश्वरके लिए स्थान नहीं है पर अनीश्वरवाद मार्क्सका निकाला हुआ नहीं है। भारतमें आजसे हजारों वर्ष पहले अनीश्वरवादी थे। कोई समाजवादी ईश्वरको मानता हो या न मानता हो पर इसकी कोई खास जरूरत नहीं है कि वह दूसरोंसे साम्प्रदायिक झगड़ा मोल ले। रूसका उदाहरण सर्वदेशीय नहीं है। यूरोपमें ईसाई मजहबने एक विशेष रूप धारण कर लिया है। जिस प्रकार नरेशतन्त्र देशोंमें राजासे लेकर गाँवके पटवारीतक सरकारी अहलकार होते हैं, उसी प्रकार ऊपरके आर्चबिशप (या इसी प्रकारके अन्य अधिकारी) से लेकर गाँवतकके पादरी होते हैं। सबको वेतन मिलता है, बदली होती रहती है, तरक्की होती है, दण्ड मिलता है। राजके भीतर राज होता है। इस संघटनके कारण यह धर्म्म-संस्था बड़ी प्रबल होती है। साधारणतः यह सरकारका ही साथ देती है पर रुष्ट होने पर बड़े बड़े नरेशोंके छक्के छुड़ा देती है। अपनी शक्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए हर प्रकारकी पुरानी रूढ़ियोंका समर्थन करती है और हर बातमें ईश्वरीय आज्ञाओंकी दुहाई देती है। परिणाम यह होता है कि जो नयी विचारधारा उठती है उसको इस धर्म्म-संस्थासे* टक्कर लेनी पड़ती है। जिस प्रकार नरेश और सरकारके विरुद्ध आन्दोलन करना पड़ता है, उसी प्रकार पादरियोंके संघटनका मुकाबिला करना पड़ता है।

---

*The Church.

रूसी क्रान्तिके विधाताओंको दोनों शक्तियोंका समान रूपसे सामना करना पड़ा क्योंकि दोनोंकी शक्तियाँ मिल गयी थीं। उनको जारकी सेनाके साथ साथ खुदाकी सेनासे भी लड़ना पड़ा अतः यह स्वभाविक था कि अधिकार पाने पर वह जारशाहीके साथ साथ पादरीशाहीके गढ़को भी ध्वस्त करें। इसीलिए रूसमें विशेष रूपसे मजहबका विरोध हुआ। कुछ दिनोंतक तो नयी सरकारकी यह कोशिश हुई कि ईसाई मजहबकी जगह अनीश्वर-वादी बौद्ध धर्म्मका प्रचार हो। परन्तु प्रजाने ही इस बातको नापसन्द किया, इसलिए यह प्रयत्न छोड़ दिया गया। अब तो रूसमें ईसाई धर्म्मको फिर प्रोत्साहन मिला है। सारे रूसके बड़े पादरीका पद जो तोड़ दिया गया था, फिरसे कायम हुआ है और नये धर्म्माध्यक्षका सरकारी सम्मान किया गया है।

हिन्दुओं और मुसलमानोंमें कोई सङ्घटित धर्म्म-संस्था नहीं है। एक पुरोहित, धर्म्मशास्त्री या मौलवी दूसरेके साथ किसी जाब्तेके सूत्रसे नहीं बँधा है। इसलिए भारत जैसे देशमें रूस जैसी परिस्थिति नहीं है, वैसे सङ्घर्षकी आशङ्का नहीं है। फिर भी यदि यहाँ के धर्म्मोपजीवी अपना मार्ग छोड़कर लक्ष्मीपतियोंकी ढाल बनना चाहेंगे और दलितोंकी आहकी ओर ध्यान न देकर समाजवादका व्यर्थ विरोध करेंगे तो सम्भव है यहाँ भी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो और इन लोगोंकी अदूरदर्शिताके कारण लोग मजहबके नामके ही विरोधी हो जायँ। सामाजिक सुधा-रोंका विरोध करके और साम्प्रदायिक वैरविरोधका समर्थन करके इस समुदायने अब भी मजहबके नामको काफी बदनाम किया और अपनी रोटियोंको खतरेमें डाल रखा है।

यह कहना न होगा कि इस जमानेमें जनसाधारणकी अवस्थामें कल्पनातीत उन्नति होगी। समाजवादी राज इस बातका जिम्मा

लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्तिको काम दिया जायगा। कोई बेकारीके कारण नङ्गा-भूखा न रहने पायेगा। जब तक काम नहीं दिया जाता तबतक उसका भरण-पोषण सरकारी कोषसे होगा। पर काम देनेका तात्पर्य वैसा काम देना नहीं है जैसा हमारे देशमें कभी कभी कहतके जमानेमें दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यानमें रखना होगा कि देशके सब लोगोंको काम देना है अतः किसी एक आदमीसे बहुत काम करानेका फल यह होगा कि दूसरोंकी बारी न आयेगी, काम अधिक न होनेसे सबके पास पर्याप्त अवकाश रहेगा। आजकल अवकाश काटनेका साधन नहीं मिलता। फुर्सतवाले बहुधा मद्यपान करते, जुआ खेलते, ऐसे ही दूसरे निन्द्य काम करते पाये जाते हैं। फुर्सतसे लाभ उठानेकी योग्यता भी सबमें नहीं है। समाजवादी सरकारपर इसका भी जिम्मा होगा। वह शिक्षाका व्यापक प्रबन्ध करेगी। बच्चोंको ही नहीं, बूढ़ोंको भी इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि विषयोंके विद्वानोंके भाषण सुननेका मौका मिलेगा। थिएटर, पार्क, बाग, संग्रहालय और चित्रागार, मनोरञ्जन तथा शिक्षाकी सामग्री सबके पास पहुँचायगी। प्रत्येक प्रसूता स्त्रीका स्वास्थ्य और प्रत्येक बच्चेकी शिक्षा राजकी खास जिम्मेदारी होगी। जिस प्रकार किसीका नङ्गा-भूखा रहना राजके लिए लाञ्छन होगा, उसी प्रकार किसी रोगीका औषधोपचारके बिना रह जाना उसका कर्त्तव्यसे पतन होगा। जवानीमें अनिवार्य बीमा करके राज सबके बुढ़ापेको निष्कण्टक बना देगा। यह सब बातें कोरी कल्पनाकी सृष्टि नहीं हैं। रूसकी सरकार इनका प्रबन्ध करती रही है और वर्तमान शासन विधानमें इनका साफ साफ जिक्र है। यह सब जिम्मेदारी समाजवादी सरकार ही ले सकती है। इसका कारण यह है कि दूसरे शासनोंमें व्यापार-

व्यवसायका जो मुनाफा थोड़ेसे पूँजीपतियोंकी जेबोंमें जाता वह यहाँ सरकारी कोषमें रहता है।

अदालतोंका काम बहुत हल्का हो जायगा। सम्पत्तिकी व्यवस्था बदल जानेसे दीवानीके मुकदमें बहुत कम हो जायँगे। खाने पीनेका सुख होने पर ऐसे कामोंकी ओर भी बहुत कम लोगोंकी प्रवृत्ति जायगी जो फौजदारी कानूनके भीतर आते हैं। सब लोग इन्द्रिय-संग्रह करनेमें समर्थ हो जायँगे ऐसा दावा तो नहीं किया जासकता पर पेटके लिए वेश्यावृत्ति धारण करनेवाली स्त्रियाँ बाजारोंको कलुषित करती न देख पड़ेंगी। जागरित लोक-मत बहुतसे अपराधोंका आप ही दण्ड दे देगा।

हमने ऊपर कई बार साहित्य और कलाकी उन्नतिका जिक्र किया है। जब लोगोंके जीवनमें नये उत्साहका सञ्चार होता है, जब हृदय नयी स्फुर्तिसे भर जाते हैं, तभी सच्चे साहित्यकी सृष्टि होती है। साधारण मनुष्यके लिए यह जगत् एक ऐसी पहेली है जो समझमें नहीं आती। तामसी बुद्धि इसको जड़वत् देखती है। पर जो मनुष्य अपनेको जीवनके स्रोतके साथ मिला देता है, जो अपने तुच्छ स्वार्थोंको भुलाकर लोकहितको अपना हित बना देता है, उसको इस पहेलीका अर्थ समझमें आता है। वह जगत्के अनाद्यनन्त प्रवाहके साथ एकीभूत होनेके रसका आस्वाद करता है। उसी व्यक्तिको सौन्दर्यका अनुभव होता है। वही सच्चा कवि है और उसीकी कृति सच्ची कला है। क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थोंका शमन करके समाजवादी व्यवस्था कलाकी धात्री होगी। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले कला थी ही नहीं। समाजवादी ऐसा नहीं कहता। यह भी एक धारणा हो गयी है कि समाजवादी वर्तमान शील, सदाचार, साहित्य, कला सबके विरोधी हैं। यह धारणा भी गलत है। यह सब संस्कृतिके अंग हैं। संस्कृतिकी

धारा आदिकालसे आजकलतक चली आयी है। साम्राज्य आये और गये; जातियाँ उठीं और नष्ट हुईं; वर्गोंका अभ्युदय और पतन हुआ पर संस्कृतिकी झोलीमें सभी कुछ न कुछ डालते गये। समाजवादी पूँजीशाहीका भले ही विरोधी हो पर वह जानता है कि इस पूँजीशाही युगमें भी संस्कृतिकी पुष्टि हुई है। जिस प्रकार मिट्टीमें पड़ा हीरा अपनाया जाता है उसी प्रकार समाजवादी वर्त्तमान सभ्यता और संस्कृतिकी अच्छी बातोंको अपनाता है और फिर अपनी प्रतिभा और युगधर्म-प्रेरणाके अनुसार उनका परिवर्धन करता है।

यह सब होगा पर हम उस बातकी ओर फिर ध्यान आकर्षित करना उचित समझते हैं जो इस अध्यायके आरम्भमें कही गयी थी यानी यह कि समाजवादी इस बातको कदापि पसन्द न करेगा कि जो अधिकार उसको इतनी दिक्कतसे मिला है वह हाथसे निकल जाय और समाजवादका प्रयोग अपूर्ण रह जाय। इसलिए वह किसी भी व्यक्तिको ऐसी बातोंके कहने या करनेका कदापि मौका न देगा जिससे समाजवादी राज आपन्न हो। आलोचना हो सकेगी पर एक निश्चित सीमाके भीतर। इसमें सन्देह है कि पार्लिमेण्ट या इसी नामकी किसी अन्य सभा द्वारा शासन होगा या नहीं। जबतक लोगोंमें आर्थिक वैषम्य है, तबतक मताधिकार व्यर्थका ढकोसला है। उलटे उन लोगोंको जो नये शासनमें अड़ंगा लगाना चाहेंगे शरारतका मौका मिल जायगा। इसलिए शासनका सारा भार समाजवादियोंको प्रायः अपने ही ऊपर लेना पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजवादी लोकतन्त्रके विरुद्ध हैं। उनका विश्वास है कि जब वर्गभेद मिट जाय तो शासनका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक ही होना चाहिये। रूसमें अधिनायकतन्त्र खत्म करके लोकतन्त्र स्थापित हो गया है।

कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि इससे, अर्थात् राज द्वारा लोगोंपर कड़ी देख-रेख रखनेसे व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें बाधा पड़ती है। हम इसको स्वीकार करते हैं। पर यह बात वस्तुतः उतनी भयावह नहीं है जितनी कि सुननेमें प्रतीत होती है। सोचना यह है कि किसके व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें रुकावट पड़ेगी? जो लोग नये विधानके साथ होंगे, उनको तो डरनेकी कोई बात नहीं है। यह भी मानना चाहिये कि वह सब लोग जो आज शोषित और उत्पीड़ित हैं अर्थात् सब शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिक और कृषक, वह लोग जो वर्ग-आधिपत्य और वर्गसंघर्ष तथा शोषणके विरोधी होंगे, वह लोग जो पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीसे व्यथित होंगे, नये विधानके साथ होंगे। पर ऐसे ही लोगोंका नाम तो जनता है। इनको निकालनेके बाद तो वही मुट्ठी भर आदमी बच जायँगे जो अपने क्षुद्र स्वार्थके कारण पुरानी व्यवस्थाको फिर लाना चाहेंगे। ऐसे लोगोंके स्वातन्त्र्यपर अंकुश लगाना बुरा नहीं हो सकता। जो लोग इनकी बिगाड़ी हुई दुनियाँको बनानेका बीड़ा उठाकर चले होंगे वह इनको फिर बिगाड़नेका मौका तो नहीं ही दे सकते। इनके प्राण कोई नहीं लेता। इनको भी औरोंकी भाँति काम करनेका पूरा पूरा अवसर है पर यदि वह इस अवसरसे लाभ उठानेका अर्थ यह लगायें कि उनको नये शासनकी जड़ खोदने दिया जाय तो ऐसी हठधर्म्मीका लिहाज नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि नये शासकोंको उच्छृङ्खल न होना चाहिये। उनको अपने कामोंकी टीका-टिप्पणी सुननेको तैयार रहना चाहिये। अहम्मन्यता और असहिष्णुता उनके लिए दूषण होगी। पर आलोचकोंको भी यह स्मरण रखना चाहिये कि उनकी आलोचना नवविधानकी परिधिके बाहर न जाय।

इसपर कुछ लोग वह आपत्ति उठाते हैं कि यदि समाजवादी आगे चलकर अपने विरोधियोंके स्वातन्त्र्यको इस प्रकार रोकनेका विचार रखते हैं तो उनको इस समय स्वातन्त्र्यकी आशा न रखनी चाहिये। इसमें कोई घबरानेकी बात नहीं है। समाजवादियोंको यों भी बहुत कम स्वातन्त्र्य है। उनकी संस्थापर उनके विरोधियोंके दाँत रहते हैं। जितनी कड़ाईसे दुनियाकी सरकारें समाजवादी भाषणों, लेखों और पुस्तकोंको देखती हैं उतनी दूसरोंके लिए नहीं होती। हाँ, आजकलकी लोकतन्त्रात्मक पद्धतिसे समाजवादी जो कुछ फायदा उठा सकते हैं उठा लेते हैं। यह समाजवादके सिद्धान्तकी खूबी और समाजवादियोंकी लियाकत है। यदि पूँजीशाही देशोंमें लोकतन्त्र देख पड़ता है तो यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए विशेषरूपेण कृतज्ञता प्रकटकी जाय। कुछ अधिकार तो श्रमिकोंने, जो समाजवादके प्रमुख स्तम्भ हैं, अपने सङ्घटनके बलपर प्राप्त किये हैं। शेष अधिकार, यह सारा लोकतन्त्रका ढाँचा, चुनाव और पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डलका नाटक, सम्पन्न वर्गने अपने हितकी दृष्टिसे फैला रखा है। यदि थोड़ेसे मनुष्य बहुतसे मनुष्योंसे काम लेना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वह उन्हें मिलाकर रखें। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि हुकूमतकी असली कुञ्जी अपने हाथमें रखते हुए भी उनको विश्वास दिला दिया जाय कि शासनमें उनको भी समान अधिकार है। इससे वह शौकसे काम करते हैं। दूसरी बात यह है कि इस जरियेसे शासकोंको प्रजाके असन्तोषका पता चलता रहता है और बहुतसा असन्तोष तो भाषण, लेख और शास्त्रार्थकी गर्मीके रूपमें आप ही उड़ जाता है। फलतः आजकल विद्रोह और क्रान्तिकी नौबत बहुत कम आती है। यह समझकर ही यह

खेल किया जाता है और समाजवादियोंको भी थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता मिल रहती है। इस स्वतन्त्रताको छीननेका अर्थ केवल थोड़ेसे पढ़े लिखे समाजवादियोंका मुँह बन्द करना न होगा वरन् करोड़ों शोषितोंके असन्तोषको प्रकट होनेसे रोकना होगा। एक बार ऐसा किया जा सकता है पर जो अग्निशिखा ऊपर न उठने पायेगी वह भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी और किसीको पता भी न चलेगा। एक दिन विस्फोट अवश्य होगा। फिर उसको सँभालना सरल न होगा। इसलिए समाजवादियोंपर एहसान करके उनको कोई विशेष स्वतन्त्रता नहीं दी जा रही है। जो लोग इसे छीन लेनेकी धमकी देते हैं उनका अपना स्वार्थ उन्हें रोक रहा है। सख्ती करनेसे समाजवादियोंकी वर्तमान कठिनाइयाँ निःस्सन्देह बढ़ायी जा सकती हैं पर इसकी प्रतिक्रिया यह होगी कि पूँजीशाहीकी भावी कठिनाइयाँ भी बढ़ जायँगी।

इस जमानेमें काम करनेवालोंको मजदूरी मिलेगी। मजदूरीके दो रूप हो सकते हैं। रूसमें भी दोनों चलते रहे हैं। कुछ मजदूरी तो नक्द रुपयों (या उनकी जगह कागजकी मुद्रा) में मिलेगी। इससे लोग अपने अपने शौककी चीजें, जैसे पुस्तकें या चित्र या बाजा या बाइसिकिल, खरीद सकते हैं। शेष मजदूरी पण्योंके रूपमें दी जायगी। प्रत्येक श्रमिकको एक सर्टिफिकेट मिल जायगी जिसको दिखलाकर वह अन्न-वस्त्र आदिके भण्डारोंसे एक निश्चित परिमाणमें इन आवश्यक चीजों को प्राप्त कर सकता है।

मजदूरोंमें आज जैसी व्यवस्था या कुव्यवस्था न होगी। राज यह स्वीकार करेगा कि समुदायके जीवनके लिए सभी मनुष्योंकी आवश्यकता है। न तो सभ्य सामूहिक जीवन

गणितके अध्यापकके बिना चल सकता है, न सड़कपर झाड़ू देनेवालेके बिना। जो भी व्यक्ति अपने श्रमकी कमाई खाता है और कोई ऐसा काम करता है जिसका सामूहिक जीवनमें उपयोग है उसके योगक्षेमकी भार समुदायपर है। यह भी मानना होगा कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी आवश्यकताओंमें भेद होते हुए भी बहुतसे अंशोंमें सभी मनुष्य बराबर हैं। भूख सबको लगती है, सिरपर छप्पर सबको चाहिये। आज इसका लिहाज़ नहीं किया जाता, इसी लिए लोगोंकी मजदूरियोंमें बे-सिर-पैरकी बिषमता है। भारतका गवर्नर जनरल सरकारी नौकर है, चपरासी भी सरकारी नौकर होता है। दोनों ही मनुष्य हैं पर जहाँ गवर्नर जनरलको २५,०००) मासिक दिये जाते हैं वहाँ चपरासीके लिए १०) पर्य्याप्त समझा जाता है। लोगोंकी गरीबी और बेकारीसे फायदा उठाकर मजदूरी कम करनेकी कोशिश की जाती है। यह समझा जाता है कि एक आदमी चला जायगा तो दस मिल जायँगे। पर जो बहुत कम मजदूरीपर काम करेगा वह न तो अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है, न लड़के-बच्चोंका। उसकी कार्यक्षमता घटती है और वह अपनी सन्तानको अक्षम बनाता है। यह उसका और उसके लड़कोंका ही नुकसान नहीं है, सारे समुदायका नुकसान है। अतः समाजवादीका यह आग्रह है कि श्रम करनेवालोंके लिए देशकाल देखकर ऐसी मजदूरी नियत होनी चाहिये जिससे जीवन-यात्रा चल सके। उससे कम पारिश्रमिक या वेतन देना और लेना कानूनसे जुर्म करार देना चाहिये। यूरोपके कुछ असमाजवादी देश भी अब इस सिद्धान्तका स्वीकार करने लगे हैं।

इस नीचेकी सीमापर ही वेतन और पुरस्कार कायम होंगे।

दिमागसे काम करनेवालों, दफ्तरोंके बाबुओं, मशीन चलानेवाले कुशल मिस्त्रियों और साधारण मजदूरोंकी मजदूरियोंमें कुछ न कुछ फर्क होगा। जहाँ किसीको रुपयेकी पूँजी नहीं बनानी है, वहाँ आज जैसा भेद न होगा पर होगा अवश्य।

मजदूरी या वेतन निश्चित करनेमें एक ही सिद्धान्तसे काम लिया जा सकता है, बराबर कामके लिए बराबर मजदूरी दी जाय। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहते हैं, जो जैसा और जितना काम करे उसको वैसी और उतनी मजदूरी दी जाय। यह सिद्धान्त आजकल भी माना जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार ठीक ठीक नहीं किया जाता। लोग इसको न्याय-मूलक समझते हैं, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सबके स्वत्त्वोंकी उचित रक्षा होती है।

परन्तु विचार करनेसे प्रतीत होता है कि न इसमें न्याय है, न सबके स्वत्त्वोंकी रक्षा। दो व्यक्तियोंके कामकी तुलना कैसे की जाय? डाक्टर, अध्यापक, राजमन्त्री, मिट्टी ढोनेवाला मजदूर—इन सबके कार्य्य-क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं, फिर यह कैसे नापा जाय कि किसने कितना श्रम किया? जब श्रमको ही तोलना असम्भव है तो मजदूरी कैसे बिठायी जाय? बराबर समयसे भी अनुमान नहीं होसकता। एक ही कार्यक्षेत्रमें भी कामकी ठीक ठीक नाप नहीं हो सकती। दो मजदूर चार चार घण्टे तक एक साथ मिट्टी फेंकते हों। यदि काफी देख-रेख हो तो यह सम्भव है कि दोनों गिनकर बराबर टोकरियाँ फेंकें। दस्तूरके अनुसार दोनोंको मजदूरी भी बराबर मिल जायगी। पर यह न्यायकी बात नहीं हुई। दोनों की ताकत एकसी नहीं हो सकती। यदि एक दुर्बल है तो उतनाही काम करनेमें उसका अधिक श्रम पड़ा होगा। इसलिए दोनोंको बराबर मजदूरी

देना न्याय नहीं प्रत्युत अन्याय है। पर जो व्यवस्था अभी पूँजीशाहीके गर्भसे निकल रही है। उसमें पुरानी पद्धतिके कई चिन्होंका पाया जाना स्वाभाविक है। जैसा कि 'क्रिटिक आव दि गोथा प्रोग्राम' में मार्क्सने कहा है, बराबर श्रम और सामुदायिक पण्य-भण्डारमें बराबर भाग (अर्थात् बराबर मजदूरी) की अवस्थामें वस्तुतः एक व्यक्ति को दूसरेसे अधिक मिलता है, एक व्यक्ति दूसरेसे अमीर होता है। इन दोषोंको दूर करनेके लिए यह आवश्यक है कि स्वत्त्व बराबर नहीं किन्तु विषम हो। सुननेमें तो यह बात आश्चर्यकी प्रतीत होती है कि समतासे अन्याय और विषमतासे न्याय होता है पर जैसा कि लेलिनने कहा है, "हकका अर्थ है एक ही मानदण्डसे विभिन्न व्यक्तियोंको, जो एक दूसरेके बराबर नहीं हैं, नापना। इसीलिए 'बराबर हक' वस्तुतः बराबरीका उच्छेदक और अन्याय है।"
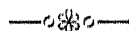
सत्रहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—द्वितीय सोपान

आजसे कुछ काल पहिले प्रमुख समाजवादियोंको यह आशा थी कि बहुत शीघ्र विश्वक्रान्ति हो जायगी और सारी पृथ्वीपर समाजवादी व्यवस्था कायम होगी। इच्छा तो ऐसी अब भी है पर उसके शीघ्र फलीभूत होनेकी आशा अब इतनी तीव्र नहीं है। जबतक वह दिन नहीं आता तबतक जो

देश अपने सामूहिक जीवनको समाजवादी सांचेमें ढालना चाहेगा उसको बलवान् पूँजीवादी देशोंके मुकाबलेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। वह उनका प्रत्यक्ष रूपसे कुछ न बिगाड़ता हो पर किसी भी देशमें समाजवादी शासनका सफल होना पूँजीवादियोंको बुरा लगता है। वह समझते हैं कि इससे लोगोंका विश्वास समाजवादकी व्यवहार्य्यतापर जम जाता है। इसलिए प्रत्येक समाजवादी देशको प्रत्येक पूँजीवादी देश अपना नैसर्गिक शत्रु समझता है। इस विद्वेषका सामना करनेके लिए समाजवादियोंको अगत्या राष्ट्रीय नीति बरतनी पड़ेगी। समाजवादका सिद्धान्त अन्ताराष्ट्रिय है पर समाजवादी शासनको कई अंशोंमें राष्ट्रीय सरकारोंका अनुकरण करना होगा। दूसरोंके स्वत्त्वका अपहरण वह न करेंगे पर अपनी रक्षाके लिए बलवान् सेना रखेंगे। सारे राष्ट्रको सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इतना ही नहीं पूँजीवादी देशोंमेंसे कुछके साथ सन्धि और मैत्री करनेकी भी आवश्यकता पड़ सकती है। उनका लक्ष्य यह होगा कि पराधीन देशोंको स्वाधीन बननेमें सहायता दें और लोकतन्त्रात्मक सरकारोंको अधिनायकोंके चंगुलमें फँसनेसे बचावें। राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रिय भावोंका समन्वय कठिन होते हुए भी असम्भव नहीं है, क्योंकि समाजवाद राष्ट्रीय पराधीनताका प्रबल विरोधी और राष्ट्रीय संस्कृतिकी रक्षाका समर्थक है।

यदि सभी, या कमसे कम अधिकतर, सभ्य देशोंमें समाजवादी क्रान्ति हो जाय तब तो बहुत ही अच्छा हो परन्तु इसकी सम्भावना कम ही है, इसलिए अलग अलग देशोंमें इसके लिए प्रयत्न करना होगा। 'फाउनडेशन्स आव लेनिनिज्म'में स्टालिन कहते हैं—पहिले एक देशमें क्रान्तिका सफल होना असम्भव समझा जाता था क्योंकि ऐसा माना जाता था कि जब सभी या

कमसे कम अधिकतम, उन्नत देशोंके सर्वहारे मिलकर प्रयत्न करेंगे तभी मध्यमवर्ग पर विजय प्राप्त हो सकेगी। यह विचार-विन्दु वस्तुस्थितिके अनुकूल नहीं है। साम्राज्यशाहीसे उत्पन्न परिस्थितियोंमें सब पूँजीवादी देशोंकी प्रगति एकसी नहीं हुई है, साम्राज्यशाहीके भीतर ऐसे भयावह उच्छेदक हैं कि युद्धोंका होना अनिवार्य्य हो जाता है, सभी देशोंमें क्रान्तिकारी आन्दोलनका समुदय हुआ है—इन सब कारणोंसे यह सम्भव ही नहीं, आवश्यक भी हो गया है कि भिन्न भिन्न देशोंमें सर्वहारा वर्गकी विजय अलग अलग हो। ऐसी विजयके बाद तत्तद्देशमें समाजवादी व्यवस्थाका कायम होना सम्भव ही नहीं निश्चितप्राय हो जाता है। जैसा कि लेनिन कहते हैं:—'सच तो यह है कि उत्पादनके सभी बड़े साधनों पर राजका अधिकार, सर्वहारा वर्गके हाथमें राजकी सत्ता, करोड़ों छोटे और बहुत छोटे कृपकोंके साथ सर्वहाराका सहयोग और सर्वहारा समुदायके हाथमें कृपकोंका निश्चित नेतृत्व इत्यादि—क्या सम्पूर्ण समाजवादी समाजके निर्माणके लिए यह बातें पर्याप्त नहीं हैं ?'

परन्तु अपने देशमें समाजवादी व्यवस्थाकी नींव डाल लेनेसे ही आशंका दूर नहीं हो जाती कि दूसरे देश बाधा डालेंगे इस सम्बन्धमें लेनिन कहते हैं:—'हम एक राजमें ही नहीं रह रहे हैं वरन् राजोंकी शृङ्खलाके बीचमें हैं। बहुत दिनों तक सोविएत् प्रजातन्त्र (रूस) साम्राज्यशाही राजोंके साथ नहीं रह सकता। अन्तमें दोमेंसे एक की विजय होगी। इस अन्तके पहिले सोविएत और पूँजीशाही राजोंमें कई भयंकर मुठभेड़ें होंगी।'

अपनी वैदेशिक नीतिमें सफलता प्राप्तकर लेने और पिछले अध्यायमें इङ्गित दिशाओंमें उन्नति कर लेनेसे ही कोई देश

अपनेको पूर्ण साम्राज्यवादी नहीं कह सकता। लेनिनने जिन बातोंका उल्लेख किया है वह समाजवादी व्यवस्थाकी अनुकूल परिस्थितियाँ हैं, उसकी सुदृढ़ नींव डालनेमें सहायक होती हैं।*

यह समाजवादकी ओर ले जाती हैं और वर्तमान पूँजीशाही प्रथासे तो बहुत दूर हैं पर शुद्ध समाजवादके सिद्धान्तके साथ तोलनेसे इनका पलड़ा हलका, बहुत हलका, ठहरता है। आज बाईस वर्षके प्रयोगके बाद भी रूस यह दावा नहीं करता कि उसने पूर्ण रूपेण समाजवादी व्यवस्था कायम कर ली है। जो कुछ अबतक हुआ है, जो कुछ पिछले अध्यायमें वर्णित है, वह मार्गके बड़े स्टेशनके तुल्य है। इसीलिए इस अवस्थाको समाजवादी अवस्थाका प्रथम सोपान कहते हैं।

समाजवादी व्यवस्था क्रान्तिके बाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही होगा अतः वह उसके दोषोंसे एकदम मुक्त नहीं हो सकती। वर्तमान अतीतसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता।

इस समय कामोंका विभाग ऐसा है कि उसमें कोई ऊँचा, कोई नीचा माना जाता है। कामोंका बँटवारा आगे भी रहेगा पर यह ऊँचे-नीचेका भाव क्रमशः मिट जायगा। आज मुँहसे तो यह भले ही कह दिया जाय कि सामूहिक जीवनके लिए सबकी जरूरत है अतः न कोई बड़ा है न कोई छोटा, पर यह कहना ठीक वैसा ही है जैसे यह कह देना कि चारों वर्ण विराट् पुरुषके शरीरके अंग हैं अतः उनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं है। शास्त्रकी मर्य्यादाको मानते हुए भी ब्राह्मण अपनेको शूद्रसे ऊँचा मानता है। उसी प्रकार एञ्जिनियर, मैनेजर, मिस्त्री अपनेको हथौड़ा चलानेवाले या पहिया घुमानेवालेसे ऊँचा मानते हैं।

---

* लेनिनके अवतरण उनके 'सेलेक्टेड वर्क्स' से लिये गये हैं।

मस्तिष्क द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाले शरीरसे काम करनेवालोंको अपनेसे छोटा मानते हैं। काम जीविकाके लिए किया जाता है, इसलिए नहीं कि काम करनेमें कोई रस है। यह बात अस्वाभाविक है पर अस्वाभाविक होते हुए भी सभ्य जगतमें सत्य है। पशु-पक्षी बेकार नहीं बैठते। उनसे कोई जबर्दस्ती काम नहीं लेता। पर चलने फिरने, दौड़ने उड़नेमें उनको मजा आता है। इसी बहाने स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, पेट भी भरता है। मनुष्यने अपनेको मुफ्तखोर बना लिया है। यदि भूखों मरनेकी सम्भावना न हो तो स्यात् हाथ पाँव भी न डुलाये। जो सबसे कम मिहनतका काम होता है उसे ही वह चुनता है और उसे भी इसलिए पूरा करता है कि सिरपर एक निरीक्षक सवार रहता है। यह बात अच्छी नहीं है। काम न तो पेट पालनेके लिए होना चाहिये, न किसी अफसरके डरसे। उसके करनेमें स्वतः आनन्द मिलना चाहिये, बिना श्रम किये जीवन अपूर्ण और नीरस लगना चाहिये।

इसके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षा पुस्तकोंसे तो मिलती ही है, उसका बहुत बड़ा साधन मनन है। सिद्धान्तोंपर विचार करना, अच्छे लोगोंको काम करते देखना, सामुदायिक प्रयोगोंकी सफलता और असफलताके कारणोंपर गौर करना, दूसरोंके साथ मिलकर सार्वजनिक हितके काम करना, यह सब शिक्षाके साधन हैं। सच्ची शिक्षाका परिणाम यह होना है कि व्यक्तिकी कर्तव्यबुद्धि जागती है। जहाँ साधारण मनुष्यको कर्तव्यपथपर लगानेके लिए पुरस्कार और दण्डकी जरूरत पड़ती है वहाँ सच्छिक्षा-मण्डित मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रेरणासे काम करता है। उसकी स्वार्थबुद्धि तिरोहित हो जाती है और उसे स्वहित और लोकहितमें कोई भेद नहीं प्रतीत होता।

वह 'सर्वभूतहितेरत' इसलिए नहीं होता कि उसको इहलोक या परलोकमें किसीको खुश करना है वरन् इसलिए कि लोकसंग्रह उसकी बुद्धिका स्वाभाविक अभ्यास हो गया है। उसको यह खयाल भी नहीं आता कि मैं दूसरोंका उपकार करने जा रहा हूँ वरन् समाजोपयोगी काम उसको आप ही आकृष्ट करते हैं।

कुछ लोगोंको यह शंका रहती है कि समाजवादी व्यवस्थाको पुरस्कारोंका अभाव विफल कर देगा। आज जो मनुष्य कोई नयी बात सोच निकालता है या अधिक परिश्रम करता है उसको अधिक रुपये मिलते हैं और वह इन रुपयोंको बढ़ा सकता है। यह प्रलोभन लोगोंसे काम कराता है। समाजवादी व्यवस्थामें बहुत रुपया भी न मिलेगा, पूँजी भी न जुट सकेगी, फिर कोई अपना दिमाग क्यों लगायेगा या दूसरोंसे अधिक परिश्रम क्यों करेगा? इसका उत्तर यह है कि प्रलोभनपर काम करना अशिक्षा और असंस्कृतिका द्योतक है। संसारके जितने स्थायी काम हुए हैं वह रुपयेके लोभसे नहीं हुए हैं। न तो व्यासको किसीने रुपये दिये थे, न शङ्कराचार्य्यको। फिर उन्होंने अपने अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ क्यों लिखे? चरकको किस विश्वविद्यालयमें नौकरी मिली और वाल्मीकिके हाथपर किस प्रकाशकने चार पैसे रखे? तुलसीदासजीने क्या यह झूठ कहा है कि उन्होंने रामायणको 'स्वान्तःसुखाय' लिखा? यह कहनेसे काम नहीं चल सकता कि यह लोग असाधारण महापुरुष थे। हम इस बातको स्वीकार करते हैं पर यह भी देखते हैं कि यह महापुरुष ही सब लोगोंको इन्द्रियनिग्रह, अस्तेय, निर्लोभिता आदिका उपदेश देते हैं। इसका अर्थ यह है कि इनकी रायमें साधारण मनुष्यका अन्तःकरण सदाके लिए पतित और स्वार्थी

नहीं है। यदि उसपरका कषाय साफ कर दिया जाय तो वह निर्मल हो सकता है। समाजवादी भी ऐसा ही मानता है। उसको मनुष्यकी नैसर्गिक पवित्रतापर विश्वास है। पर वह यह देखता है कि कुशिक्षा और बुरी परिस्थितिने लोगोंको ऐसा लालची बना दिया है कि बिना पैसेके कोई काम नहीं करना चाहता। यदि परिस्थितिमें सुधार हो जाय अर्थात् शोषण मिट जाय और सबके लिए मानवोचित सुविधाएँ मिल जायँ तथा इसके साथ ही उत्तम शिक्षा दी जाय तो फिर प्रलोभनोंकी आवश्यकता न रहेगी प्रत्युत लोग शौकसे और केवल लोक-हितके भावसे प्रेरित होकर अपनी पूरी शक्ति भर काम करेंगे। न कोई शारीरिक श्रमसे जान चुरायेगा, न बुद्धिसे काम लेनेसे रुकेगा। जब काममें ऊँच-नीचका भाव मिट जायगा, जब काम लोकसेवाकी दृष्टिसे किया जायगा, जब श्रम जीवनका एक आवश्यक अंग बन जायगा और सब लोग स्वतः अपनी पूरी योग्यता और शक्ति भर काम करने लग जायँगे, उसी समय सच्ची लोकतन्त्रता सम्भव होगी, क्योंकि उसी समय मनुष्य सच-मुच मनुष्य होगा और सब मनुष्योंका बराबर माना जाना सम्भव होगा। बराबरीका अर्थ यह नहीं है कि किसीमें विशेष प्रतिभा न होगी या प्रतिभावालोंकी पूछ न होगी। वस्तुतः प्रतिभाकी तभी कद्र हो सकती है जब ईर्ष्या-द्वेषका निराभाव हो और प्रतिभावान व्यक्ति समुदायका विशेष समर्थ सेवक, अथच सम्मान्य माना जाय।

उसी समय मजदूरीके अन्यायका भी अन्त होगा। जब बिना किसी दबाव या लालचके सभी अपनी सामर्थ्य भर श्रम कर रहे होंगे, उस समय किसीके श्रमकी नाप तौल करनेकी आवश्यकता न होगी। जैसा कि हम पिछले अध्यायमें लिख चुके

हैं, यह नाप-तौल अन्यायमय है पर वर्तमान कालमें इसके सिवाय कोई और उपाय नहीं है। पर उस समय यह प्रयास निरर्थक होगा। जो सार्वजनिक भण्डार सबके पूर्ण श्रमसे भरपूर होंगे उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी जरूरतके अनुसार ले लेगा। किसी मजदूरी देनेवालीकी आवश्यकता न रह जायगी।

उस समय समाजवादी व्यवस्था उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगी। इस अवस्थाको दूसरा सोपान कहते हैं।

इसके बाद सरकारका रूप क्या होगा? न तो उस समय कोई ऐसा वर्ग रह जायगा जिसका दमन करना हो, न लोगोंसे जबर्दस्ती काम लेना पड़ेगा न भोग्य वस्तुओंका मजदूरीके रूपमें वितरण करना रह जायगा, फिर सरकारके जिम्मे क्या काम रहेगा? उद्योग-व्यवसायकी व्यवस्थाकी तब भी आवश्यकता रहेगी। यदि कोई दुष्ट-प्रकृति या श्रमसे जान चुरानेवाला पैदा हो ही गया तो उसका भी नियन्त्रण करना होगा, पर जहाँ लोकमत इतना जाग्रत होगा वहाँ इन कामोंमें सभी लोगोंको अभिरुचि होगी और किसी विशेष सङ्घटनकी आवश्यकता न होगी। जनता विभिन्न कामोंके लिए समितियाँ और परिषद् बनायेगी पर इन संस्थाओंकी समता आजकलकी दण्डधारी सरकारोंसे न होगी। कामके अभावसे सरकार आप ही न रह जायगी। परन्तु जब सरकार ही नहीं तो राज कैसा? राजकी सत्ताका भी लोप हो जायगा और जैसा कि हम पन्द्रहवें अध्यायमें कह आये हैं, एंगेल्सके शब्दोंमें उस चरमावस्थामें बिना किसी प्रयासके 'राज मुरझाकर झड़ जायगा।'

वह दिन कब आयेगा यह हम नहीं कह सकते। कभी आयेगा भी या नहीं, यह भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा

सकता। जैसा कि लेनिनने 'दि स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' में कहा है 'यह बात किसी समाजवादीके दिमागमें नहीं आयी कि वह यह वादा करे कि यह चरमावस्था अवश्य आ जायगी।' पर द्वन्द्व-न्यायके अनुसार अबतककी प्रगतिकी जो कुछ आलोचनाकी जा सकती है, उससे ऐसी आशा और दृढ़ आशा की जा सकती है कि पृथ्वीके भाग्य जागेंगे और वह उस दिनको देखेगी। अभी वह काल बहुत दूर है परन्तु क्षितिजपर उसकी धुँधली आभा देख पड़ने लगी है।

इस पुस्तकका आरम्भ इस समस्याको लेकर हुआ था कि आज मनुष्य हैं पर मानव समाज नहीं है। लोग पारस्परिक रागद्वेष, कलह और युद्ध के शिकार होकर एक दूसरेका और मनुष्यताका संहार कर रहे हैं। स्वार्थने बुद्धियोंको उतना कलुषित कर रखा है कि सम अजन जो समाजका लक्षण है सम्भव नहीं है। सबके हित भिभिन्न और दूसरोंके हितोंके विरोधी हैं। इसका परिणाम पूँजीशाही और साम्राज्यशाही है पर यह दोनों शाहियाँ केवल परिणाम नहीं हैं, कारण भी हैं। यह क्षुद्र प्रवृत्तियोंको और जगाती हैं। समाजवादी इनको समूल नष्ट करना चाहता है। वह उत्पादनके साधनोंको सार्वजनिक सम्पत्ति बनाकर वर्गसंघर्ष मिटा देना चाहता है। उसको इस बातकी आशा है कि मनुष्यसे तुच्छ हितोंका मोह छुड़ाया जा सकता है। यदि उसकी आशा पूरी हुई तो समाजवादी व्यवस्थाकी चरमावस्थाका नाम ही मानवसमाज होगा। उसकी नींव उस दिन पड़ेगी जिस दिन समाजवादियोंके हाथमें अधिकारका सूत्र आयेगा।

कुछ विद्वानोंको इसमें यह आपत्ति है कि केवल आर्थिक और राजनीतिक उपायोंसे काम नहीं चल सकता, मनुष्यके

प्रसुप्त आध्यात्मिक गुणोंको जागरित करना होगा। तभी समाज-का संस्थापन होगा, अन्यथा लोग फिर लोभादिके वशीभूत हो जायँगे। हम शास्त्रार्थ न करके थोड़ी देरके लिए इसे मान लेते हैं। पर आध्यात्मिक गुणोंके प्ररोहणके लिए भी एक विशेष परिस्थिति चाहिये। जबतक स्वार्थ और लोभके द्वारा उन्नति करना सम्भव रहेगा, जबतक मनुष्य दूसरोंका शोषण कर सकेगा, तबतक इन आध्यात्मिक गुणोंकी नींद न टूटेगी। समाजवादको ही यह श्रेय है कि वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमें यदि मनुष्यमें कुछ आध्यात्मिक गुण हैं तो वह पनप सकें। इस दृष्टिसे भी मनुष्योंके बिखरे समुदायको समेट कर उसको समाजमें परिणत करनेकी क्षमता सिवाय समाजवादके और किसी दूसरी चीजमें नहीं देख पड़ती।

अठारहवाँ अध्याय

समाजवाद और समष्टिवाद

अभी तक हम इस पुस्तकमें बराबर समाजवाद शब्दका ही प्रयोग करते आये हैं पर अब एक और शब्द समष्टिवाद (कम्यूनिज्म) से भी परिचित होना आवश्यक है। कभी इसका प्रयोग एक ही अर्थमें कर दिया जाता है पर साधारणतः अन्तर माना जाता है। समाजवादके अन्तर्गत वह सब मत हैं जो उत्पादनके साधनोंको वैयक्तिक सम्पत्ति माननेके विरोधी हैं। इन मतोंमें गिल्ड सोशलिज्म और सिण्डिकलिज्मकी भाँति कम्यूनिज्म भी है। अतः समाजवाद सामान्यवाची नाम हुआ और समष्टिवाद विशेषवाची।

मार्क्सकी व्याख्या दूसरी है। इस विषयमें मैं भी उनका अनुगमन करता हूँ। उसके अनुसार समाजवादी व्यवस्थाका प्रथम सोपान समाजवाद और द्वितीय सोपान समष्टिवादका स्वरूप है। प्रत्युत उन्होंने यों कहा है कि प्रथम सोपान समष्टिवादकी निम्न भूमिका (नीचा दर्जा) और द्वितीय सोपान समष्टिवादकी उच्च भूमिका (ऊँचा दर्जा) है। इस मतके अनुसार समाजवादका उन्नत रूप समष्टिवाद है। आजकल समष्टिवादका रूससे कुछ विशेष सम्बन्ध माना जाने लगा है अतः बहुत लोगोंको अपनेको समष्टिवादी कहनेमें संकोच होता है। परन्तु सिद्धान्तकी दृष्टिसे यह संकोच निराधार ही नहीं अनुचित है। किसी समष्टिवादीके लिए हर बातमें रूसका समर्थक होना आवश्यक नहीं है।

इस कम्यूनिज्म शब्दके लिए हिन्दीमें कहीं कहीं 'वर्गवाद' चल पड़ा है। यह सर्वथा गलत पर्याय है। जो समष्टिवाद वर्गभेदको मिटाना चाहता है उसको वर्गवाद कहना उतना ही न्यायसङ्गत है जितना कि सार्वजनिक स्वस्थ्यविभागको सार्वजनिक गन्दगी विभाग कहना। सम्भवतः यह भूल कम्यूनिज्मको भारतमें प्रचलित 'कम्यूनल' शब्दसे मिलानेसे हुई है। कम्यूनलका अर्थ हुआ साम्प्रदायिक। अतः कम्यूनिज्मका अर्थ यह ले लिया गया कि वह किसी एक सम्प्रदाय अर्थात् वर्ग यानी श्रमिक वर्गके आधिपत्यका प्रतिपादन करना है। पर यह आधिपत्य तो अल्पकालीन अवस्था ही हो सकता है। जब वर्ग ही न होंगे तब वर्ग-आधिपत्य कहाँसे होगा? व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे इस शब्दका सम्बन्ध 'कम्यून' से है (यों 'कम्यूनल' भी उसी स्रोतसे निकला है) और इस बातको ध्यान में रखकर 'समष्टिवाद' अधिक जँचता है क्योंकि इस नामसे

यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इस मतमें सारे समाज़, नागरिकोंकी समष्टि, का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

उन्नीसवाँ अध्याय

भूतलपर स्वर्लोक

इस पुस्तकका विषय तो पिछले अध्यायके साथ समाप्त हो गया। फिर भी लेखनी रखनेके पहिले मैं पाठकोंके साथ एक बार भविष्यमें झाँकनेके लोभको संवरण नहीं कर सकता। इस प्रयासपर जो आपत्तियाँ उठायी जायँगी उनको मैं जानता हूँ और उनकी साधारताको स्वीकार करता हूँ। भविष्यकी जो झलक मैं सामने रखूँगा वह कल्पनाकी सृष्टि होगी पर यह पुस्तक तो उपन्यास नहीं है। इसमें गम्भीर विचार होने चाहिये, काल्पनिक चित्र नहीं। इसका यही उत्तर हो सकता है कि कल्पना भी बुद्धिका ही एक धर्म्म है और यदि निरङ्कुश न कर दी जाय तो उससे भी उपादेय सामग्री प्राप्त होती है। कला और विज्ञानकी उन्नति कल्पनासे काम लिये बिना हो ही नहीं सकती; कल्पनाको त्याज्य माननेवाला शुष्क राजपुरुष कभी सफल शासक नहीं बन सकता। परन्तु कल्पनापर नियन्त्रण रहना चाहिये। यह नियन्त्रण ज्ञान और अनुभवसे प्राप्त होता है। जो व्यक्ति जगत्के भौतिक और मानस अङ्गोंका जितना ही द्वन्द्वन्यायात्मक अध्ययन करता है उसकी कल्पना उतनी ही पुष्ट होगी अर्थात् उसके कल्पनाप्रसूत चित्र उतने ही सत्य निकलेंगे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकारके अध्ययनसे प्रातिभ दर्शनकी विभूति प्राप्त हो जाती है या भविष्यत्का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। न तो द्वन्द्वन्याय किसीको योगी बनाता है न

ज्योतिषी, पर कार्यकारणकी शृंखलाको समझानेमें निःसन्देह सहायता देता है जिसकी वजहसे भविष्यके सम्बन्धमें दृढ़ अनुमान किया जा सकता है। जो मनुष्य यह समझ सकता है कि जगतका वर्तमान झुकाव किधर है वह इसका भी अन्दाज कर सकता है कि काल पाकर इस झुकावका क्या परिणाम, क्या स्वरूप, होगा। 'यह अवश्य होगा' नहीं कहा जा सकता पर 'सम्भवतः ऐसा होगा' कहा जा सकता है और इस 'सम्भवतः' में बहुत कुछ यथार्थता होगी।

इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'कम्यूनिज्म ऐण्ड माडर्न थाट'में ए० एम० डेबारिनका 'कार्ल मार्क्स ऐण्ड दि प्रेजेण्ट' शीर्षक एक लेख है। उसमें संवत् १९४५ का लिखा एंगेल्सका एक लेख उद्धृत है। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक महायुद्धका होना अवश्यम्भावी है। उस युद्धका स्वरूप भी उन्होंने इन शब्दोंमें दिखलाया है—अस्सी लाखसे एक करोड़ सिपाही एक दूसरेका गला घोटेंगे और इसके साथ ही सारे यूरोपको इस प्रकार खा जायँगे कि टिड्डी दल भी उस तरह नहीं खा सकता। जर्मनीकी त्रिंशतवर्षीय युद्धकी भीषणता तीन या चार वर्षोंमें केन्द्रीभूत हो जायगी और सारे यूरोपीय महाद्वीपमें फैल जायगी—कहत, बीमारी, न केवल सिपाहियों वरन् जनसाधारणका सभ्यता छोड़कर बर्बरतामें पतन, व्यवसाय और साखके यन्त्रका बुरी तरह बिगड़ जाना, इन सब बातोंका परिणाम व्यापक दिवालियापन होगा। पुराने राज और उनकी पुरानी राजनीति खत्म हो जायगी। दर्जनों मुकुट धरणीपर लोटते होंगे पर कोई गद्दीपर बैठनेकी जिम्मेदारी लेनेको तैयार न होगा। यह बात समझमें न आयेगी कि युद्धका परिणाम क्या होगा और कौन जीतेगा, कौन हारेगा। एकही

बात निश्चित है, सभी थक जायँगे और वह परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी जिसमें अन्तमें श्रमिक वर्गकी विजय होगी।

यह वाक्य महायुद्धसे छब्बीस वर्ष पहिले लिखे गये थे पर युद्धका कितना सच्चा चित्र खींचते हैं। अभी श्रमिक वर्ग विजयी नहीं हुआ है सम्भवतः इसी प्रकारके कुछ और महायुद्धोंकी जरूरत है पर उसकी विजयके अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी है। इसी प्रकार सम्वत् १९३६ में उन्होंने लिखा था कि महायुद्ध जर्मनीके सोशल डेमाक्रेटिक दलको, जो उस समय जर्मनीका समाजवादीदल था, गाड़ देगा। यही हुआ। इस दलने युद्धके समय और उसके बाद ऐसी दुर्बलता दिखलायी कि आप भी चौपट हुआ और हिटलरको जर्मनीका अधिनायक बनाया गया। १९४३में एंगेल्सका वेबेलको पत्रमें यह लिखना कि युद्धके बाद रूसमें क्रान्ति होगी साधारण बात नहीं है।

यह उदाहरण एंगेल्सकी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिए नहीं प्रत्युत यह दिखलानेके लिए दिये गये हैं कि बुद्धिसे काम लेनेसे भविष्यके सम्बन्धमें काफी सफल कल्पना की जाती है।

एच० जी० वेल्स अंग्रेजीके प्रसिद्ध लेखक हैं। कई वर्ष हुए उन्होंने 'टाइम मशीन' नामकी एक छोटीसी पुस्तक में भविष्यका चित्र खींचा था। उसमें उन्होंने दिखलाया था कि यदि शोषण और वर्ग सङ्घर्ष कायम रहे तो हजार वर्षोंमें सभ्यता और संस्कृतिका लोप हो जायगा। हालमें उन्होंने एक नयी पुस्तक लिखी है। उसका नाम है 'दि शेप आव थिंग्ज टु कम'। यह भी भविष्यका चित्र है। उसका अन्तिम अंश मनोरञ्जक है। इक्कीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें समस्त पृथ्वी एक राज हो जायगी और एक जगत्परिषत् (वर्ल्ड कौंसिल) सरकारके रूपमें शासन करती होगी। कई वर्षों तक परिषत्‌को बड़ी

दृढ़तासे काम लेना होगा पर धीरे धीरे इसकी जरूरत कम होती जायगी। परिषत्की एक बैठक मेगेवमें होगी। वहाँ बात ही बातमें यह प्रतीत हो जायगा कि वस्तुतः अब सरकार शासन नहीं कर रही है, क्योंकि शासनकी आवश्यकता नहीं रही। अन्तमें निम्नाङ्कित घोषणाके साथ इस बैठककी कारवाई समाप्त होती है "जगद्राजने छोटे छोटे राजोंको खत्म किया था, अब वह भी उनकी भाँति खत्म होता है। चक्रवर्ती प्रभु सरकार जिसने अन्य सब प्रभु संस्थाओंको जीतकर अपनेमें मिला लिया था अब मनुष्य जीवनके पर्देसे गायब होती है। दीर्घकालसे मनुष्य शान्ति और अभयके लिए अन्धेकी तरह कोशिश करता रहा है। आज इस परिषत्की कृपासे यह प्रयत्न सफल हुआ है। परिषत् अब छुट्टी लेती है।....यह संयुक्त मनुष्यताका उषाकाल है। मनुष्यकी शहादतका जमाना गया।....अब कोई गुलाम नहीं है, कोई निर्धन नहीं है; कोई जन्मना छोटा नहीं माना जाता।.... भौतिक जीवनके लिए सङ्घर्ष समाप्त हुआ। उसमें विजय हुई।.... अब सबको सत्यके लिए और उस अनिर्वचनीय वस्तुके लिए जिसे सौन्दर्य्य कहते हैं प्रयत्न करनेकी स्वतन्त्रता है.... ....हमको जगत्की आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अपने हिस्सेका काम करना होगा।....हम जहाँ चाहें जा सकते हैं, जो काम चाहें कर सकते हैं, जो सुख चाहें भोग सकते हैं। शर्त केवल इतनी है कि उस सुखभोगसे दूसरे किसीकी हानि न हो। वीर परिषत्, तुमको धन्यवाद!" इस घोषणाके साथ बैठक समाप्त हुई। उसके साथ ही परिषत्ने अपने आपको तोड़ लिया; जब सरकार ही न रही तो राजकी सत्ताका भी लोप हो गया। केवल स्वास्थ्य, शिक्षा और सद्व्यवहारकी तीन समितियाँ रह गयीं। इनके पास लोगोंके सद्भावके सिवाय कोई दूसरी शक्ति नहीं थी।

ऊपर हमने सुविधाके अनुसार क्रियाओंमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंका प्रयोग कर दिया है पर यह स्पष्ट है कि वेल्सने यहाँ अपनी बुद्धि और कल्पनाके अनुसार उस समयका चित्र खींचा है जिसका जिक्र हमने सत्रहवें अध्यायमें किया है। यह समाजवादी व्यवस्थाके द्वितीय सोपानके स्थिर हो जानेके बादकी बातें हैं। मेगेवकी घोषणाके बाद जगत्परिषत् और जगद्राजका स्वतः खत्म हो जाना उस अवस्थाका स्वरूप है जिसमें एंगेल्सके अनुसार जागरित लोकमत सरकारको अनावश्यक और व्यर्थका भार बना देगा और राज आपसे आप मुरझा कर झड़ जायगा।

पर यह तो पटाक्षेपके समयका चित्र है। मनुष्यको स्वभावतः यह जानने की उत्सुकता होती है कि बीचमें लोगोंका रहन सहन कैसा होगा। इस सम्बन्धमें हम इलिनके 'मास्को हैज ए प्लैन' से एक अवतरण देते हैं—

पुराने जमानेमें नगर कैसे बसता था ?

बीचमें एक किला और राजमहल होता था।

इस केन्द्रके चारोंओर दूकानों और बाजारोंका घेरा होता था। (इस घेरेके चारों ओर भारतमें तो शहरपनाह अर्थात् नगररक्षक दीवार होतीं थी।) जब कल-कारखाने खुलने लगे तो वह दूकानों और बाजारोंके घेरेके बाहर खुले। इस तरह कारखानों और उनके साथकी इमारतों, गोदामों, मजदूरोंके रहनेको कोठरियों आदिका एक घेरा दूकानों और बाजारोंके घेरेके चारों ओर बन गया। इन दूकानों, बाजारों और कारखानोंके बीच बीचमें रहनेके मकान होते थे। अच्छे मकान शहरके बीचमें, साधारण घर बाहरी भागोंमें बनते थे।

नया नगर इस प्रकार नहीं बसाया जायगा। उसके बीचमें

न तो गढ़ी होगी, न महल, न बाजार वरन् एक बड़ा कारखाना या बिजली घर।

प्रत्येक बिजली घर, कारखाने और कारखानोंके पुञ्जके चारों ओर नगर खड़ा हो जायगा।

नगरके हृदय अर्थात् बिजलीघर या कारखाना और रहनेके मकानोंके बीचमें किलेकी पत्थरकी दीवारें और तोप चलानेवाले भयावने बुर्ज न होंगे। उनकी जगह हरी दीवारें होंगी अर्थात् चारों ओर बड़े बड़े बाग और पार्क होंगे। इनके बाद तब रहने के मकान होंगे। इन बागों द्वारा मकानोंकी चिमनियोंके धुएँ और कालिखसे रक्षा हो जायगी।

मकान और मुहल्ले भी सब एक प्रकारके न होंगे।

आज नगरोंमें सड़कें इधर उधर अनियमित रूपसे निकाली जाती हैं। इनके दोनों ओर मकान होते हैं। कवायद करनेवाले सिपाहियोंकी भाँति सब मकानोंका मुँह एक ओर होता है। उस समय ऐसा न होगा। नगरके मध्य भागसे सूर्य्यकी किरणों की भाँति सड़कें निकलेंगी। इनके दोनों ओर सायेदार वृक्ष होंगे। मकान इस प्रकार बनाये जायँगे कि उनको सूर्य्यसे अधिक से अधिक प्रकाश मिल सके। प्रत्येक पाठशाला, पुस्तकालय और अस्पतालके चारों ओर फूलकी क्यारियाँ होंगी। थोड़े थोड़े मकानोंके बाद भी क्यारियाँ होंगी। हर दरवाजेपर नीम, मौलिश्री, नीबू, पारिजात आपका स्वागत करेंगे।

नगरकी सड़कों पर खड़खड़ाहट घड़घड़ाहटकी जगह चिड़ियोंका मधुर कलरव और पेड़ोंका प्रशान्त और आल्हादक मर्मर सुन पड़ेगा। आज जो शोरगुल हमको पागल किये रहता है, उसका पता भी न होगा।

संस्थाएँ मकानोंसे दूर रहेंगी। लोगोंको शान्त और नीरव जगहोंमें रहना चाहिये।

सड़कोंमें इतना पैदल या सवारियोंपर आना जाना न होगा। नगर भी इतने बड़े बड़े न होंगे। एक लाखकी आबादीका नगर भी बड़ा समझा जायगा।

भविष्यका प्रत्येक नगर वस्तुतः कारखानेमें काम करनेवालोंका गाँव होगा। आजकल हर प्रकारके कल-कारखाने एक ही केन्द्रमें बना दिये जाते हैं। उस समय ऐसा न होगा। कारखाने सारे देशमें विचारपूर्वक फैला दिये जायँगे। प्रकृति लोहा, कोयला, तेल, रुई आदि कच्चे मालको एक ही जगह नहीं पैदा करती, फिर सब कारखाने एक ही जगह क्यों रखे जायँ ?

यह तो नगर-निर्माणकी बात हुई। गाँव किस प्रकारके होंगे ?

गाँव होंगे ही नहीं। सरकारी और सम्मिलित खेतों और बागोंके चारों ओर कृषि-कारखाने अर्थात् आटा पीसनेकी चक्कियाँ, दूध, दही, मक्खन, घी तैयार करनेकी जगहें, फलोंको मसालेमें भरकर सुरक्षित बनानेके कारखाने इत्यादि होंगे। यह सब कारखाने खेतों और बागोंकी पैदावारको बाजारमें बेचने और घरोंमें बरतने लायक बनायेंगे। इनके चारों ओर नगर होगा। इसका अर्थ यह है कि नगर और गाँवका भेद मिट जायगा। किसान और मजदूर यह पृथक् नाम भी गायब हो जायँगे। केवल श्रमिक शब्द रह जायगा। खेतमें, दफ्तरमें और कारखानेमें शरीरसे और मस्तिष्कसे काम करनेवाले सभी श्रमिक कहलायँगे।

यह बातें आजसे सुदूर भविष्य, हजारों वर्ष बाद, आनेवाली नहीं हैं। कल्पनासे यह भी लिखी गयी हैं पर इस कल्पनाके लिए दृढ़ आधार है। अपनी पञ्चवर्षीय योजनाओंमें रूसने

उपर्युक्त ढङ्गके कई नगरोंको बसानेका आयोजन किया। कल्पना और स्वप्नको जागरित और प्रत्यक्षके क्षेत्रमें लानेका सफल प्रयत्न हमारी आँखोंके सामने हो रहा है। जैसा कि इलिनने इस अवतरणसे थोड़ा आगे चलकर कहा है 'समाजवाद अब कहानी, मनकी कल्पना मात्र, नहीं है। हम स्वयं उसका निर्माण कर रहे हैं।

भविष्यके जो चित्र हमने सामने रखे हैं उनके लिए दूसरे प्रकारका ही मनुष्य चाहिये। जैसा कि हम सत्रहवें अध्यायमें लिख आये हैं, समाजवादियोंको आशा है कि भविष्यत् कालका मनुष्य आजके मनुष्यसे भिन्न प्रकारका होगा। उस समयका समाज नागरिकोंके सौहार्द, निष्कामिता, सहयोगके आधारपर ही चल सकेगा। समाजवादियोंका अटल विश्वास है कि भविष्यतके मनुष्यमें यह गुण स्वभावतः पाये जायँगे।

तो क्या समाजवादी भूतलपर स्वर्लोक लाना चाहते हैं? हाँ और नहीं। यदि स्वर्ग स्थापित करनेका यह अर्थ है कि सब लोग सुखी और समृद्ध हों, सब स्वस्थ और ज्ञानसम्पन्न हों तो बेशक हम स्वर्ग स्थापित करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि मनुष्य क्षुद्र बातोंके लिए अपनी मनुष्यता न खो बैठे। हमारी यह आकांक्षा है कि लोग रोटीकी चिन्तासे मुक्त होकर अपनी सांस्कृतिक उन्नति करें। यदि मनुष्यमें कोई गुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं तो उनका सम्बोधन भी उसी अवस्थामें सम्भव है। पर स्वर्गमें ईर्ष्या-द्वेषका अभाव नहीं होता, ऊँच-नीचका भाव नहीं मिटता, युद्ध भी होते हैं। कमसे कम पुराण तो ऐसा ही बतलाते हैं। यदि यह वर्णन सच है तो हम ऐसा स्वर्ग नहीं चाहते, हम पृथ्वीपर इससे अच्छी व्यवस्था चाहते हैं।

यह असम्भव नहीं है। जो लोग ऐसा मानते आये हैं कि मनुष्य योनि सब योनियोंसे श्रेष्ठ है उनको तो यह बात अवश्य

स्वीकार कर लेनी चाहिये कि मनुष्य अपने इस कर्म्म और भोग क्षेत्र अर्थात् पृथ्वीको सर्वलोक-मुकुटमणि, सच्ची वसुन्धरा, बना सकता है।

बहुत दिनोंमें मनुष्यके हृदयसे यह प्रार्थना उठती रही है—
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा सस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः॥

हमारा विश्वास है कि समाजवादके द्वारा इस प्रार्थनाको मानव सफलीभूत करेगा।

बीसवाँ अध्याय

कुछ दूसरी समाजवादी धाराएँ

पिछले अध्यायोंमें हमने समाजवादके जिस रूपको अपने सामने रखा है उसका प्रतिपादन कार्लमार्क्स और एङ्गेल्सने सबसे पहिले किया था। इसलिए उसको मार्क्सवाद भी कहते हैं। इस समय अपनेको समाजवादी माननेवालोंमें सबसे बड़ी संख्या ऐसे लोगों की ही है जो किसी न किसी रूपमें इसी वादके अनुयायी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साधारणतः समाजवाद शब्द मार्क्सवादका पर्य्याय हो गया है।

मार्क्सको अपना आचार्य्य माननेवाले सब लोगोंके विचार प्रत्येक विषयमें एकसे ही हों, ऐसा नहीं है। इन लोगोंमें कई बातोंमें मतभेद है परन्तु प्रत्येक दल अपने को सच्चा मार्क्सवादी कहता है और मार्क्स तथा एङ्गेल्सके शब्दोंकी उसी व्याख्याको ठीक बतलाता है जो उसके अनुकूल होती है। एक दूसरेका खण्डन और विरोध बड़ी ही उग्रतासे किया

जाता है। यहाँपर इन साम्प्रदायिक भेदोंपर विचार करना अनावश्यक है। सैद्धान्तिक मतवैषम्य तो थोड़ा बहुत होता ही है पर नेताओंकी महत्वाकांक्षा और उनका आपसी कलह इस वैषम्यकी जड़को और भी पुष्ट करता जाता है। नीचा दिखानेकी इच्छा अपने प्रतियोगीमें बहुतसे सैद्धान्तिक छिद्र दिखलाती है।

परन्तु ऐसे भी समाजवादी समुदाय हैं जिनकी स्फुर्तिका उद्गम प्रत्यक्षतः या प्रधानतः मार्क्स और एङ्गेल्ससे नहीं हुआ है। ऐसे लोग समाजवादी हैं परन्तु मार्क्सवादी नहीं हैं। समाजवादी होनेके नाते पूँजीशाहीका अन्त करना इनको भी अभीष्ट है और आर्थिक शोषणके यह भी विरुद्ध हैं परन्तु कई अंशोंमें इनको मार्क्सवादके सिद्धान्त और उसकी व्यावहारिक नीति पसन्द नहीं है। यहाँपर हम ऐसी तीन विचारधाराओंका उल्लेख करना पर्य्याप्त समझते हैं।

फेबिअनवाद*

सं० १९३९ में इङ्गलैण्डमें फेबिअन सोसायटीका जन्म हुआ। इसमें उस देशके कई गण्य मान्य व्यक्ति समय समयपर सम्मिलित हो चुके हैं। सिडनी वेब और उनकी पत्नी बीटिस वेब, ग्रेहम वैलेस, रैमजे मैकडोनल्ड, बर्नर्ड शा, एनी बेसेण्ट—यह सब इसके सदस्य रह चुके हैं।

*फेबियस एक रोमन सेनापति था। वह बहुत दिनोंतक धीरे धीरे तैयारी करके अपने शत्रुको जीतनेमें समर्थ हुआ। उसीके नामसे फेबिअन शब्द निकला है। यह नाम क्यों चुना गया यह समुदायकी नीति देखनेसे स्पष्ट हो जायगा।

थोड़ेमें यह कह सकते हैं कि फेबिअन लोग जिनका प्रभाव ब्रिटेनके बाहर नहींके बराबर है, यह मानते हैं कि पूँजीशाहीका अन्त होना चाहिये और उत्पादनके साधनोंका नियंत्रण समाजके .हाथोंमें होना चाहिये। वह भी ऐसा मानते हैं कि समाजके शरीरसे वर्गभेद को मिटा देना चाहिये परन्तु इन कामोंके लिए वह उन साधनोंका उपयोग करना हानिकर और अनावश्यक समझते हैं जो मार्क्सवादीके प्रधान हथियार हैं। फेबियन कहते हैं कि जगत् स्वयं समाजवादकी ओर झुक रहा है। जो लोग अपने को समाजवादी नहीं कहना चाहते, जो सरकारें समाजवादके सिद्धान्तोंको नहीं मानना चाहती, उनको भी ऐसे उपायोंका आश्रय लेना पड़ रहा है जिनका आधार समाजवाद है। रेल तार जैसे कई उद्योगोंको सरकारें चला रही हैं; आये दिन कलकारखानोंपर नियंत्रण करना पड़ता है, जो रुपया शोषणके द्वारा कमाया जाता है उसका वहुत बड़ा भाग आयकरके रूपमें छीन लिया जाता है, बूढ़ोंको पेंशन दी जाने लगी है, गर्भवती स्त्रियों और निर्धन घरोंके बच्चोंके भरणपोषण-शिक्षणका भार समाज अपने ऊपर लेता जा रहा है। कई देशोंमें बेकारोंको काम या भोजन देनेका भार राजने ले लिया है। परिस्थितियाँ लोगोंको उसी दिशामें ढकेल रही हैं। पूँजी-पति भलेही सङ्गठित होते जायँ परन्तु श्रमिकोंके सङ्गठनका स्वरूप भी अन्ताराष्ट्रिय हो गया है और उनकी शक्ति भी प्रतिदिन बढ़ती जाती है अतः वह अपने शोषकोंका सामना करनेमें अधिकाधिक समर्थ होते जा रहे हैं।

ऐसी अवस्थामें वर्गविद्वेषकी आग को प्रज्वलित करने और क्रान्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसे प्रयत्नोंसे अपने विरोधियोंको सतर्क और संघटित होनेका अवसर मिल जाता

है और अपनी प्रगतिमें बाधा पड़ती है। आवश्यकता इस बातकी है कि जनमत प्रभावित किया जाय, लोगोंको शिक्षालयों, समाचारपत्रों, पुस्तकों और व्याख्यानों द्वारा समुचित शिक्षा दी जाय। सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि मध्यम वर्गकी मनोवृत्ति बदली जाय। यही वर्ग पूँजीशाहीका मुख्य स्तम्भ है। इसके साथ साथ राजनीतिक संस्थाओंका पूरा उपयोग करना चाहिये। अधिकसे अधिक लोगोंको व्यवस्थापक समितियोंके लिए मत देनेका अधिकार प्राप्त करना चहिये, चुनावोंमें अपनी ओरसे उम्मीदवार खड़े करना चाहिये और चुन जानेपर ऐसे कानून बनवाने चाहियें और ऐसी देशी-विदेशी नीतिका पालन करना चाहिये जिससे समाजवादी व्यवस्था निकट आती जाय। स्थानीय शासनसंस्थाओंमें भी इसी प्रकार घुसना चाहिये। विभिन्न देशोंके समाजवादियोंको एक दूसरेका सहयोग भी प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकार काम करनेसे प्रगति धीमी तो होगी परन्तु प्रति-क्रान्तिकी आशङ्का नहीं है। जो पाँव आगे बढ़ा वह पीछे नहीं पड़ सकता। किसी वर्गको खुलकर शत्रुता करनेका अवसर नहीं मिल सकता और शिक्षित लोकमतका समर्थन पदपदपर प्राप्त होता रहेगा।

सिण्डिकेट वाद

इसका पूरा नाम सिण्डिकलिज्म है। इस शब्दका ठीक ठीक अनुवाद करना कठिन है परन्तु व्यवसायसंघवाद कहनेसे काम चल सकता है।

सिण्डिकलिस्ट मार्क्सवादीकी ही भाँति पूँजीशाहीका विरोधी है और वह भी वर्गसंघर्षके सिद्धान्तको मानता है। वह भी

ऐसा वर्गहीन समाज स्थापित करना चाहता है जिसमें उत्पादनके सारे साधनोंपर समाजका स्वाम्य हो परन्तु कई बातोंमें वह मार्क्सवाद से पूर्णतया अलग है। सोरेल, लागार्देल और बर्थकी रचनाओं में इस मतका मुख्यतया प्रतिपादन मिलता है। इसका प्रभावक्षेत्र प्रायः स्पेन और दक्षिणी फ्रांस तक परिसीमित रहा है।

सिण्डिकलिज्म 'सिण्डिकेट'से निकला है। सिण्डिकेटका अर्थ है व्यवसायसंघ, किसी व्यवसाय विशेषमें काम करनेवाले श्रमिकोंका संघ। इन लोगोंकी सम्मति है कि इस प्रकारके संघोंका जाल प्रत्येक देशमें बिछ जाना चाहिये। इन संघों का संघटन किसी राजनीतिक विचारके आधारपर नहीं, प्रत्युत श्रमिकोंके वर्गहितोंके आधारपर होना चाहिये। श्रमिकोंका केवल एक लक्ष्य है और होना चाहिये—पूँजीशाही और शोषक वर्गका सर्वतः विनाश। कोई भी दूसरा लक्ष्य हो, वह उनकी शक्तियोंको क्षीण करेगा। श्रमिकोंको राजनीतिक संस्थाओंसे दूर रहना चाहिये; न मत देना चाहिये, न उम्मीदवार बनना चाहिये, न शासनके काममें सहयोग करना चाहिये। उनको अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए उसी हथियार से काम लेना चाहिये जिससे उनको दबानेके लिए अन्ततोगत्वा काम लिया जाता है। पूंजीपति और सरकार मीठी मीठी बातें भले ही करें परन्तु अन्त में वह दबाव और बलप्रयोगके भरोसेपर रहते हैं। श्रमिकोंको भी बलप्रयोगके लिए तैयार रहना चाहिये। बलप्रयोग अहिंसात्मक भी हो सकता है परन्तु क्रमशः उसका स्वरूप हिंसात्मक ही होगा। हिंसात्मक बलप्रयोगसे श्रमिकोंकी वर्गचेतना और त्यागबुद्धि बढ़ती है और उनके विरोधियोंकी भी आँखें खुल जाती हैं, उनको यह प्रकट हो जाता है कि अब समझौतेका द्वार बन्द हो गया है।

बलप्रयोगके कई भेद हैं, जैसे हड़ताल, बहिष्कार और सैबोताज। हड़ताल और बहिष्कारका अर्थ तो स्पष्ट ही है, सैबोताजका अर्थ है काममें बलपूर्वक बाधा डालना। कलपुर्जोंको पकड़कर बैठ जाना ताकि कोई उनसे काम न ले सके, कारखानेमें इस प्रकार डेरा डाल देना कि काम न हो सके, मशीनों या उनके पुर्जोंको हटा देना या तोड़ देना, सामानमें आग लगा देना, यह सब सैबोताजके प्रकार हैं। इन सब उपायों से समय समय पर काम लेते रहनेसे शोषकोंपर और उनके हितोंके रक्षकोंपर दबाव पड़ेगा और श्रमिकोंकी अवस्थामें सुधार होगा पर न तो सरकार अपने अधिकार छोड़ बैठेगी न पूँजीपति, इसलिए संघर्ष बराबर जारी रहेगा। होते होते एक दिन ऐसा आ जायगा जब समस्त श्रमिक एक साथ अपना काम बन्द कर देंगे। यह 'महा हड़ताल' सिण्डिकलिस्टका ब्रह्मास्त्र है। उसका विश्वास है कि उसके आगे सरकारका कोई दमन न चल सकेगा। रेल, तार, जहाज, पानीकल, बिजली, सभी कारखाने बन्द—पुलिस और सेना चाहे तो गोली चलाये पर कोई श्रमिक काम में हाथ न लगायेगा। उलटे, यदि बन पड़ेगा तो श्रमिक भी लुक छिपकर अकेले या टोलियाँ बनाकर, गोली का उत्तर गोलीसे देंगे। इसके आगे विरोधियोंको मुँहकी खानी पड़ेगी, पूँजीशाहीका गढ़ ढह जायगा। सम्भवतः इस अचूक अस्त्रसे काम लेनेकी आवश्यकता ही न पड़ेगी, विरोधी पहिले ही मस्तक झुका चुके होंगे परन्तु अभी तो श्रमिकोंको इसी बातको ध्यानमें रखकर चलना चाहिये कि उन्हें एक दिन महा हड़तालमें भाग लेना होगा। ऐसा करने से उनका संघटन पुष्ट होगा और त्यागकी भावना दृढ़ होगी।

विजयके उपरान्त समाजका जो रूप होगा उसका कोई

स्पष्ट और विस्तृत चित्र इन लोगोंने सामने नहीं रखा है। हाँ, इतना स्पष्ट है कि इनके मतसे उस समय किसी प्रकारका राज, किसी प्रकारकी सरकार न रहेगी। न पुलिस होगी, न सेना। स्थानीय और सार्वदेशिक सर्वव्यवसाय संघ—ऐसे संघ जिनमें सभी व्यवसायोंके प्रतिनिधि होंगे—वह सब काम कर लेंगे जिनको आज स्थानीय शासन संस्थाएँ और सरकारें करती हैं। समाजविरोधी काम करनेवालोंका नियन्त्रण लोक-मत करेगा और प्रत्येक व्यक्ति समाजकी व्यवस्थाका जिसके ही द्वारा उसको सच्ची स्वाधीनताका सुख मिल सकेगा जागरूक रक्षक होगा।

पूग समाजवाद

इसको यूरोपमें गिल्ड सोशलिज्म कहते हैं। गिल्डका अर्थ है पूग। यह शब्द व्यवहारसे निकल गया है क्योंकि आजकल हमारे समाजमें पूग नहीं रह गये हैं। व्यवसाइयोंके एक विशेष प्रकारके सङ्गठनको पूग कहते हैं। सोनार, लोहार, कुम्हार, मोची, दर्जी इन सबके पूग हो सकते हैं। यदि आज सोनारोंका पूग होता तो प्रत्येक सोनार उसके अधीन होता। किस प्रकारके मालकी क्या बनवाई ली जाय इसका नियमन पूग करता; किसको सुनारीकी विद्या सिखायी जाय और योग्यताकी किस प्रकार परीक्षा करके स्वतन्त्र व्यवसाय करने दिया जाय, जो व्यक्ति इस नियन्त्रणको न माने या कोई ऐसा काम करे जो इस व्यवसायकी प्रतिष्ठाके प्रतिकूल हो उसको क्या दण्ड दिया जाय, यह सब बातें पूग तय करता। उसके निश्चयोंका समर्थन तत्कालीन सरकार करती। आज हमारे देशमें यह सब व्यवसाय पैत्रिक हो गये हैं, व्यवसाइयोंकी

जातियाँ हो गयी हैं। इनकी पंचायतें भी हैं परन्तु उनके कर्तव्यों और अधिकारोंका क्षेत्र पूगोंकी अपेक्षा बहुत संकुचित है। जिन देशोंमें जन्मना जातिकी व्यवस्था नहीं है वहाँ भी इस मशीन युगमें पूग टूट गये हैं या नाम शेष रह गये हैं।

कुछ विद्वानोंका मत है कि समयानुकूल परिवर्तन करके पूगोंको पुनरुज्जीवित करना चाहिये। इन लोगोंमें जार्ज ड० ह० कोलका स्थान मुख्य है। पूगवादियोंकी संख्या बहुत थोड़ी है और अभीतक प्रायः इंगलैण्डमें ही सीमित है। यह लोग भी पूँजीशाहीके विरोधी हैं और शोषणका अन्त करना चाहते हैं परन्तु समाजवादी जगत्का जो चित्र इनके सामने है और उसकी प्रतिष्ठाके लिए यह जिन उपायोंसे काम लेना चाहते हैं वह मार्क्सवादियोंसे भिन्न हैं।

इनका कहना है कि श्रमिकोंको अपना संगठन दृढ़ करना चाहिये। संगठन कारीगरी नहीं वरन् व्यवसायके आधारपर होना चाहिये। जैसे, कातनेवालों, बुननेवालों आदि अलग-अलग संघ न होकर सब कपड़ा तैयार करनेवालोंका एक सार्व-देशिक संघ हो और स्थान स्थानमें उसकी शाखाएँ हों। इन संघोंको निरन्तर आन्दोलनके द्वारा अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये और अपने सदस्योंके स्वत्वोंकी निरन्तर वृद्धि करते जाना चाहिये। आन्दोलनके सभी उपायोंसे काम लिया जायगा। हड़तालें भी की जायँगी। मत देने और व्यवस्थापक सभामें जानेसे बहुत लाभकी आशा नहीं है परन्तु इस साधनकी उपेक्षा नहीं की जायगी। श्रमिकोंको कुछ व्यवसायोंको स्वतन्त्र रूपसे चलानेका प्रयत्न करना चाहिये। इससे उनकी आत्मनिर्भरता बढ़ेगी और दूसरे लोगोंको उनकी क्षमतापर विश्वास होगा। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि सरकार कुछ व्यवसायोंको, जैसे

रेल या खानको; अपने हाथमें लेले। इससे पूँजीपतियोंके एकाधिकारमें कमी होगी। पर मुख्य उपाय यह है कि अपने संघटनके बलसे सभी बड़े व्यवसायोंमें अपना प्रभाव और अधिकार बढ़ाया जाय। आज पूँजीपति श्रमिकोंको अलग अलग भर्ती करते हैं, अलग अलग निकाल सकते हैं, स्वयं उनका पारिश्रमिक तय करते हैं, स्वयं मैनेजरों तथा दूसरे अफसरोंको नियुक्त करते हैं। श्रमिक धीरे धीरे इन सब क्षेत्रोंमें अपना प्रभाव बढ़ावें ताकि उनकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी काम न हो सके। कारखानोंकी आयका बँटवारा भी उनकी रायके विरुद्ध न हो सके। जब मनमाना प्रबन्ध करना और लाभ उठाना बन्द हो जायगा तो यह बात आप ही स्पष्ट हो जायगी कि पूँजीपतियोंका वर्ग निकम्मा है और श्रमिक सारा काम आप सँभाल सकते हैं। यहाँतक तो ठीक है परन्तु अन्तिम कदम क्या होगा इस विषयमें एक राय नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि उस अन्तिम अवस्थामें वैध उपायोंसे ही शेष स्वत्व श्रमिकोंके हाथमें आ जायँगे, दूसरे लोगोंका विचार है कि अनुकूल स्थितिमें क्रान्तिमय उपायोंसे काम लेना होगा और उनके लिए अभीसे तैयारी करनी चाहिये।

अधिकार प्राप्त होनेपर व्यवसायोंका सङ्गठन पूग आधार-पर करना चाहिये। कपड़ा तैयार करनेवालोंका एक पूग हुआ, दर्जियोंका दूसरा, खनिकोंका तीसरा, छापेखानेवालोंका चौथा इत्यादि। प्रत्येक पूग अपने भीतरी प्रबन्धमें स्वतन्त्र होगा। कपड़ा तैयार करनेवालोंका पूग सब कारखानोंके लिए रूई मोल लेगा, काम करनेवालोंका पारश्रमिक तय करेगा, अफसरोंकी नियुक्ति करेगा, ठीक काम न करनेवालोंको दण्ड देगा, मशीनोंकी देखभाल करेगा और बना माल बेचेगा। इसी

प्रकार दूसरे पूगोंका काम होगा। ऐसी संस्थाएँ होंगी जिनमें कई पूगोंके प्रतिनिधि होंगे। इनके द्वारा पूग एक दूसरेसे माल ले दे सकेंगे और आपसके झगड़े निपटा सकेंगे। सबके ऊपर एक सार्वदेशिक संस्था होगी जो सभी पूगोंका प्रतिनिधित्व करेगी। इसके हाथमें समाजके समस्त आर्थिक जीवनका नियन्त्रण होगा। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनको स्यात् पूगोंके रूपमें सङ्गठित न किया जा सके, जैसे ग्रन्थकार या पत्रकार या पुरोहित। इसको तथा छोटे छोटे कारखानों और दस्तकारियों को स्वतन्त्र छोड़ा जा सकता है।

परन्तु सार्वजनिक जीवनके आर्थिकके अतिरिक्त और भी क्षेत्र हैं। उनका प्रबन्ध कैसे हो, इस विषयमें कुछ मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि मनुष्य जहाँ कमानेकी दृष्टिसे किसी विशेष व्यवसायका श्रमिक है वहाँ वह किसी धर्म्मविशेषका अनुयायी है, दूसरे देशोंके प्रति विशेष सम्मति रखता है, शिक्षा या विवाहके प्रश्नको किसी विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। थोड़ेमें कह सकते हैं कि वह केवल श्रमिक नहीं वरन् नागरिक भी है। अतः कोई ऐसी संस्था होनी चाहिये जो नागरिकोंका प्रतिनिधित्व करे। यही संस्था राज होगी। वह देशविदेशके उन प्रश्नोंको देखेगी जिनको अपने अपने व्यवसायके हितकी दृष्टिसे चुने गये सार्वदेशिक पूगमहासभाके सदस्य नहीं निपटा सकते। दूसरा पक्ष कहता है कि राजसत्ता बुरी चीज है। कोरी नागरिकता कोई वस्तु नहीं है। कोई भी मनुष्य हो वह समाजसे कुछ लेता है, उसको कुछ देता है। जो अन्न उत्पन्न करता है वह कपड़ा मोल लेता है। इसलिए एक ओर तो उत्पादकोंका संगठन पूगोंके रूपमें हो, दूसरी ओर मोल लेनेवालोंकी संस्थाएँ बनें। कहीं कहीं बिजली कम्पनीसे

बिजली लेनेवालोंकी समितियां हैं, इसी प्रकार अन्न लेनेवालों या कपड़ा लेनेवालोंकी समितियाँ बन सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी पूग या समितिमें स्थान पा जायगा, बहुतसे लोग कइयोंके सदस्य होंगे। कई बातें, जैसे बाजार भाव या शिक्षा या सार्वजनिक स्वास्थ्यको, मालको तैयार करनेवालों और मोल लेनेवालोंके स्थानीय प्रतिनिधि मिल कर तय कर सकते हैं। ऐसी ही एक सार्वदेशिक संस्था हो जिसमें भिन्न भिन्न पूगों और मोल लेनेवाली संस्थाओंके प्रतिनिधि हों। इसको वह सब काम सौंप दिये जायँ जो स्थानीय ढंगसे नहीं किये जा सकते। युद्ध और सन्धि भी इसीके क्षेत्रमें होगी। इसको 'कम्यून' नाम दिया गया है।

यह तीनों उन वादोंमें से प्रधान हैं जो मार्क्सवादसे पृथक् मार्ग पर चलना चाहते हैं। मैंने यहाँ इनकी आलोचना करना अनावश्यक समझा है। समाजवादके मूल सिद्धान्तोंको सामने रखकर प्रत्येक समझदारको स्वयं विचार करना चाहिये कि किस मार्गसे चलकर लक्ष्यकी प्राप्तिमें सुगमता होगी।

कहीं कहीं ऐसा देखा जाता है कि कुछ बड़े-बड़े व्यवसायोंका राष्ट्रीकरण हो जाता है अर्थात् उनको सरकार अपने हाथमें ले लेती है। इसको राजायत्त समाजवाद कहते हैं। इसके साथ ही छोटे व्यवसाय स्थानीय शासन संस्थाओंके हाथमें देखे जाते हैं। यह अवस्था देखनेमें समाजवादी व्यवस्थासे मिलती-जुलती है परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। सच्चे समाजवादी प्रबन्धमें प्रत्येक स्वस्थ नागरिक श्रमिक है और प्रत्येक श्रमिक उत्पादनके साधनोंका स्वामी है। वर्गभेदका सर्वथा अभाव होता है। परन्तु यह राजायत्त समाजशाही दिखावटी वस्तु है। श्रमिक श्रमिक ही रह जाता है। थोड़ेसे व्यवसायोंको छोड़कर

शेष व्यवसाय पूँजीपतियोंके हाथमें होते हैं। वर्गभेद ज्योंका त्यों बना रहता है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि परिस्थितियोंके दबावसे राजायत्त समाजशाही पूर्ण समाजवादी व्यवस्थाकी ओर बढ़नेमें एक स्टेशन हो सकती है।

—:o:—

इक्कीसवाँ अध्याय

मार्क्सवादमें संशोधन और उसकी आलोचना

कुछ विद्वानोंका मत है कि मार्क्सवादके मूल सिद्धान्तोंके सत्य होते हुए भी उसमें बहुत कुछ संशोधनकी आवश्यकता है। इन संशोधकोंकी, जिनमें सर्वप्रथम स्थान बर्नस्टाइनका है, राय है कि कुछ बातोंके समझनेमें मार्क्सने भूल की, कुछ बातोंके सम्बन्धमें वह इसलिए उचित निर्णय न कर सके कि उनको उस समय पर्य्याप्त सामग्री उपलब्ध न हो सकी और कुछ बातोंको उन्होंने अतिरूपसे देखा। अब इन सब बातोंकी ओर ध्यान देकर उपयुक्त संशोधन करना आवश्यक है, अन्यथा समाजवादके प्रचारमें बाधा पड़ेगी।

यों तो इन लोगोंको कई बातोंमें आपत्ति है परन्तु इनके मुख्य आक्षेप चार हैं।

मार्क्स और एङ्गेल्सने यह कहा था कि सभ्य जगत बड़े वेगसे समाजवादी व्यवस्थाकी ओर झुक रहा है, अब समाजवादियोंका यह कर्तव्य है कि इस झुकावमें सहायक हों और इससे लाभ उठाकर क्रान्तिकी तैयारी करें। पूँजी धीरे धीरे

थोड़ेसे हाथोंमें चली जा रही है। बड़े पूँजीपति छोटे पूँजी-पतियोंको हजम करते जा रहे हैं, फलतः एक ओर थोड़ेसे पूँजीपति हैं दूसरी ओर बहुतसे पूँजीविहीन लोग हैं। बीचका मध्यमवर्ग दोनों ओरसे पिसकर समाप्त हुआ जा रहा है। यह परिस्थिति क्रान्तिके लिए सर्वथा अनुकूल है। इसके अतिरिक्त पूंजीशाहीका अन्तर्द्वन्द्व उसका शत्रु हो रहा है। कभी मालकी भरमार हो जाती है, बाजार भर जाता है, ग्राहक नहीं मिलते घाटा होने लगता है, कारखाने बन्द हो जाते हैं, मजदूर बेकार हो जाते हैं; कभी बाजारोंकी खोजमें लड़ाई छिड़ती है, कृत्रिम बाकारी बढ़ायी जाती है, लोगोंको खूब पारिश्रमिक मिलता है। कभी मिलोंके बन्द होनेसे माल कम तैयार होता है, महंगी पड़ती है, कभी बंकोंका दिवाला निकलने लगता है। जो देश शोषणके लिए विजित किये जाते हैं या उपनिवेश बनाये जाते हैं उनमें धीरे धीरे व्यवसाय खड़े होते हैं और वह भी प्रति-योगिता करने लगते हैं। इससे शोषक देशको धक्का लगता है। यह सब दोष पूँजीशाहीसे दूर नहीं हो सकते और इनके द्वारा पूँजीशाहीका पतन होगा और समाजवादी व्यवस्थाकी स्थापना में सहायता मिलेगी।

बर्नस्टाइन इन बातोंको यथार्थ नहीं मानते। वह कहते कि यद्यपि यह सच है कि कुछ थोड़ेसे लोगोंके हाथोंमें बहुत सी पूंजी केन्द्रीभूत होती जा रही है परन्तु इसके साथ ही छोटे पूँजीपतियोंकी संख्या भी बढ़ती जा रही है। प्रत्येक देशमें ऐसे लोगोंकी संख्या बढ़ती पर है जो किसी कम्पनीके हिस्सेदार हैं या बंकमें थोड़ासा रुपया जमा करके या सरकारी कर्जके कागजपर ब्याज पा रहे हैं। इसको पूँजीपति कहा जाय या न कहा जाय परन्तु इनका रुपया अपनेको बढ़ा रहा है इसलिए वह

पूँजी ही है। श्रमिकों तकमें जो अच्छी मजदूरी पाते हैं उनमेंसे कुछ लोग इस प्रकार अनर्जित आय पा रहे हैं। यह सब लोग पूँजीशाही व्यवस्थाके समर्थक हैं जिसमें उनको ऐसी आय मिल रही है। अतः पूँजीशाहीके समर्थकोंकी संख्या बढ़ रही है। यह छोटी आयवाले समर्थक ही मध्यम वर्गके आधार हैं। अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि मध्यम वर्ग स्वतः नष्ट हो रहा है। यह कहना भी यथार्थ नहीं है कि पूँजीशाहीका अन्तर्द्वन्द्व उसका विघातक हो रहा है। अन्तर्द्वन्द्व निःसन्देह है और जब तक पूँजीशाही रहेगी तबतक रहेगा परन्तु अब पूँजीपतियोंके पास उसका सामना करनेके साधन भी पहलेसे अधिक हैं। पूँजीपतियोंका संघटन अन्ताराष्ट्रिय रूप लेता जा रहा है, इस प्रकार वह समय समयपर अपनी प्रतियोगिताको कुछ दबा सकते हैं। जब कभी ऐसी परिस्थिति देख पड़ेगी कि विरोधी शक्तियाँ किसी देशविशेषमें पूँजीशाहीको नष्ट करनेवाली हैं तो सारे जगतके पूँजीपति एक होकर उसको डूबनेसे बचानेका प्रयत्न करेंगे। अपनी रक्षाके लिए पूँजीवाद उन रूपोंको ग्रहण करेगा जिनका दर्शन हमको नात्सीवादमें मिल चुका है

इस सारे कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि जगत समाजवादकी ओर झुक नहीं रहा है या पूँजीवादकी विजय स्थायी होगी। तात्पर्य यह है कि झुकाव का वेग वैसा नहीं है जैसा कि मार्क्सने बताया था। किसी देशविशेषमें अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है, जैसी कि रूस में हो गयी, परन्तु जगद्व्यापी क्रान्ति अभी बहुत दूर है। समाजवादियों को उसका स्वप्न छोड़ कर ऐसे कामों में लगना चाहिये जो सुकर और कालगति के अनुकूल हैं।

बर्नस्टाइनका दूसरा आक्षेप इतिहासकी आर्थिक व्याख्याके सम्बन्धमें है। वह भी ऐसा मानते हैं कि सामूहिक जीवनमें आर्थिक स्थितिका स्थान बहुत ऊँचा है और समाजकी संस्कृति, राजनीति, दण्डनीति आदिका उसकी आर्थिक व्यवस्थासे अभेद्य सम्बन्ध है। आर्थिक व्यवस्थामें परिवर्तनके साथ साथ और बातोंमें भी परिवर्तन हुआ है अतः किसी समाजके आर्थिक इतिहासका आलोचनात्मक अध्ययन उसके पूरे इतिहासकी रूपरेखा दे सकता है। पर वह इसके आगे जानेको प्रस्तुत नहीं हैं। रूपरेखा देते हुए भी आर्थिक इतिहास पूरा चित्र नहीं दे सकता। मनुष्यको आर्थिक उद्देश्य प्रेरित करते हैं पर वह केवल उनके वशमें नहीं रहता। भले ही आर्थिक व्यवस्था सबका मूल हो परन्तु राजनीतिक व्यवस्था, धार्म्मिक आचार-विचार, लौकिक आचारपरम्परा, साहित्य आदिका स्वतन्त्र प्रभाव भी बहुत प्रबल होता है। जो उन्नत समाज हैं उनमें मनुष्य प्रत्यक्ष रूपसे आर्थिक उद्देश्योंसे कम और परार्थ भावों और आध्यात्मिक आदर्शोंसे अधिक प्रभावित होता है। ऐसे समाजकी गतिविधिका ज्ञान उसकी आर्थिक व्यवस्थाकी गतिविधि मात्रके अध्ययनसे नहीं हो सकता। वर्तमान जगत्के आर्थिक संघर्ष मात्रको देखकर यह अनुमान कर लेना कि समाजमें अब पूरी क्रान्ति होनेवाली है, भूल है। इसी प्रकार यह मानना भी भूल होगा कि हमें एक बार आर्थिक व्यवस्थाको समाजवादके सिद्धान्तोंके अनुकूल बना लेनेसे समाजका सारा स्वरूप पलट देंगे।

अतिरिक्तार्थको मार्क्सने जितना महत्व दिया है और उसको जिस प्रकार शोषणका मापदण्ड बनाया है उसका भी विरोध किया जाता है। मार्क्सके अनुसार श्रमिकको उतनी ही

मजदूरी दी जाती है जितनेमें उसका पेट भर सके और वह कुशल यंत्र की तरह काम कर सके। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसके बाल बच्चों का भरण पोषण भी मजदूरी में अन्तर्भूत होता है। इसके सिवाय श्रमिकके कामका लाभ अतिरिक्तार्घके रूप में पूँजीपतिको मिलता है। वह जितने ही अधिक श्रमिकोंका शोषण कर सकेगा, जितने ही अधिक व्यक्तियोंके अतिरिक्तार्घ को हस्तगत कर सकेगा उतना ही उसको अधिक लाभ होगा। साथ साथ, सर्वहारावर्ग बढ़ता जायगा और दरिद्रसे दरिद्रतर होता जायगा। इसके फलस्वरूप क्रान्तिका होना अवश्यम्भावी है। आलोचकोंका कहना है कि यह सब धारणाएँ न्यूनाधिक भ्रान्त हैं। पूँजीपतिके लाभमें अतिरिक्तार्घ भी अन्तर्भूत है परन्तु सब वह नहीं है। कच्चा माल रख दिया जाय और मजदूर जमा कर दिये जायँ, इतनेसे ही कारखाना नहीं चलता। प्रबन्धकी आवश्यकता होती है। जितने ही अधिक श्रमिक होंगे, जितना ही अधिक कच्चा माल होगा, तैयार करने की क्रिया जितनी ही पेचदार होगी, उतनी ही अधिक देख रेख करनी होगी, सैकड़ों बातों को पहिले से सोचना होगा। पूँजीपति इन बातों को करता है, इसलिए लाभ को हस्तगत करता है। यह लाभ की रकम रुपयोंमें उसके निरीक्षणका मूल्य है। जहाँ पूँजीपति न होगा वहाँ सरकारके रूपमें समाजके पास यह रुपया जायगा। रूसमें ऐसा ही हो रहा है। पूँजीपति अपनी सम्पत्ति अपने उत्तराधिकारियोंको न दे जा सके इसका प्रबन्ध भले ही किया जाय परन्तु यह मानना भूल है कि वह निरा शोषक है। एक और बात है। यदि लाभ अतिरिक्तार्घपर ही निर्भर करता तो जहाँ जितना अधिक अतिरिक्तार्घ मिलता अर्थात् जितने अधिक श्रमिक लगाये जाते वहाँ उतना ही अधिक लाभ होता। इसका

तात्पर्य्य यह होना चाहिये कि व्यवसाय की अपेक्षा खेती में अधिक लाभ हो परन्तु ऐसा नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्रमिक केवल जीवन यापन भर मजदूरी पाता है और बराबर दरिद्र होता जा रहा है। यदि जीवनयापन में सिनेमा, रेडियो, थिएटर, मोटर को भी शामिल कर लिया जाय तब तो दूसरी बात है अन्यथा व्यवसायदृष्ट्या उन्नत देशों में श्रमिकों को श्रम के अर्घ से कहीं अधिक मजदूरी मिल रही है। अमेरिका, ब्रिटेन और जर्मनी के श्रमिक घरोंपर रेडियो रखते हैं, अमेरिकामें ऐसे बहुतसे श्रमिक हैं जिनके घर मोटरें हैं। धीरे धीरे सब इसी स्तर पर आते जा रहे हैं। उनकी आर्थिक दशा पहिले से निश्चय ही अच्छी है। यह ठीक है कि वह उत्पादन के साधनों के स्वामी नहीं हैं पर यह कहना ठीक नहीं है कि वह बराबर दरिद्र होते जा रहे हैं। यदि ऐसा होता तो सबसे पहिले क्रान्ति इन्हीं देशों में होती पर यह सब जानते हैं कि इसकी कोई सम्भावना नहीं है। ब्रिटेन या अमेरिका में, क्रान्तिकारी समाजवाद कभी पनप नहीं पाया।

आलोचकों की राय में मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक विकास के जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वह भी समीचीन नहीं हैं। विप्रतिषेध के विप्रतिषेध को लीजिये। यदि यह सिद्धान्त पूर्णतया ठीक है तो इसका निष्कर्ष क्या निकलता है, इसको सोचिये। मनुष्य पहिले जंगली था। उसकी अवस्था में क्रमशः परिवर्तन होने लगा। मात्रा भेद से गुण भेद के नियम के अनुसार जंगली अवस्था विप्रतिषेध हुआ, मनुष्य सभ्य हुआ। अब क्या होगा ? क्या यह माना जाय कि इसका भी विप्रतिषेध होगा और मनुष्य सभ्यका उलटा अर्थात् पुनः जंगली हो जायगा ? पूँजीशाही व्यवस्थाका विप्रतिषेध समाजवादी व्यवस्था है। जब यह पूर्ण

रूपेण संस्थित हो जायगी तो इसका भी विप्रतिषेध होना चाहिये। तो फिर किसी न किसी रूपमें पूँजीशाही आनी चाहिये। क्या मार्क्स के अनुयायी ऐसा मानने को तैयार हैं? यदि नहीं तो फिर विप्रतिषेधवाला सिद्धान्त ठीक नहीं है।

इसी प्रकार इतिहासमें सब जगह वर्गसंघर्ष ही देखना, प्रत्येक उथल पुथल की तहमें वर्गसंघर्ष को ही ढूँढना भी भूल है। मार्क्स और एंगेल्स ने विज्ञान के उस महातथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया जिसकी ओर सबसे पहिले माल्थुसने ध्यान आकृष्ट किया था। इसीको डार्विगने विकासवादमें अपनाया। सच तो यह है कि एङ्गेल्सने माल्थुस और डार्विनको विज्ञानवेत्ता माननेसे ही इनकार किया। इसी अकारण पूर्वग्राहने उन्हें इन विद्वानों के मन्तव्यों पर गम्भीर विचार करने से रोक दिया। माल्थुस का कहना है कि भोज्य सामग्री की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक तेजी से बढ़ती है। यदि भक्ष्य की वृद्धिका क्रम १, २, ३, ४, ५ हो तो भक्षकों को वृद्धि का क्रम १, २, ४, ८, १६ या १, ३, ९, २७, ८१ होगा। हाथियों को बहुत देर में बच्चे होते हैं और उनकी संख्या भी कम होती है परन्तु यह हिसाब लगाया गया है कि एक जोड़ा हाथी की सन्तान ७५० वर्ष में मरते मराते (एक करोड़ नब्बे लाख) १, ९०, ००, ००० हो जायगी; एक सीपी की सन्तान चार पीढ़ियों में, ६६, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, हो जायगी। फिर पृथ्वी पर हाथी और सीपी ही नहीं रहते। इसका परिणाम यह है कि हम निरन्तर संघर्ष होता देखते हैं। वनस्पति, ओषधि, कीट, पतंग, पशुपक्षी—सर्वत्र संघर्ष है; व्यक्ति व्यक्तिमें, समूह समूह में, जाति जातिमें, संघर्ष है। यही लीला मनुष्य समाज में देख पड़ती है। जीविकाके लिए सबका सबसे युद्ध होता

रहता है। साधारणतः यह काम सभ्यताके पर्देमें होता है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर मुष्टिप्रहार और शस्त्र-प्रहार की भी नौबत आ जाती है। यदि किसी देशकी जनसंख्या बढ़ जाती है तो फिर वहाँके लोग या तो अन्न बिना मर जायँ या हैजा महामारी जैसे रोगोंके शिकार हों या फिर उनके बसनेके लिए नयी भूमि मिले। डार्विनने सप्रमाण दिखलाया है कि प्राणियोंके विकास और विस्तारके प्रधान कारणोंमें जीवन-संघर्षकी गणना है। मार्क्सके आलोचकोंका कहना है कि पुराने इतिहासमें जहाँ वर्गसंघर्ष था वहाँ यह जीवनसंघर्ष भी था। इसका प्रभाव वर्गसंघर्षके प्रभावसे बलवत्तर था। आगेके लिए भी मार्क्सका यह कहना पूर्णतया ठीक नहीं है कि पूँजीवादसे साम्राज्यशाही उत्पन्न होती है। साम्राज्यशाहीकी जड़में जीवनसंघर्ष है। जिन राष्ट्रोंकी जनसंख्या बढ़ रही है वह क्या खायँ, कहाँ जायँ ? खानेके लिए उनको व्यवसाय चाहिये, व्यवसायके लिए कच्चा माल और बाजार चाहिये, बसनेके लिए भूमि चाहिये। इन सब आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए साम्राज्य ढूँढ़े जाते हैं और जायँगे। जीवनसंघर्ष प्रकृतिकी देन है। यदि आगे चलकर सब देशोंमें समाजवादी व्यवस्था हो जाय तब जहाँ भी जनसंख्या बढ़ जायगी वहाँके लोग घबराकर भूमि ढूँढ़ेंगे। यदि शान्तिसे इसका प्रबन्ध हो गया तो ठीक है, नहीं तो लड़ाई होगी। जब प्राणोंपर आँच बनती है तो सभ्यता भूल जाती है। इससे बचनेके दो ही उपाय हो सकते हैं। या तो लोग इतने बुद्धिमान और समर्थ हो जायँ कि उतनी ही सन्तान उत्पन्न करें जितनी भोज्य सामग्री हो या समुद्रके जलसे, वायुसे, पहाड़ोंके पत्थरोंसे रासायनिक उपायोंसे ऐसे भक्ष्य बनाये जायँ

जिनके लिए खेत-खलिहान की आवश्यकता न हो और भूतलके नीचे भी बस्तियाँ बस जायँ।

निकट भविष्यमें इन बातोंकी सम्भावना नहीं देख पड़ती। निकट क्या सुदूर भविष्यमें भी सम्भवतः ऐसा न हो पायेगा। तो फिर जब जीवनसंघर्ष रहेगा तो न तो सार्वभौम समाजवादी व्यवस्था हो पावेगी न राजसत्ताका लोप हो पावेगा। राजका झड़ जाना कल्पनाके क्षेत्रके बाहरकी चीज है।

यह तो तीव्र आलोचकोंकी बातें हुई। बर्नस्टाइन जैसे लेखक, जो मार्क्सवादके मूलतत्वोंको मानते हुए भी उसके व्यवहारिक रूपमें सुधार करना चाहते हैं, कहते हैं कि इस बातका प्रयत्न न करना चाहिये कि क्रान्तिके द्वारा दूसरे वर्गोंको दबाकर सर्वहारावर्गके ही हाथोंमें शासनका सूत्र लिया जाय। इस प्रकारका अधिनायकत्व अनावश्यक और हानिकर होगा। जो काम जनमतकी शिक्षा, उचित और निरन्तर प्रचार, शासन संस्थाओंके समुचित उपयोग, राजनीतिक आन्दोलन द्वारा अधिकार प्राप्ति, लोकसत्तात्मक शासनके विस्तार तथा श्रमिकों की चेतना और योग्यताकी वृद्धिके द्वारा होगा वह छोटा भले ही हो परन्तु उसका परिणाम स्थायी होगा।

इन आक्षेपोंको लेकर बहुत शास्त्रार्थ हुआ है। इनको अवैज्ञानिक, प्रतिगामी, निस्सार कह कर टाला नहीं जा सकता। इनके सम्बन्धमें प्रत्येक समाजवादीको विचार करना चाहिये और विचार करना पड़ता है। इस समय कोई मार्क्सवादी यह कहनेका साहस नहीं कर सकता कि पूँजीशाहीका अन्तकाल आ गया है या विश्वक्रान्ति निकट है। लड़ाईमें केवल रूसकी विजय नहीं हुई है, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और चीनकी भी विजय हुई है। इन सब पर न्यूनाधिक रूसका प्रभाव पड़ा है,

समाजवादी विचारधाराका प्रभाव पड़ा है, परन्तु किसीमें भी समाजवादी व्यवस्था कायम होनेकी सम्भावना नहीं है। कमसे कम पूँजीवादके प्रबल दुर्गों, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांसमें क्रान्तिके कोई लक्षण नहीं प्रतीत होते।

बाइसवाँ अध्याय

भारत और समाजवाद

यह पुस्तक समाजवादके सिद्धान्तके सम्बन्धमें है, इसका भारतीय राजनीतिसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हम इस देशकी परिस्थितिकी ओरसे तटस्थ भी नहीं हो सकते। यहाँ भी समाजवादी विचारोंपर गम्भीर मनन हो रहा है। बहुतसे लोग यह सोच रहे हैं कि हमको मार्क्सके पथ पर चलना होगा, अन्यथा देशका कल्याण नहीं हो सकता। मार्क्सके पथ पर चलनेका अर्थ साधारणतः यही हो सकता है कि रूसका न्यूनाधिक अनुकरण किया जाय।

समाजवादके विरोधियोंकी भी कमी नहीं है। कुछ लोग तो समाजवादको इसीलिए भारतके लिए अहितकर समझते हैं कि वह पश्चिमसे आया है। परन्तु इतनेसे तो वह त्याज्य नहीं हो सकता। क्या विदेशी होनेसे यूरोपवालोंके लिए वेदान्त और योग त्याज्य हैं? क्या पाश्चात्य होनेसे हम एलोपैथी चिकित्सा से काम नहीं लेते? रेल और तारका आविष्कार भी तो पश्चिम में ही हुआ था। उत्पत्तिस्थानका प्रश्न उठाना मूर्खता है, गुण-

दोष पर विचार करना चाहिये। भारतमें भी भूमिपर व्यक्तियों का स्वत्त्व है, बड़े बड़े कल-कारखाने खुलते जा रहे हैं, लाखों मजदूर काम कर रहे हैं। किसानोंके लिए लगान देना कठिन हो रहा है, ऋणका बोझ उनकी कमर तोड़े डाल रहा है। मजदूरों और मिल-मालिकोंमें आये दिन झगड़ा होता है। आज यहाँ कारखाना बन्द किया जाता है, कल वहाँ हड़ताल होती है। यही बातें पाश्चात्त्य देशोंमें भी होती हैं। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो भारतीय साम्राज्यशाही भी देख पड़ती। जीवन-संग्राम इतना उत्कट है कि अब भारत आधुनिक कालकी विशेषताओंसे अपने को नहीं बचा सकता। उसे मशीनें भी रखनी पड़ेंगी, विदेशोंसे सम्बन्ध भी रखना पड़ेगा। इसलिए उसे पाश्चात्य समाजवाद का भी आश्रय लेना होगा या कोई दूसरा उपाय जो उससे भी उत्तम हो, ढूँढ़ना पड़ेगा।

भारतीय संस्कृतिकी प्रतिकूलताकी बात भी उतनी ही निःसार है। विश्वसंस्कृतिके इतिहासमें भारतका स्थान आदरणीय है। भारतीय जनता इस संस्कृतिपर अपनेको बधाई दे सकती है पर अनुचित गर्व करना पागलपन है। यह कहा जाता है कि हमारी संस्कृति अध्यात्म-मूलक है। इस कथनमें चाहे जहाँ तक यथार्थता हो और इसका चाहे जो अर्थ हो पर यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि सभी भारतीय आध्यात्मिकतामें निष्णात हैं। मजहबके नाम पर दम्भ और अनाचार, सामाजिक उत्पीड़िन, दरिद्रता कृषकों पर ज़ुल्म-ज्यादती, सड़कों और घरोंमें स्त्रियों और बच्चोंके सामने अश्लील गालियाँ, झूठी गवाही—इनमेंसे कौनसी बात आध्यात्मिकताकी द्योतक है ? क्या लोग गरीबी और बीमारी में असन्तुष्ट तथा अधीर नहीं हो उठते ? कितने मनुष्य—सबको

जाने दीजिये, कितने पण्डित, संन्यासी या मुल्ला फ़कीर—समाधिस्थ होकर बैठते हैं? कितने साधु-संन्यासी मठाधीश हैं? कितने ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्तिसे जीविकाका निर्वाह करते हैं? फिर आखिर हमारी आध्यात्मिकता कहाँ छिपी पड़ी है? हम दूसरे देशवालोंसे इस समय किस बातमें भिन्न हैं? किसी समय सरस्वतीके तटपर सामगान होता था और श्रीमच्छङ्कराचार्य्यने शारीरिक भाष्य लिखा था, इतनेसे ही हम आज अध्यात्ममूर्ति कहलानेके अधिकारी हो गये? क्या मौके बे-मौके ईश्वरका नाम लेते रहना ही आध्यात्मिकता है? यह गम्भीर प्रश्न हैं। यदि हम इनपर विचार करेंगे तो यह प्रतीत हो जायगा कि हमारी संस्कृतिमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो हमको पृथ्वीके और मनुष्यों से भिन्न बना दे और समाजवादको हमारे लिए अग्राह्य बना दे।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी संस्कृतिको भुला दें। समाजवादी व्यवस्था शून्यमें स्थापित नहीं होती। उसके पात्र मनुष्य होते हैं और मनुष्य किसी खास परिस्थिति, किसी विशेष संस्कृतिमें, ही पले होते हैं। सिद्धान्त एक होते हुए भी देश-काल-पात्रके भेदसे उसके व्यवहारमें भेद हो सकता है। न तो आज भारतको सतयुगके समय तक लौटाना सम्भव है न उसे ब्रिटेनकी नकल बनाना सम्भव है पर इसके साथ ही उसको रूस या किसी अन्य देशकी नकल बनाना भी उचित नहीं है।

यह अन्तिम वाक्य यों ही नहीं लिखा गया है। अभी तक तो इस पुस्तकमें समाजवाद, यथार्थतः मार्क्सवाद, के प्रमाणिक रूपका सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है परन्तु जब उसको कार्य्यमें परिणत करना होगा तो प्रत्येक देशके विचारकोंको उस पर हर पहलूसे मनन करना चाहिये। हम भारतीयोंका यह कर्तव्य

है कि इस प्रश्न पर गम्भीरतासे मनन करें। मार्क्सवादी कार्य्य-शैली और उसका दार्शनिक आधार, दोनोंको आलोच्यविषय बनाना चाहिये।

जहाँ तक कार्य्यशैलीकी बात है रूस पर स्वभावतः दृष्टि पड़ती है। उस देशको सबसे पहिले समाजवादी प्रयोग करनेका अवसर मिला और उसको सौभाग्यसे लेनिन जैसा नेता मिला। पृथ्वी भरके समाजवादियोंके लिए रूस तीर्थ होगया, रूसकी हार-जीतको समाजवादी मात्रने अपनी हारजीत मान लिया। दुःखकी बात है कि रूसने बहुतोंको निराश किया। इस नैराश्यका चित्र मसानीके सोशलिज्म रीकंसिडर्ड तथा अध्यापक ब्रजनारायणके मार्क्सिज्म इज डेडमें खींचा गया है। रूसने अमोघ सैनिक शक्तिका संचय किया, यह निर्विवाद है। यह भी निर्विवाद है कि रूसमें कोई पूँजीपति नहीं हो सकता, कल कारखानोंका स्वामी या तो राज है या स्थानीय शासन संस्थाएँ या सहयोग समितियाँ; लोगोंमें शिक्षा और संस्कृतिका प्रसार है, जनताकी आर्थिक दशाका सुधरना भी निर्विवाद है। पर इतनेसे ही समाजवादी व्यवस्था नहीं हो जाती। जहाँ तक यह बातें समाजवादके प्रथम सोपानके अन्तर्भूत हैं वहाँ तक इनमें से कई या सबको वह देश भी बरतते जाते हैं जो समाजवादी होनेका दावा नहीं करते। वर्गरहित समाजका अस्तित्व प्रयोगकी सफलताकी कसौटी हो सकता है। कहा जाता है कि अब रूसमें वर्गभेद नहीं है। लेनिनके शब्दोंमें सभी लोग स्वतन्त्र और बराबर हैं, इसीलिए नये शासन विधान को लोकतन्त्रात्मक रूप दिया गया है। परन्तु रूसके शासकोंका यह दावा मान्य नहीं है। वहाँ पूँजीपति नहीं हैं परन्तु आमदनियों में बहुत भेद हैं। पहले कम्युनिस्ट दलके सदस्यों पर यह बन्धन था कि वह बड़े वेतन नहीं ले सकते थे, अब यह बन्धन उठा दिया

गया है; कुशल कारीगरों, डाक्टरों, इञ्जिनियरों, कलाकारों, ग्रन्थकारों, बड़े अहलकारोंकी आय साधारण श्रमिकोंकी आयसे कई गुना अधिक है। जहाँ साधारण मजदूरी ८० रूबल है वहाँ कुछ लोग ३०,००० रूबल तक कमाते हैं। अपने लड़कोंको जो सम्पत्ति छोड़ी जा सकती है उसकी सीमा बढ़ा दी गयी है। सरकारी ऋणके कागज खरीदने वालोंको ७% ब्याज मिलता है। यह शुद्ध अनर्जित वृद्धि है। इस प्रकार सम्पन्नोंका नया वर्ग बन रहा है और बन गया है। यही लोग शासक हैं, कल-कारखानोंके प्रबन्धक हैं। फलतः न तो राजके बेकार होकर झड़नेके कोई लक्षण हैं, न जनताके अधिकारोंको वृद्धि होनेकी आशा है। राजकर्म्मचारियों और व्यवसायके प्रबन्धकोंके हाथमें शासनका सूत्र चला गया है यह प्रबन्धक भी राजके ही भृत्य हैं, इसलिए यह कह सकते हैं कि वास्तविक अधिकार नौकरशाहीके हाथमें है। इस नौकरशाहीके सदस्य जनतामेंसे ही आते हैं; अभी तक तो ऐसा नहीं हुआ है कि पिताकी जगह पुत्रको ही मिले। परन्तु इतना होने पर भी यह नहीं कह सकते कि जनताके हाथमें अधिकार आ गया है या वह शासनको प्रभावित कर सकती है। तिब्बतके लामा साधु होते हैं, वह विवाह नहीं करते, धन बटोर कर अपने घर नहीं ले जाते परन्तु वहाँ सारा अधिकार इन लोगोंके हाथमें है, जनताका दखल नहीं है। सामान्य जनतासे ही आते हैं परन्तु विशेषाधिकार उनको पृथक् बना देते हैं। रूसमें कोई दूसरा राजनीतिक दल नहीं रह सकता। पिछले कुछ वर्षोंमें शासनके बहुतसे विरोधी, जिनमें लेनिनके कई ऐसे पुराने साथी क्रान्तिकारी नेता भी थे जिनके कारण क्रान्ति सफल हुई थी, झूठे-सच्चे अभियोग लगाकर मृत्युके घाट उतारे गये। स्टालिनकी नीतिके विरुद्ध मुँह खोलना

यमलोककी ओर प्रस्थान करना है। इस प्रकारकी अधिनायकता से और चाहे जो लाभ होता हो परन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्यका हनन हो जाता है। इसको समाजवादके द्वितीय सोपानका मार्ग नहीं कह सकते।

रूसमें एक प्रकारकी साम्राज्यशाहीका भी उदय हुआ है। पोलैण्डमें हस्तक्षेप करके जबरदस्ती ऐसी सरकार बनवायी गयी है जो हर बातमें रूसका साथ दे। बहुतसे देशभक्त पोल इस लिए विपद्ग्रस्त बना दिये गये हैं कि वह इस कठपुतली सरकारका विरोध करते हैं। ईरानके तेल पर रूसकी आँख है। तेलके ठेकेके लिए ईरान सरकार पर बहुत दबाव डाला गया है। एस्थोनियो, लैटविया और लिथुएनिया जिस प्रकार सोवियत संघमें मिलाये गये और फिनलैण्डसे जिस प्रकार झगड़ा मोल लिया गया वह राष्ट्रवादी सरकारोंकी पुरातन शैलीके अनुकूल तो है पर उसकी सफाई देना समाजवादियोंके लिए दुष्कर हो जाता है। कम्यु-निस्ट इसको साम्राज्यशाही कहना पसन्द नहीं करते परन्तु यह मानना होगा कि यह बातें साम्राज्यशाहीकी दिशामें बहुत दूर तक जा रही हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण जनता राजनीतिक और व्यावसायिक शासनका बोझ उठानेके योग्य नहीं है। स्यात् वह बोझ उठाना चाहती भी न हो। शासन कोई करे, यदि जीवनकी साधारण आवश्यकताएँ पूरी होती रहें और सरकार बहुत छेड़-छाड़ न करे तो लोग इसकी परवाह नहीं करते कि शासन कौन कर रहा है। परन्तु जहाँ व्यक्तिस्वातन्त्र्य न होगा, सरकार अपनी आलोचना सहन करने को तय्यार न होगी, वहाँ छेड़छाड़ होगी ही। सरकार जीवनके सभी अङ्गों पर कड़ी दृष्टि रखना चाहेगी और झड़नेके बदले बलवती होती जायगी।

कारखानोंमें काम करानेके दो प्रकार होते हैं। एक तो यह है कि इतने घंटे काम करने पर इतनी मजदूरी मिलेगी .दूसरा यह है कि जो जितना अधिक काम करे उसको उतनी ही अधिक मजदूरी दी जाय। जो कारीगर आज ३ करघे एक साथ सँभालता है वह यदि कल ४ करघे सँभाल ले तो मजदूरी भी उसी अनुपातसे बढ़ा दी जायगी। मार्क्स तथा दूसरे समाजवादी आचार्य्योंने इस दूसरी पद्धतिकी तीव्र निंदा की है। उनका कहना है कि यह पूँजी-पतियोंकी चाल है। श्रमिकको प्रलोभन देकर चूस लेनेका साधन है। परन्तु आज रूसमें इस पद्धतिका बड़ा जोर है। इसको स्ताखानोविज्म कहते हैं, क्योंकि पहिले पहिल इसे स्ताखानोव नामके एक कोयला खोदने वाले मजदूरने चलाया था। चौगुनी पंचगुनी मजदूरीकी लालचमें श्रमिक चौगुना पंचगुना काम कर रहे हैं। यह बात तो समाजवादी व्यवस्थाकी ओर लेजाने वाली नहीं है।

आज रूस विश्वक्रान्तिसे बहुत दूर चला गया है। सार्वभौम कम्युनिस्ट महासभा, कोमिण्टर्न, तोड़ दी गयी है। लड़ाईके दिनोंमें रूसको ब्रिटेन और अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशोंसे सहयोग करना पड़ा है। लड़ाईके पहिले भी रूसकी वैदेशिक नीति इस दिशामें झुक गयी थी। अपनी रक्षाके लिए रूसको ऐसा करना पड़ा, फलतः उसने विश्वमें समाजवादी क्रान्ति करानेका कभी जो सङ्कल्प किया था, उसको छोड़ दिया। लेनिनने कहा था कि सर्वहारा वर्गका साम्राज्यवादी मध्यम वर्गसे मिलना विश्वासघात है। उनकी रायमें राष्ट्रसंघ नये साम्राज्यवादी युद्धकी तैयारीका उपकरण था। परन्तु रूस राष्ट्रसंघमें सम्मिलित हुआ। उसने पूँजीवादी देशोंसे सन्धियाँ कीं। जहाँ तक क्रान्ति करने करानेकी बात है, १ मार्च सन् १९३५

को स्टालिनने अमेरिकाके विख्यात पत्रकार राय हावडसे बातचीतके बीचमें कहा "यदि आपलोग समझते हैं कि रूस पड़ोसी राज्योंके स्वरूपको बदलना चाहता है, और वह भी बलपूर्वक, तो आप भूल कर रहे हैं। यह ठीक है कि यदि उनका स्वरूप बदल जाय तो रूसको प्रसन्नता होगी पर बदलना न बदलना उन राज्योंकी इच्छाकी बात है।" हावर्डने पूछा "क्या इसका तात्पर्य यह है कि रूसने विश्वक्रान्ति करनेके विचारको छोड़ दिया है।" स्टालिनने उत्तर दिया "हमारा कभी भी ऐसा विचार नहीं था।" रूसको आत्मरक्षाके लिए दूसरोंसे सन्धि करनेका पूरा अधिकार है परन्तु जो लोग यह आशा रखते रहे हों कि वह विश्वक्रान्तिका सक्रिय नेता बनेगा उनको निराशा जरूर होगी।

आखिर रूसमें ऐसा क्यों हुआ, उसको शुद्ध क्रान्तिकारी मार्क्सवादकी परिपाटीका व्यवहारमें क्यों परित्याग करना पड़ा? रूसके शासक सब दुष्ट हैं, ऐसा मानना कठिन है। तब फिर यही कहा जा सकता है कि परिस्थितियोंने उनको विवश कर दिया। पर क्या यह परिस्थितियाँ केवल रूसके सामने थीं या उनका सामना प्रत्येक ऐसे देशको करना पड़ेगा जो समाजवादको अपनायेगा। यदि सबको ही वही विपत्ति झेलनी होगी और हारकर पथभ्रष्ट होना पड़ेगा तो फिर तो ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्यमें ही कुछ दोष है, मार्क्सवाद हमारे रोगोंकी यथार्थ औषध नहीं है। यदि हमको मानवजगतको मनुष्यसमाज बनाना है, उत्पीड़न और शोषणकी जगह समता और शान्तिको स्थापित करना है, तो वर्गभेद मिटाना होगा, समाजवादी व्यवस्था कायम करनी होगी, परन्तु उस हमारे समाजवादको मार्क्सवादसे कुछ भिन्न आधारों पर खड़ा करना होगा।

भारतीयों को इन बातोंपर गम्भीरतासे विचार करना होगा। भारतीय समाजवादी फेबियन नहीं बन सकता। वह क्रमिकता की अनिवार्य्यताके * सहारे नहीं बैठा रह सकता। क्रमिकता की अनिवार्य्यताका स्वर वह लोग उठाते हैं जिनका विश्वास है कि क्रमिक विकास अनिवार्य्य है, क्रान्तिमय उपायोंसे काम नहीं बन सकता। भारतवासी मानव स्वभाव को पतित मानकर भी नहीं बैठ सकता। उसको क्रान्तिके लिए तय्यारी करनी चाहिये, क्रान्तिके द्वारा अधिकार प्राप्त करने को तैयार रहना चाहिये। क्रान्तिका साधन हिंसा होगी या अहिंसा यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है परन्तु हिंसा हो या अहिंसा एक बात समझ लेनी चाहिये। रूसी कम्युनिस्ट और उनके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि यदि हमारा उद्देश्य ठीक है तो हम किसी भी साधनसे काम ले सकते हैं। हम ऐसा नहीं मान सकते। हमको साध्यके साथ साथ साधन की शुद्धता पर भी ध्यान रखना होगा। झूठ, बेईमानी, धोखा देना निन्द्य हैं और सदुद्देश्य की सिद्धिमें भी इनका उपयोग करना निन्द्य है। खुले युद्ध में मारना भी हिंसा है और सोते में छुरी भोंक देना या विष दे देना भी हिंसा है परन्तु हम युद्धका समर्थन कर सकते हैं, विप और छुरी का नहीं।

यह भी विचारणीय है कि सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित किया जाय या नहीं। इसका अवसर भी जल्दी नहीं मिलेगा परन्तु ऐसा प्रयत्न करना भी स्यात् बहुत अच्छा न होगा। भारत जैसे देशमें तो यह स्वप्न छोड़ ही दना चाहिये। करोड़ों किसानों को मुट्ठीभर सर्वहाराके पीछे चलाना उचित न होगा।

---

* the inevitability of gradualness.

जिस निर्दयतासे मध्यमवर्गों व किसानोंका दमन रूसमें किया गया उसका अनुसरण भी हम नहीं कर सकते। किसान अपना हित नहीं समझता, उसका नेतृत्व समाजवादियोंको करना होगा। ऐसे उपायोंसे भी काम लेना होगा जो आरम्भमें अप्रिय लगें परन्तु थोड़ेसे व्यक्तियों को अपनी बुद्धिके आधार पर राजशक्ति का आश्रय लेकर लाखों करोड़ों मनुष्योंपर ऐसा कठोर शासन नहीं करना चाहिये। भलाई करनेके नशेमें बुराई भी हो सकती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्तिके नागरिक अधिकारों का अपहरण कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। भाषण और लेखनका स्वातन्त्र्य होना चाहिये। सरकार की आलोचना करने का अधिकार होना चाहिये। सरकारको बदलनेका अधिकार होना चाहिये। यदि समाजवादी सचमुच लोकहित की व्यवस्था करेंगे तो देशका बहुमत उनके साथ होगा। देशमें दरिद्र, निर्धन श्रमिक, अधिक हैं। जमीनदार, महाजन, पूँजीपति, कम हैं। जो सरकार साहस और निष्ठाके साथ समाजवादी नीतिको बर्तेगी पूँजीशाही और अनर्जित वृद्धिको बन्द करेगी, शिक्षा का प्रसार और लोगोंकी आय बढ़ाने का उद्योग करेगी उसका आसन दृढ़ रहेगा। परन्तु यदि वह विरोध और आलोचना का मुँह बन्द कर देगी तो अपनेको निरंकुश बना लेगी। यह निरंकुशता अधिनायकत्व का रूप ग्रहण कर लेगी, फिर तो कभी न कभी उसके विरुद्ध विद्रोहका बिस्फोट हुए बिना नहीं रह सकता। अनियन्त्रित अधिकार ऋषितुल्य मनुष्यको भी खराब कर देता है। समाजवादी व्यवस्थाके रहते हुए शासन का क्या रूप होना चाहिये, इसका विस्तृत विचार मैंने अपनी पुस्तक व्यक्ति और राजमें किया है।

यह मानना होगा कि जो सरकार इस प्रकार स्थापित होगी वह आरम्भ में वर्गहीन नहीं होगी। हम यह नहीं भूल सकते कि भारत परतन्त्र देश है। यहाँ हमको सबसे पहिले विदेशी शासकों से छुटकारा पाना है। यह काम मुट्ठी भर श्रमिक नहीं कर सकते। और बातों में मतभेद और हितभेद होते हुए भी सभी वर्ग विदेशी शासन का अन्त देखना चाहते हैं। सबकी क्रान्तिकारी शक्ति बराबर नहीं है परन्तु कुछ न कुछ सहायता सबसे ही मिलेगी। किसी की उपेक्षा नहींकी जा सकती क्योंकि जो हमारे साथ न होगा वह विदेशी शत्रु का साथी होगा। जब सबके सम्मिलित उद्योगसे स्वाधीनता प्राप्त होगी तो फिर एक बार उस स्वाधीनता का फल भी सब ही भोगेंगे, भावी सरकारमें सब ही सम्मिलित होंगे यह स्मरण रखना चाहिये कि जब मैं 'सब' शब्दका प्रयोग करता हूँ तो उसमें राजा, नवाब और बड़े जमीनदारोंको नहीं गिनता। यह लोग स्वतन्त्रताके आन्दोलन में सम्मिलित नहीं हो सकते। पूँजीपति साथ दे सकते हैं। पूँजीपतिका बेटा भी पूँजीपति होता है फिर भी धनिक बननेका, पूँजी बटोरनेका, द्वार दूसरेके लिये बन्द नहीं है। पूँजीपति जमीनदार और राजा नवाबकी भाँति पैतृक प्रणालीका समर्थक नहीं होता। वह शिक्षाका पक्षपाती होता है और लोकतन्त्रका शासन पसन्द करता है। इसलिए वह प्रतिगामी शक्तियोंका साथ नहीं देता। पराधीनता के कारण इसके वाणिज्य व्यवसायकी प्रगति भी रुकी हुई है। जमीनदारों और राजा नवाबोंकी तो विदेशी सरकार रक्षक है परन्तु भारतीय पूँजीपतियोंके मार्गका कांटा हो रही है। फलतः हमारे यहाँ जो राजनीतिक आन्दोलन होगा उसमें प्रधानतया तो निम्न मध्यम वर्ग—अध्यापक, वकील, डाक्टर, दफ्तरोंमें काम करने वाले, किसान, छोटे व्यापारी–भाग

लेगा और श्रमिक भाग लेंगे पर कुछ हद तक पूँजीपति भी साथ देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि आरम्भ में जो लोकतन्त्रात्मक शासन होगा उसपर मुख्यतः निम्न मध्यम वर्गका अधिक प्रभाव होगा। इस वर्गका झुकाव समाजवादकी ओर स्वभावतः होता है। यदि अभी से भारतीय समाजवादी प्रयत्न करें तो इस वर्ग में समाजवादी विचारोंका प्रचार कर सकते हैं और इस बात की नींव डाल सकते हैं कि स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रीय सरकार और धारासभामें समाजवादी विचारवालोंका ही बाहुल्य हो। इस दशा में सर्वहारा वर्गका अधिनायकत्व तो नहीं होगा परन्तु सब बातोंको मिलाकर देशकी व्यवस्था रूससे कम समाजवादी न होगी। इसके आगे बढ़कर वह समष्टिवादकी सीढ़ी तक जायगी या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। वहाँ तक पहुँचना या न पहुँचना कुछ तो इस बात पर निर्भर करेगा कि पृथ्वीके दूसरे देश किधर जाते हैं और बहुत कुछ इस बातपर कि हम समाजवादके शुद्ध मार्क्सवादी रूपको अङ्गीकार करते हैं या उसके दार्शनिक आधारों और दूसरे सिद्धान्तोंमें कुछ परिवर्तन करते हैं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि पूँजीशाही मानवसमाजकी सुख-समृद्धि, शान्ति और संस्कृतिके लिए घातक है और उसका उन्मूलन होना चाहिये। जब तक शोषक और शोषित वर्ग रहेंगे अर्थात जबतक शोषण होगा तबतक कलह, दासता और अशान्ति बनी रहेगी। इसलिए इस प्रकारका वर्गभेद मिटाना चाहिये। उसी समाजमें समुचित उन्नति हो सकती है जिसमें सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था समाजवादी ढंग पर हो। इतना ही नहीं, यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र-राष्ट्रकी प्रतियोगिताका स्थान अन्ता-राष्ट्रिय सहयोग लें और यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक राष्ट्र

अपने यहाँ पूँजीशाहीको दबा चुका हो और प्रकृतिकी दी हुई कृषिज और खनिज सामग्रीका उपयोग थोड़ेसे व्यक्तियोंके लाभके लिए नहीं वरन् मनुष्यमात्रके भलेके लिए किया जाय। मैं ऐसा भी मानता हूँ कि अनुकूल स्थिति आनेपर समाजवादी व्यवस्थाको स्थापित करनेके लिए क्रान्तिमय उपायोंसे काम लेना भी अनुचित नहीं है। हिंसा-अहिंसाका प्रश्न यहाँ स्वतन्त्र रूपसे नहीं उठता। यह व्यापक प्रश्न है। यदि राजनीतिक कार्य्यक्षेत्रसे हिंसाका बहिष्कार हो जाय तो समाजवादी भी उससे काम नहीं ले सकता; अन्यथा जब तक सरकारोंके लिए हिंसासे काम लेना वैध माना जायगा तबतक उसके विरुद्ध आन्दोलन करनेवालोंका भी ऐसा करना क्षम्य होगा। अधिकार प्राप्त करने पर समाजवादी क्रान्तिकारियोंको लोकतंत्रमूलक शासनव्यवस्था कायम करनी चाहिये और उसीके द्वारा अपने विचारोंको कार्य्यान्वित करना चाहिये। यह निर्विवाद है कि जिस सरकारके रहते पूँजीशाही और जमीनदारी प्रथाएँ रह जायँ वह समाजवादी सरकार नहीं कहला सकती।

परन्तु कार्य्यशैलीके पीछे वह दार्शनिक विचार होते हैं जिनके आधार पर वह खड़ी की जाती है। प्रत्येक कार्य्यका कोई न कोई उद्देश्य होता है। दर्शन शास्त्र हमको मनुष्यका पुरुषार्थ, उसके जीवनका परम लक्ष्य, पहिचनवाता है। साध्यके अनुकूल ही साधन होता है। जैसा लक्ष्य सामने होगा वैसी ही कार्य्यशैली चुनी जायगी।

मेरा मतभेद समाजवादकी दार्शनिक विचारधारासे है। द्वैतवादी दर्शन जगत्की आध्यात्मिक, राजनीतिक, भौतिक, बौद्धिक, साम्प्रदायिक और सामाजिक समस्याओंको सुलझा नहीं सकते, यह काम तो कोई अद्वैतवादी दर्शन ही कर सकता है। मार्क्सवादी दर्शन अद्वैतमूलक है। यह उसकी अच्छाई है।

परन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस मूलतत्व मैटर-प्रधान-को प्रतिपादित करता है वह जड़ है। इसी जड़ पदार्थ से चेतना का विकास हुआ। बाहर परिस्थितियोंने उन गुणोंका प्रादुर्भाव कराया है जिनको हम सद्गुण कहते हैं और मनुष्यता की शोभा मानते हैं। चेतनाविशिष्ट प्रधानको ही हम आत्मा कहते हैं। मृत्युके समय चेतनाका लोप हो जाता है और आत्मा विनष्ट हो जाती है। इसलिए मार्क्सवादी के सामने व्यक्ति और समाज के ऐहिक जीवन की सुव्यवस्थाका ही लक्ष्य है। वह किसी अन्य जीवन की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता।

मैं ऐसा मानता हूँ कि जगत्का मूल एक अद्वय चिन्मय पदार्थ है। इसे वेदान्तके आचार्य्य ब्रह्म कहते हैं। यह चेतन ईश्वरसे भी परे और सूक्ष्म है। मायाके द्वारा वह ईश्वर और फिर क्रमशः प्रत्यगात्मा और उस जड़ पदार्थके रूपमें अभिव्यक्त होता है जिसको सांख्याचार्य्य प्रधान कहते हैं। इसके स्वरूपको ठीक ठीक न पहिचानते हुए मार्क्सवाद इसीको मैटर कहता है। इसीसे अन्तःकरणका, इन्द्रियोंका और भौतिक जगत्का विकास हुआ है। विकासक्रम सांख्यकी पुस्तकोंमें दिया हुआ है, मैंने भी भारतीय सृष्टिक्रम विचार तथा चिद्विलासमें उसके कुछ अंशोंपर विचार किया है। इस विकासक्रमका विस्तार विज्ञानका विषय है और सभी दार्शनिकवाद इस सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंके कथनोंको माननेके लिए बाध्य हैं।

भौतिक बन्धनमें पड़ी हुई भी आत्मा अपने स्वरूपसे पृथक् नहीं हो सकती। वह स्वरूप चाहे कितना भी आवृत हो परन्तु मिट नहीं सकता। आत्मा निरन्तर बन्धनोंको तोड़कर अपने उस स्वरूपमें स्थित होना चाहती है। प्रत्येक आत्माका यही प्रयास है, इसीलिए अज्ञानवशात् सब आपसमें टकराते

हैं। सबका लक्ष्य एक ही है और बिना एक दूसरेके मार्गमें बाधा डाले सब उसको प्राप्त कर सकते हैं पर अविद्याके कारण एक दूसरेके मार्गके कण्टक बन जाते हैं। हमारा प्रत्येक काम दो शक्तियोंके संघर्षका परिणाम है, जीवका स्वतन्त्र होनेका प्रयास और बाहरी परिस्थिति। जीवनके प्रयासके दो अवयव हैं, आत्माका चैतन्य स्वरूप और उसमें पुनः स्थिति होनेकी ओर झुकाव तथा पिछली अनुभूतियोंसे रञ्जित बुद्धि। पिछली अनुभूतियोंमें वह सब प्रभाव अन्तर्गत हैं जो इस शरीरमें तथा शरीरान्तरमें प्रकृति और दूसरे जीवोंसे टकरानेसे उसपर पड़े हैं। बाहरी परिस्थितियोंके भी दो अंश हैं। एक तो प्राकृतिक दृग्विपय, कल-पुर्जे तथा अन्य जड़वस्तु, दूसरे अन्य जीव और उनके विचार और व्यवहार। बस इन्हीं शक्तियोंके संघर्षसे जगत्की प्रगति होती रहती है। जो मनुष्य समाजकी गतिविधिका अध्ययन करना चाहता हो और उसमें सुधार करना चाहता हो उसको आचार, विचार, कानून, शिक्षण, सामाजिक सङ्गठन, शासनपद्धति, आर्थिक व्यवस्था, सभी बातों पर ध्यान देना होगा। आर्थिक व्यवस्थाका महत्व बहुत बड़ा है, पर उसीको सब कुछ नहीं माना जा सकता। जो लोग सामूहिक जीवनके नियन्त्रण करनेवाले हैं उनको यह बात ध्यानमें रखनी होगी कि उनको ऐसे प्राणियोंके लिए प्रबन्ध करना है जिनके व्यक्तित्वका आधार एक नित्य चेतन पदार्थ है और जो अपनी अनुभूतियोंका संस्कार मरने पर भी अपने साथ ले जायँगे।

यह अधिकरण मेरे दार्शनिक विचारोंकी व्याख्याके लिए नहीं लिखा गया है। परन्तु इससे इतना तो पता चल सकता है कि मैं व्यवहारिक समाजवादको अद्वैत वेदान्तकी भित्तिपर खड़ा

करना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि समाजवादका जो सार अंश है उसका शांकर अद्वैतवादके साथ अच्छी तरह समन्वय हो सकता है। जगतके मूलमें जड़ पदार्थको माननेसे उससे चेतनका विकास, मनुष्योंमें सद्गुणोंका समुदय, स्वार्थबुद्धिके ऊपर परार्थबुद्धिका उत्कर्ष, जैसी बातें ठीक ठीक समझमें नहीं आतीं और न मानव जीवनके लक्ष्यका सन्तोषजनक स्वरूप ही स्थिर होता है। अध्यात्ममूलक समाजवाद मनुष्य समाजके कल्याणका उत्कृष्ट साधन है। मेरा विश्वास है कि वही हमको विशुद्ध समष्टिवादी व्यवस्थाकी ओर ले जा सकता है और मानव जगतको मनुष्यसमाज बना सकता है।

ग्रंथमें जिन पुस्तकोंका संकेत हुआ है, उनकी नामावली

रावर्ट ब्रिफोल्ट रचित ब्रेकडाउन

भगवान दास ,, एशेण्ट वर्सस मार्डन साएण्टिफ़िक सोशलिज्म

एंगेल्स ,, ऐण्टि ड्यूरिंग

,, ,, ओरिजिन आफ़ दि फैमिली प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड दि स्टेट

मार्क्स ,, कैपिटल

,, ,, क्रिटीक आफ़ दि गोथा प्रोग्राम

,, और एंगेल्स ,, दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो

लेनिन ,, दि स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन

,, ,, इम्पीरियलिज्म

,, ,, सेलेक्टेड वर्क्स

ट्राटस्की ,, हिस्टरी आव दि रशन रेवोल्यूशन

स्टालिन ,, प्राब्लेम्स आफ़ लेनिनिज्म

बोज़ाङ्केट ,, दि फ़िलोसॉफिकल थियरी आफ़ दि स्टेट

हॉबहाउस ,, दि मेटाफिजिकल थियरी आफ़ दि स्टेट

हॉब्स ,, लेविएथन

लास्की ,, दी ग्रामर आव पॉलिटिक्स

क्रोपाट्किन ,, मीमॉएर्स आव ए रेवोल्यूशनरी

फ्रीमैन और नियरिंग ,, डॉलर डिप्लोमैसी

डेलाइल बर्न्स ,, डेमॉक्रेसी
अहमद ,, दि ऐग्रिकल्चरल प्राब्लेम इन इण्डिया
वेल्स ,, दि शेप आफ़ थिंग्ज टु कम
बुखारिन आदि ,, मार्क्सिज्म ऐण्ड माडर्न थॉट
इलिन ,, मास्को हैज़ ए प्लैन
लेवी आदि ,, ऐस्पेक्ट्स आव डायलेक्टिक मेटीरियलिज्म
लेड्लर ,, हिस्टरी आव सोशलिस्ट थॉट
मसानी ,, सोशलिज्म रीकन्सिडर्ड
सम्पूर्णानन्द ,, व्यक्ति और राज
,, ,, चिद्विलास
,, ,, भारतीय सृष्टिक्रम विचार
ब्रजनारायण ,, मार्क्सिज्म इज़ डेड

पर्य्याय-सूची

(१) हिन्दी से अँग्रेजी

अध्यात्मवाद	आइडियलिज्म	(Idealism)
अर्घ	वैल्यू	(Value)
अतिरिक्तार्घ	सर्प्लस वैल्यू	(Surplus Value)
भोग्यार्घ	यूटीलिटी वैल्यू	(Utility Value)
विनिमयार्घ	एक्सचेञ्ज वैल्यू	(Exchange Value)
अराजकतावाद	अनार्किज़्म	(Anarchism)
दृश्यगत	ऑब्जेक्टिव	(Objective)
द्रष्टृगत	सब्जेक्टिव	(Subjective)
द्वन्द्व न्याय	डायलेक्टिक्स	(Dialectics)
द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद	डायलेक्टिकल मैटी-रियलिज्म	(Dialectical Material-ism)
पण्य	कमोडिटी	(Commodity)
प्रजनक धन	फंक्शनल वेल्थ	(Functional Wealth)
प्रतिवाद	एंटीथीसिस	(Anti-thesis)
परिमापन	रैशनिंग	(Rationing)
पूंजी	कैपिटल	(Capital)
पूंजीवाद	कैपिटलिज्म	(Capitalism)
पूंजीशाही	कैपिटलिज्म	(Capitalism)
बौद्धिक संयमन	रैशनलाइज़ेशन	(Rationalization)
मज़दूरी	वेजेज़	(Wages)
मध्यमवर्ग	बूर्जाज़ी	(Bourgeoisie)
मात्राभेदसे गुणभेद	चेंजिंग आफ़ क्वांटिटी इण्टु क्वालिटी.	(Changing of quan-tity into quality)

मूल्य	प्राइस	(Price)
युक्तवाद	सिन्थेसिस	(Synthesis)
राज	दि स्टेट	(The state)
राष्ट्रवाद	नेशनलिज्म	(Nationalism)
वर्ग	क्लास	(Class)
वर्ग-चेतना	क्लास कांशसनेस	(Class-consciousness
वर्गसंघर्ष	क्लास वार	(Class War)
वस्तुवाद	रियलिज्म	(Realism)
वाद	थीसिस	(Thesis)
विपरिणाम	नेगेशन	(Negation)
विपरिणामका वि-परिणाम	नेगेशन आफ़दी नेगेशन	(Negation of the negation)
विपरीत समवाय	इंटरपेनिट्रेशन आफ़ कण्ट्राडिक्टरीज़	(Interpenetration of contradictories)
व्यष्टिवाद	इंडिविजुअलिज्म	(Individualism)
शोषण	एक्सप्लॉइटेशन	(Exploitation)
श्रमकाल	लेबर-टाइम	(Labour-time)
श्रमशक्ति	लेबर-पावर	(Labour-Power)
समष्टिवाद	कम्यूनिज्म	(Communism)
समाज	सोसायटी	(Society)
समाजवाद	सोशलिज्म	(Socialism)
उत्तरकौरवसमाजवाद	यूटोपियन सोशलिज्म	(Utopian Socialism)
सर्वहारा	प्रोलेटेरियन	(Proletarian)
संकट	क्राइसिस	(Crisis)
सम्प्रदाय	रिलिजन	(Religion)
सामन्तशाही	फ्यूडलिज्म	(Feudalism)

साम्राज्यवाद	इम्पीरियलिज्म	(Imperialism)
साम्राज्यशाही	इम्पीरियलिज्म	(Imperialism)
स्वगत उच्छेदक	इनरकंट्राडिक्शन	(Inner Contradiction)
स्वच्छन्दता नीति	लेसे फेयर	(Laissez faire)
पूग	गिल्ड	(Guild)
फेबिअनवाद	फेबिअनिज्म	(Fabianism)
राजायत्त समाजवाद	स्टेट सोशलिज्म	(State Socialism)